साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक सौन्दर्य

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक:
प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र

प्रस्तुतकर्त्ता:
श्रीप्रकाश शुक्ल

हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

1999

अनुक्रम

भूमिका - i-v

अध्याय 1- **लोक तत्व और लोक सौन्दर्य-** **1-98**

1. लोक के बारे में विद्वानो के विचार
2. लोकतत्व
3. सौन्दर्य के बारे मे विद्वानों के विचार
4. सौन्दर्य तत्व
5. लोक सौन्दर्य

अध्याय 2- **हिन्दी काव्य और लोक धर्मिता-** **99-188**

1. आदि कालीन संदर्भ
2. भक्ति कालीन संदर्भ
3. रीति कालीन संदर्भ
4. आधुनिक कालीन संदर्भ

अध्याय 3- **साठोत्तरी हिन्दी कविता की अवधारणा-** **189-239**

1. साठोत्तरी कविता की अवधारणा
2. परिवेश और विचारधारा
3. विखण्डित मूल्य दृष्टि
4. प्रतिबद्धता बनाम सम्बद्धता - लोक तत्वों का रचनात्मक उपयोग

अध्याय 4- **साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक सौन्दर्य** **240-377**

क. प्रवृत्तिगत विशेषताएँ

ख. प्रतिनिधि कवि

अध्याय 5- **भाषायी एवं शिल्पगत परिवर्तन** **378-413**

अध्याय 6- **उपसंहार** **414-417**

अध्याय -1

लोक तत्व और लोक सौन्दर्य

1- लोक के बारे में विद्वानों के विचार-

'लोक' शब्द पहले से ही व्यापक अर्थ देने वाला रहा है और इसका सीधा और सामान्य कारण इसकी अपनी आंतरिक गतिशीलता ही है। वस्तुत: लोक जड़ता के विरुद्ध गति का विद्रोह ही है, और इस रूप में यह गतिशील है। इसकी यह गतिशीलता भी स्वत: स्फूर्त है, जिसके कारण इसके अपने भीतर ही अंतर्निहित हैं। जो बाह्य कारण हैं, वे तो इन्ही आंतरिक कारणों के विस्फोट ही हैं।

'लोक' का सीधा अर्थ प्रत्यक्ष होता है। वेद व्यास की 'शत साहस्री संहिता' मे भारतीय लोक जीवन के अनेक मार्मिक चित्र मिलते हैं और इसी में उन्होंने एक जगह लिखा है-

"प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नर:"

तब जाहिर है यह जीये गये यथार्थ पर आधारित मानवीय अनुभूतियों से जुड़ा रहता है और ये अनुभूतियाँ रचना में संवेदना को आधार बनाकर स्पंदित होती रहती है। 'लोक' का अर्थ कुछ विद्वान सीधे 'लोग' से लगाते हैं। *डा0 हरद्वारी लाल शर्मा* लिखते हैं- 'लोक' शब्द का लम्बा इतिहास है पर हमें इसके लिए जंगल में जाना अनिवार्य नहीं। यह वेदों से चलकर आया है और युगों की यात्रा में इसका अर्थ और रूप परिवर्तन हुआ है। कहीं इसका अर्थ 'स्थान' है, जैसे स्वर्ग-लोक, कहीं स्थानीय लोग, जैसे 'सुनि अपजस देहहिं मोहि लागू'। यही सम्राट अशोक द्वारा उत्कीर्ण शिलालेखों

मे 'सब्बो लोको' है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि 'लोक' का अर्थ 'लोग' है। पर प्रश्न उठता है 'कौन लोग'? और इस प्रश्न के साथ ही लोक शब्द की शक्ति का संकोच होता है और हम विशेषण के साथ कहते हैं, बड़े लोग, छोटे लोग, अमीर लोग, जर्मन लोग गरीब लोग। पर इस विशेषीकरण के बाद भी इसका मूल मन्तव्य बना रहता है- जर्मन लोग का मतलब सभी जर्मन, गरीब लोग का मतलब सभी गरीब। तब यह ठीक ही है जैसा डा0 हरद्वारी लाल शर्मा लिखते हैं कि 'सच पूछे तो लोक शब्द में इसकी बीज शक्ति और मूल मन्तव्य ही 'सब' है। वेदों में यह 'विश्व' का पर्याय भी है। जहाँ इसका अर्थ है 'बहु' और 'सर्व' और वहाॅ यह शब्द पहले विशेषण के रूप मे प्रयुक्त होता है जैसे विश्वानि भुवानि, विश्वानि दुरितानि, विश्वे देवा: (सारे भुवन, सारे पाप, सारे देवता। अंत में चलकर इसका अपना अर्थ हो गया विश्व = संसार, दुनिया।) विश्व का यही अखिल और अखण्ड रूप 'लोक' शब्द में झलकता है। (उप0)

अब यहाँ से पता चलता है कि 'लोक' का महत्व विश्व से भी बड़ा है। इसे प्रमाण और अधिकार के स्रोत के रूप मे स्वीकार किया गया। लोग क्या कहेगे? (लोक-मत), इसी तरह का है। 'हंस गवनि तुम नहिं बन जोगू/ सुनि अपजस देहहिं मोहि लोगू'। यह मानस में भगवान राम के मुँह से निकला सहज वचन है। स्वयं भवभूति ने उत्तर-रामचरितम् में राम को आर्दश शासक के रूप में चित्रित करते हुए उनसे कहलवाया है-

राज्यं, दयां च, सौख्यं च, यदि वा जानकीमपि।

आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।

(राज्य, सुख व दया, यहाँ तक कि सीता को भी लोक के आराधना हेतु छोडते हुए मुझे व्यथा न होगी)

इससे स्पष्ट है कि 'लोक' की संकल्पना में समानता का भाव मिलता है। यह

सामूहिक चेतना का स्रोत है। लोकतंत्र का मूल बीज यही लोक है।

अपनी इसी पुस्तक मे डा0 हरद्वारी लाल शर्मा लिखते हैं कि 'लोक के अर्थ मे भू-भाग का बहुत महत्व नही है। जिस लोक (लोगो) के साथ व्यक्ति अपने आपको भावात्मक और सामाजिक रूप से 'एकमएक' कर सकता है, वही उसका 'लोक' है। इग्लैण्ड, अमरीका अथवा किसी भी विदेश मे रहकर कोई भी भारतीय अपनी जाति, कुल, कुटुम्ब, प्रदेश व देश के साथ (कुछ अपवादो को छोड़कर) अनेक कड़ियों से जुड़ा रहता है।' (पृ0-13)

इसी से इसका भी संकेत मिलता है कि 'लोक' का अर्थ 'देखना' है और वह भी 'अपनेपन' के भाव से।

'लोक' के अध्ययन की दिशा में सबसे पहले पश्चिमी विद्वानों का ध्यान गया जहाँ पहले इस अध्ययन को "पापुलर एण्टी क्वीटीज" के नाम से जाना जाता था। पश्चिम में यह लोक 'Folk' था, जो Civilized Society से इतर था और इन दोनों के बीच कही से भी कोई सम्पर्क नहीं माना जाता था। लोक से जुड़े जो भी अध्ययन होते थे, वे आदिम जाति के रूप मे ही होते थे। सन् 1846 में थामस महोदय ने इसका नाम 'फोक लोर' दिया।

Folk शब्द एंग्लो-सेक्सन शब्द Folc का विकसित रूप है, जो जर्मन मे Volk हो गया है। Volk का अर्थ है- 'किसी सभ्यता से दूर रहने वाली पूरी जाति'। पर जब इसका अध्ययन किया गया, तब इसमे Lore शब्द जोड़ दिया गया जो एंग्लो-सेक्सन शब्द Lar से बना हुआ है जिसका अर्थ है- वह जो सीखा जाय। इस प्रकार 'फोकलोर' का अर्थ हुआ- असंस्कृत लोगों का ज्ञान।[1+]

इस रूप में लोक के अध्ययन (लोक साहित्य) में पाश्चात्य विद्वानों ने लोक को बहुत कुछ आदिम जातियों का आत्मकथात्मक उत्स ही माना है, और एक बड़ी सीमा

तक वह है भी, कितु इससे भी आगे बहुत कुछ है, जिसके बारे मे वे नही बोलते। वस्तु स्थिति तो यह है कि लोक मे जो विश्वास, परम्पराये, जादू-टोना और दैवी चमत्कार के गीत तथा वार्तायें हैं, थोडे बहुत परिवर्तन के साथ आधुनिक समाज मे भी प्रचलित है। स्वयं अग्रेजी के विद्वान टाइगलर और लैंग ने इसे प्रतिपादित किया है। फेअर के Golden Bough मे भी इसका उल्लेख मिलता है। यह सच है जिन्हे हम आज पौराणिक गाथायें, कथाये व लोक वार्तायें कहते हैं, उनमें मानव के सामाजिक व मानसिक विकास की प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है।

भारतीय मानस लोक की इन्हीं संभावनाओं की तलाश करता हुआ, 'लोक' को 'फोक' से अलग करता है और यह संस्कृत साहित्य से लेकर हिन्दी साहित्य तक मे देखा जा सकता है। यह बात गौरतलब है कि जहाँ पाश्चात्य साहित्य 'लोक' का अध्ययन एक पृथक अध्ययन के रूप में करता है, भारतीय साहित्य में आरम्भ से ही यह 'लोकजीवन' से जुड़ा हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि 'लोक' के आंतरिक स्वरूप को आरम्भ से ही स्पंदित होता माना गया है। यह पृथक नही, संयुक्त अध्ययन का विषय रहा है और यह अध्ययन सदैव 'वेद' की तुलना मे किया गया है।

वेद व लोक का विभाजन भी 'पुरुषसूक्त' के पहले नही था, क्योकि श्रम विभाजन के पूर्व लोक व वेद में भेद नहीं था। पहला विभाजन श्रम विभाजन के कारण हुआ और दूसरा 'वाचिक परम्परा' से वेद को बचाने के लिए। इस रूप में यह सर्वविदित है कि लोक वेद के सापेक्ष माना गया है। इस कारण से 'लोक' की व्युत्पत्ति मे भारतीय विद्वानों के बीच काफी मतभेद है। एक वर्ग इसका सम्बन्ध "लोकृदर्शने" से मानता है, तो दूसरा 'रुक' या 'रोक' से (जिसका अर्थ चमकना होता है।) खैर मूल अर्थ चाहे जो हो, प्रयोगत: इसका प्रथम अर्थ 'स्थान' मिलता है और ऋग्वेद में यह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे 'स्थान-दो' के लिए 'देहि लोकम', बाद में तीन लोक,

चार लोक आदि। इसी के साथ वेद या शास्त्र से इतर के लिए भी लोक का प्रयोग होता है। उसी समय से 'लोके वेदे च' के रूप मे 'लोक' की एक सत्ता मानी गयी है।[2]

स्वयं गीता मे भी वेद से इतर लोक की सत्ता स्वीकार की गयी है। "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम"। प्राकृत व अपभ्रंश के 'लोक अप्पवाय' (लोक प्रवाद) व 'लोग जत्ता' (लोक यात्रा) शब्द भी उसी अर्थ की ओर संकेत करते हैं। यही अर्थ हिन्दी मे भी मिलता है। (सो जानब सत्सग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ- तुलसी)।[3]

इस रूप में हम देखते हैं कि लोक व वेद संस्कृत साहित्य में एक साथ मिलते हैं जिन्हे हम लोक व शिष्ट संस्कृति से सम्पृक्त हुआ मान सकते हैं। वस्तुत: इस अर्थ में लोक, वेद विरोधी न होकर वेद पूरक ही है और इसे (लोक को) एक और नया शास्त्र कहकर नहीं टाला जा सकता। लोक सम्पर्क के बिना सभी शास्त्र अधूरे हैं। लोक का अमृत-निष्पंद जिस शास्त्र में नही मिला, वह कितना ही पण्डिताऊ हो, निष्प्राण रहता है। जो शास्त्र लोक के साथ नही जुड़ा, वह बुद्धि का छलावा है।[4] इस तरह यह लोक सुविस्तृत है। स्वयं 'जैमिनीय उपनिषद' मे कहा गया है-

'बहु व्याहितो वा अयं। बहुशो लोक:। क एतद अस्य पुनरहितो अयात- जै0 उ0 ब्रा0 - 3/28

(यह लोक अनेक प्रकार से फैला हुआ है। प्रत्येक वस्तु मे यह प्रभूत है)

इस तरह हम पाते हैं कि लोक एक सतत परिवर्तनशील परिभाषाओ की अवधारणा है और यह अवधारणा समय के परिप्रेक्ष्य में नया स्वरूप ग्रहण करती जाती है, जिससे लोक के बदलते सन्दर्भ का पता चलता है। यह बदलता संदर्भ वस्तुत: लोकमन की अनुभूतियों से जुड़ा हुआ है और उनकी प्राथमिकताओं से भी। धीरे धीरे जो लोक, वेद व शास्त्र की तुलना में और उसके समानान्तर विकसित हो रहा था, बाद में शिष्ट

की तुलना मे अपना विकास किया क्योकि वर्गीय व्यवस्था के उदय के साथ वेद/शास्त्र ने 'शिष्ट' का स्वरूप ग्रहण किया और ऐसा इसलिए होता है, क्योकि 'लोक चितन' किसी भी प्रकार 'रीतिवाद' के विरुद्ध जाती है। *इसी कारण वह रूढ़ि नही, रूढ़ियो का अतिक्रमण है।*

हमारे हिन्दी के आचार्यो द्वारा लोक को अपने अपने ढंग से परिभाषित करने की कोशिश की गयी है जिसमें कुछ मे लोक को रूढिबद्ध ढंग से बताया गया है तो कुछ मे रूढ़ियो के अतिक्रमण के रूप मे। किन्तु जिसमे लोक को ग्रामीणता से सम्बद्ध करके व्याख्यापित किया गया है, उसमें भी लोक के गतिशील पक्ष को प्रकारांतर से माना गया है। वस्तुत: हमारे यहाँ आदिकाल स्वयं ही सस्कृत व प्राकृत काव्यो के प्रति विद्रोह था। अत: जहाँ तक हिन्दी की बात है तो उसकी अपनी परम्परा में लोक को संघर्षशील व विद्रोही के रूप मे ही आरम्भ से देखा गया है और सच तो यह है कि इसी विशेषता का विकास परवर्ती साहित्य मे मिलता है। आदिकाल, भक्तिकाल व आधुनिककाल का साहित्य इसका प्रमाण है।

कुछ परिभाषायें निम्नवत है-

डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी-

'लोक शब्द का आधार, जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरो और गावों में फैली वह समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं।' इसमें 'लोक' शब्द को पारंपरिक स्थान से मुक्त करके उसे मानवयुक्त किया गया है। जाहिर बात है कि यह मानव, एक चेतन प्राणी है, जिससे 'लोक चेतना', 'चेतन-लोक' का स्वरूप ग्रहण करती है। इससे स्पष्ट है कि यह चेतन-लोक, पुरातन की पुनरावृत्ति न कर, अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से नूतन को संरचित करता है। यह नूतन की संरचना

जन्य इच्छा ही इसे संघर्षमय व विद्रोही बनाती है। इस रूप में हिन्दी समाज का लोक उत्तरोत्तर मनुष्य केन्द्रित होता गया है जिसके फलस्वरूप लोक की सामूहिकता का पता चलता है। 'स्थान' को आधार बनाकर जो लोक 'समुदाय मात्र था, अब आगे 'मनुष्य' को आधार बनाकर यह 'सामूहिक' हो गया। सामूहिकता की इसी भावना के फलस्वरूप ही उसमें जागरुकता दिखायी पड़ती है। उसमे आत्म विश्वास आता है। उसमें नयी स्फूर्ति का संचार होता है। आज के लोक का यह ही नित्य लक्षण है। इसे अन्य विद्वानो की परिभाषाओं मे देखा जा सकता है।

डा0 बासुदेव शरण अग्रवाल-

"लोक का अध्ययन बुद्धि का कुतूहल नहीं है। इसे बस एक और नया शास्त्र कहकर नहीं टाला जा सकता। लोक के बिना अन्य सभी शास्त्र अधूरे हैं। जो ज्ञान लोक-हित के लिए नही है, वह अधूरा है, मानवी चिंतन का छूंछा फल है। जो शास्त्र लोक के साथ नही जुडा, वह बुद्धि का छलावा है....."

डा0 श्यामाचरण दुबे-

"कलाओं के उद्भव व विकास का पहला चरण लोक भावना और सामुदायिक चेतना से अनुप्राणित रहा। कला के सृजन व उपभोग दोनों में सामूहिकता स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती थी......" (सापेक्ष: लोक संस्कृति विशेषांक)

डा0 श्रीराम लाल

"लोक की सीमा केवल ग्रामीण या साधारण जनता तक नहीं है। ऐसा संकीर्ण

अर्थ तो बहुत बडी साहित्यिक ही नही, सामाजिक व सास्कृतिक भूल का द्योतक है, क्योकि समस्त चराचर मात्र मे लोक की समीचीन अलंकृति ही परम उपादेय एवं मागलिक है।" (भारतीय लोक संस्कृति की अध्यात्म भूमि: सम्मेलन पत्रिका विशेषांक)। इस रूप में "लोक जीवन मे समाज के स्तर पर समीकरण ही सस्कृति है और इस संस्कृति का काव्य के स्तर पर अभिव्यक्ति ही सौदर्य है।" यह बात और है कि भारत में इस संस्कृति की मूल भावभूमि अध्यात्म को स्वीकार किया गया है, जो धीरे-धीरे कम होता गया है। यह कमी ही, लोक को आधुनिक मनुष्य के निकट लाती है।

डा0 लक्ष्मीधर बाजपेयी-

"लोक का तात्पर्य सर्व साधारण जनता है। दीनहीन, दलित, शोषित, पतित, पीड़ित लोग तथा जंगली जातियाँ कोल, भील, संथाल, गोंड, नाग, शक, हूण, किरात, पुक्कस, यवन, खस आदि सभी लोक समुदाय मिलकर लोक संज्ञा को प्राप्त होता है।" (भारतीय लोक संस्कृति का आधार : सम्मेलन पत्रिका विशेषांक) इसी क्रम मे वे आगे लिखते हैं कि ऊपर से अलग दीखने वाले इन सभी लोगों के बीच एक ऐसा सूत्र है जो सभी को जोड़ता है और वह है: भारतीय आध्यात्मवाद। यह आध्यात्मवाद ही धीरे धीरे परिवर्तित होकर मनुष्यता के धरातल पर आता है और यह आज से समय की विलक्षण विशेषता है।

डा0 रमेश कुन्तल मेघ-

"लोक जन समुदाय का वह भाग, किंवा जन समुदाय है, जो नागरिक संस्कृति से किंचित दूर होगा। उभरते हुए वर्गीय विभाजन के आधार पर मार्क्स-एंजेल्स ने बताया कि विभिन्न वर्गो और उनके स्वाभाविक अंतर्विरोध के कारण कला की प्रतिभा

को कुछ लोगो मे सीमित कर दिया गया तथा व्यापक तौर पर जनता की कलात्मक प्रतिभा को दबा दिया गया" (सापेक्ष: लोक संस्कृति विशेषांक)। अत: मेध जी के अनुसार यही से चंद व्यक्तियो की कलात्मक प्रतिभा बनाम जनता की कलात्मक भावना का विभेद होने लगा। यही से *लोक साहित्य* का आरम्भ होता है, जिसमे लोक कथाये, लोक गीत, मिथक, मुहावरे आदि आते हैं। इसके बाद *लोक व्यवहार* आते हैं, जो न साहित्य हैं, न कला। जैसे विश्वास, प्रथा, अंध विश्वास, कर्मकाण्ड आदि। अगला रूप *लोक कला* का है जैसे लोक नृत्य, लोक नाट्य आदि। आगे *लोक विज्ञान* है जैसे लोक विचार, जादू-टोना आदि। लोक व्यवहार, लोक कला, लोक विज्ञान, लोक संस्कृति के अन्तर्गत ही आते हैं।

इस रूप में हम देखते हैं कि लोक का संदर्भ लगातार बदलता रहा है और इसके परिणाम स्वरूप बीसवी शताब्दी तक आते आते नये सौन्दर्यबोध का उदय हो चुका था। यह है संघर्ष की प्रचण्ड सौन्दर्य प्रतीति जिसमे शहर व ग्राम, शिष्ट व लोक, पुराने व आधुनिक के अन्तर्विरोध प्रशमित होते जा रहे हैं और प्रकृति के ऊपर मनुष्य की दक्षता बढ़ती जा रही है। आज हमे नए सिरे से कथा मानको, क्रमांको, अभिप्रायो की आवश्यकता है जिसमें सौन्दर्यबोध तो होगा ही, किन्तु अंधविश्वास व सामंतीय सम्बन्ध नहीं होगा। यह ही लोक का आधुनिक परिदृश्य होगा।

लोक और समाजशास्त्रीय दृष्टि-

लोक की समाजशास्त्रीय दृष्टि वस्तुत: मार्क्सवादी दृष्टि से जुड़ी है, जिसमें द्वन्द्वात्मक पद्धति को महत्व दिया गया है। लोक की इतिहासवादी दृष्टि (लोक चेतनावादी) इसे द्वन्द्वात्मक नहीं मानती। वस्तुत: मार्क्सवाद लोक व शास्त्र के बीच द्वन्द मानकर चलता है और स्वयं डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कहना है। इस दृष्टि विचार करने

पर लोक का गतिशील पक्ष उभरकर सामने आता है। इसे हम हिन्दी साहित्य मे आदिकाल, विद्यापति, जायसी, सूर कबीर, तुलसी आदि मे देख सकते हैं, जो लोक जीवन से अधिक परिचित थे। डा0 राम विलास शर्मा भी लोक-शास्त्र के बीच इसी द्वन्दात्मक रिश्ते की बात करते हैं और इसका कारण यही है कि लोक चेतनावादी (इतिहास दृष्टि) इतिहासकारो की तुलना में लोक का ज्ञान रचनाकारो को अधिक है।

यूँ तो वर्ण और वर्ग विरोधी मन्तव्यो से भरे इतिहास में लोक के निरंतर टूटने और फिर से उसके नये रूपो मे जुडने का क्रम आदिकाल से आज तक बराबर मिलता रहा है, किन्तु इतिहास के किसी भी दौर में यह द्वन्दहीन नहीं रहा है और लोक-द्वन्द के मूल हमेशा ही वर्गीय रहे हैं। अत: मर्यादा के नाम पर, प्रजाहित के नाम पर इस लोक के द्वन्द की वर्गीय पहचान को मिटा देने की कोशिश हमेशा होती रही है। यह दूसरी बात है कि इसे मिटाया नही जा सका, चाहे वे इतिहास दृष्टि सम्पन्न विद्वान ही क्यो न हो। *राजेश्वर सक्सेना* ठीक कहते हैं कि 'भारत के इतिहास में चाहे आदि मानव की सांस्कृतिक पहचान का प्रश्न हो, या वैदिक संस्कृति के विकास का, चाहे बौद्ध और इस्लामिक संस्कृति के प्रतिपक्षों की ठोस भूमिका का सम्बन्ध हो, या फिर आधुनिक युग में साम्राज्यवादी अंग्रेजी की पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव का, इन सभी दौरो में लोक संघर्ष की जातीय परम्परा अविच्छिन्न रही है। भारत के इतिहास में लोकबद्ध संघर्ष की एक महान सांस्कृतिक परम्परा रही है और इसे आदिम जादू से लेकर परवर्ती युगों के धार्मिक मतमतान्तरों, भक्ति, योग और तन्त्र की हर पद्धति व साधना में देखा जा सकता है। इन सभी मे लोक की अंतश्चेतना ध्वनित होती है।[5]

इस रूप में हम कह सकते हैं कि आधुनिक समय में लोक के नये माडल के विकास की जरूरत हैं। राजेश्वर सक्सेना ने ऊपर के ही लेख में आगे लिखा है कि

'आज के युग मे मध्य युग की सामंतवादी धार्मिक नैतिक विचारो पर टिके हुए लोक के माडल तथा उन्नीसवी शताब्दी के प्रबुद्धतावादी और उदारवादी विचारों पर टिके हुए लोक के माडल से काम नही चलेगा। जिस तरह से मध्ययुगीन चितन मे पनपने वाले लोक व धर्म की अंतरंगनिष्ठता का प्रतिपादन करने वाली बुनियादे अब खोखली हो चुकी है, उसी तरह आधुनिक युग मे लोक व विज्ञान की एकजुटता को साबित करने वाली अनेक बुजुर्आ विचारधाराये और पूँजीवादी प्रजातन्त्र की शैलियाँ भी एकदम बेमानी हो चुकी हैं। इन पूॅजीवादी शक्तियो ने सामन्तवादी मध्यकालीनता से एक काम चलाऊ किन्तु चालाकी भरा समझौता कर लिया है। पूँजीवाद की इस साजिश के चलते लोक का, लोक जीवन का नया माडल तैयार नही हो पा रहा है।... इस लोक के नये माडल के लिए जरूरी है कि धर्म को बाहर छोड़ दिया जाय..." (उप0)[6] इससे स्पष्ट है कि लोक का अधुनातम स्वरूप धर्म के सापेक्ष्य नही समझा जा सकता, क्योंकि वह रूढ़ नहीं है। वह सम्प्रदायग्रस्त भी नही है।

वस्तुत: ध्यान से देखने पर पता चलता है कि आज लोक की सामुदायिक भावना को तोड़ने, उसकी संवेदनाओ को नष्ट करने की कोशिश लगातार की जा रही है। तब 'लोक के विखण्डन की परिस्थिति में, लोक दर्शन की अवमानना में, लोक धर्म की निरर्थकता में ही व्यक्ति की निजता संस्कार पाने लगती है'[7] और यह लोक जीवन के विच्छिन्न होने का प्रमाण है। लेकिन यह भी सत्य है कि पूँजीवादी ताकतों की तमाम कोशिशों के बावजूद लोक जीवन अपना नैरंतर्य बनाये हुए हैं। यह भी सच है कि अब लोक का पारम्परिक अर्थ बदल चुका है। अपने आधुनिक अर्थ में लोक अब जनवाद का, समाजवादी जनवाद का द्योतक हो गया है। लोक के इस नये रूपांतरण को इतिहास के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नियमों से समझा जा सकता है।.... यह आधुनिक जनवाद भारत की कृषि संस्कृति को आगे बढ़ाता है, उसमें नये जमाने के द्वन्द भरता

है।[7] इस रूप में लोक जीवन के बदलते जो नवीन उपादान है, उससे लोक मन व लोक धर्म के बदले स्वरूप का पता चलता है। हमारे देश मे कृषि की व्यवस्था से लोक स्वरूप का निर्माण होता रहा है जिससे कृषि की बदलती व्यवस्था से निश्चय ही लोक मन में बदलाव आया है और इसे ठीक ठीक समझने की जरूरत है। इसी को आधार बनाकर *डा0 कमलेश दत्त त्रिपाठी* लिखते हैं कि 'लोक चित्रण ही लोकोन्मुखता नहीं है। लोक परकता लोक के ठोस यथार्थ को देखना और उसे निर्णायक भूमिका भी देना है।[8]

वास्तव मे यह तो एक विचारणीय प्रश्न है ही आज जब हम लोक-रक्षा की बात करते हैं, तो क्या इसका मतलब पिछड़ी हुई ग्राम संस्कृति की रक्षा की बात से है या कि इसका कोई खास मतलब होता है? लोक की रक्षा का सवाल यदि पुरानी परम्पराओं की रक्षा से ही है, तब तो परम्परा जीवंत, विकासमान नहीं हो सकती। अत: लोक रक्षा का सवाल लोक के गतिशील तत्वों की रक्षा से जुड़ा है, क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था के प्रभाव में आर्थिक ढांचों में परिवर्तन होने से सामाजिक संस्थाओ में बदलाव आया है और लोक के अध्ययन में इसका उल्लेख निश्चित होना चाहिए। इस रूप में लोक, 'जन' के निकट आ रहा है। इस रूप में आज का संक्रमण लोक संस्कृति से जन-संस्कृति की ओर है। इस ओर अपनी बात को स्पष्ट करते हुए *डा0 राजा राम भादू* लिखते हैं "लोक संस्कृति व्यापक संस्कृति के समानान्तर चलती रहती है और समाज सापेक्ष है। ब्रिटिशकाल में ही लोक समुदायों पर पड़ रहे भारी परिवर्तनों का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था और जैसे ही ब्रिटिश शासन के प्रति विरोध की भावना फैली, लोक संस्कृति में भी परिवर्तन आया। संथालों का विद्रोह, मुंडा विद्रोह आदि"।[9] *इससे स्पष्ट है कि संघर्ष, आधुनिक समय में लोक चेतना का प्रमुख अंग बन जाता है और यही सौंदर्य का कारण होता है।*

अत यह तो स्पष्ट है कि लोक का जन मे यह रूपातरण महत्वपूर्ण है, क्योकि यह जमाना 'मास कल्चर' का है, न कि "फोक-कल्चर" का। आज हमे नये सिरे से कथा मानको तथा उनके क्रमाको, नये कथाभिप्रायो की अनिवार्यता है। निस्सदेह इसमे लोक सौदर्यबोध का सामूहिक सामुदायिक चौखट होगा, कितु अधविश्वास व सामतीय सम्बन्ध विलीन हो जायेगे। आखिरकार लय, सगीत व कविता ही तो लोक सस्कृति का प्राण है। इसकी तरफ सकेत करते कार्ल बुशर ने "रिद्म" मे लिखा है- "लय-सगीत, कविता आदि मानव के श्रम से पैदा हुई। शारीरिक परिश्रम उस दिशा मे अत्यन्त आसान हो जाता था, जब कार्य एक लय के साथ किया जाता था। हाथ से सामूहिक रूप से काम करते समय शक्ति का एक सग्रहीत रूप उपस्थित करने के लिए उसे एक लय मे बाँधना जरूरी हो जाता था और इस प्रकार मास पेशियो के कार्य मे जब अधिकतम शक्ति लगने लगती थी, तो अपने आप एक स्वर फूट पडता था। इन स्वरो पर आदि मानव ने शब्दो का एक परदा चढा दिया और वह सगीत बन गया। इसके अतिरिक्त औजारो की धातुओ से टक्कर लगना और उनके स्वर का निकलना भी उसके लिए प्रेरणा का कारण बना। इसी तरह बहुत से औजार वाद्य यत्रो मे परिणत हो गये"[10] इस तरह लोक जीवन मे 'सौदर्यत्व' गहरे अनुस्यूत है।

इससे स्पष्ट होता है कि लोक मे व्याप्त यह सौन्दर्यबोध समय के साथ बदलता रहता है।

लोक और इतिहास दृष्टि-

लोक की इतिहास दृष्टि वास्तव मे लोक चेतनावादी दृष्टि ही है, जो लोक व शास्त्र के द्वन्द्वात्मक रिश्ते को नही मानती। यहाँ पर इतिहास दृष्टि से आशय लोक केन्द्रित इतिहास से है, जो मौखित साक्ष्यो को आधार बनाकर लोक के ऐतिहासिक

विकास क्रम को रेखाकित करना चाहती है।

आज वस्तुत इतिहास लेखन की एक नयी धारा का उन्मेष हुआ है, जिसमे 'इतिहासकारो का पूरा जोर इस बात पर नही होता कि किसी काल मे क्या घटा? अपितु यह जानने को इच्छुक होता है कि जब कोई घटना घट रही थी तब लोग उसके बारे मे क्या सोच तहे थे'[11] इसमे इस पर ध्यान दिया जाता है कि ये लोग कैसे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कराते थे। अब इनकी सख्या मे लगातार वृद्धि हो रही है। इस लोक चेतनावादी दृष्टि का विकास किन परिस्थितियो मे हुआ, यह जानना हमारे लिए बेहद रोचक है। वस्तुत 18वी शताब्दी के अत और उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे जब व्यापारी एव पूँजीवादी सभ्यता मे आदमी, जन का लोप होने लगा, तो यूरोप के बौद्धिको मे जन को खोजने का रुझान बढा। इस विंलुप्त हो रहे जन के लिए उन्होने सर्वप्रथम उसकी पारम्परिक लोकप्रिय सस्कृति को खोजने का अभियान चलाया जो इस सभ्यता मे लुप्त हो रही थी[12] और इस तरह लोक की अवधारणा का विकास हुआ। 1774 ई0 मे जे0 बी0 हर्डर ने 'फाक स्लाइड' (Volk slied) अर्थात 'फाकसाग' (लोकगीत) का प्रचलन किया। इस शताब्दी के अत तक लोक कथाओ के ही अर्थ मे थोडा उससे भिन्न 'फाक साज' (Volk-sage) शब्द का जन्म हुआ। 19 वी शताब्दी के प्रारम्भ मे जोसेफ गोरेस नामक पत्रकार ने 'फाकलोर' शब्द का जन्म हुआ। 1850 मे 'फाकस कासपोल' शब्द इसके लिए प्रयुक्त हुआ। विभिन्न यूरोपीय देशो मे इसी तरह की शब्दावलियो प्रचलित हुई (उपर्युक्त तथ्यो हेतु हम डा0 बद्री नारायण लोक सस्कृति एव इतिहास के ऋणी हैं)। यूरोप मे लोक प्रिय सस्कृति के प्रमुख सिद्धान्तकार जे0जी0 हर्डर ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि पुनर्जागरण के बाद के विश्व मे पुरानी कविता का नैतिक प्रभाव लोकगीत मे ही सुरक्षित है। इसके दूसरे बडे सिद्धान्तकार 'ग्रिम' ने 'लोकप्रिय सस्कृति' की सामुदायिकता के सिद्धान्त को स्थापित किया। इन दोनो के

प्रभाव मे यूरोप मे राष्ट्रीय लोकगीतो के सकलन पर सकलन निकलने लगे।

जाहिर सी बात है भारत मे भी इसका असर पडा। यहॉ इसका सकलन दो प्रवृत्तियो के कारण हुआ। पहला, औपनिवेशिक अधिकारियो द्वारा यहॉ के मानस को समझने के लिए, दूसरा यहाँ के कुछ कवियो द्वारा अपनी परम्परा की पहचान के लिए।

इस तरह से 'लोक' की अवधारणा का विकास सभव हुआ, जिसके आधार लोक चेतनावादी व सबाल्टर्न द्वारा इतिहास लेखन की बात भी की गई। डा0 अजय तिवारी ठीक लिखते है कि 'लोक सस्कृतिवाद भी भारत मे सबाल्टर्न की तरह पश्चिम से आया है। इतिहास निर्माण मे मौलिक योगदान की अभिलाषा से प्रेरित कुछ तरुण लेखक बौद्धिक समाज मे अपनी जगह बनाने हेतु इस ओर दौड चले है।'[13]

इस तरह से इतिहास लेखन की दिशा मे महत्वपूर्ण प्रयास किये जा रहे है। इससे इतिहास व साहित्य को एक दूसरे के निकट लाने मे मदद मिली है। इसके लिए किसी काल के साहित्य की मदद ली जा सकती है। जैसे मध्यकाल मे भारतीय जनजीवन। जब मध्ययुगीन भक्ति साहित्य, लोक के इतिहास के लिए प्राथमिक स्रोत के रूप मे लिया जा सकता है, तभी हम दरबारी इतिहास लेखन से मुक्त हो सकते है। इसके साथ ही लोक साहित्य के कतिपय रूपो का ध्यान भी रखा जा सकता है क्योकि इसमे अभिव्यक्त लोकमन, उसके वर्तमान मे भोगी गयी अनुभूतिपरक सहज और सशक्त अभिव्यक्ति होती है। आम आदमी तो लोकधर्मी परम्परा के दर्पण मे ही उस क्रूरतापूर्ण शोषण की जीवित तसवीर देखता है। इसके दो उदाहरण यहॉ पर दिये जा सकते है, जिसके लिए मै *प0 गुणसागर विद्यार्थी* का ऋणी हूँ।[14] एक है बुन्देलखण्ड का प्रसिद्ध लोक नृत्य, जिसमे सामन्ती शोषण का बडा ही मार्मिक चित्रण हुआ है-

'पिसी हती सो बिक गई, भुस लै गयो अदवार

टोटे मे टलवा गये, बाडी मे खगवार

जरीबाने मे लिख लो दोई जोबना।'

(कृषक मजदूर के श्रम सीकर से उपजा गेहूँ बिक गया, भूसा बॅटाई मे चला गया, घाटे मे गाय बैल भी कुरक हो गये, सूद व्याज मे पत्नी के जेवरात भी हजम कर लिये गये जब कुछ नही बचा, तो मजदूर कहता है कि मेरी पत्नी का गदराया यौवन लूटकर कर्ज वसूल ले)

दूसरा उदाहरण- बघेली लोकगीत है-

हमरी कैसे चुकत तिहाई।

मेडन मेडन हम फिर आये डीमा देत दिखाई।

छोटी छोटी बाल कढी है कूरा रहे फराई।

जमीदार को आव बुलौवा, को अब करै सहाई।

थलिमा, बछिया, साहुति लै लई, दै गई पास लुगाई।

(घर की थाली, कटोरी, गाय-बछिया आदि के चले जाने पर तिहाई चुकाने के लिए अब लुगाई का यौवन ही शेष रहा)

इससे स्पष्ट है कि सामती शोषण का अध्ययन करते हुए लोक की इतिहास दृष्टि को विकसित किया जा सकता है।

वास्तव मे लोक-साक्ष्य को आधार बनाकर लिखा गया इतिहास उससे अधिक प्रमाणिक होगा, जो शासक वर्ग द्वारा लिखा जाता है। इस सदर्भ मे *नर्मदा प्रसाद गुप्त* लिखते है।[15]

लोक साक्ष्य चार वर्गो मे उपलब्ध है।

1- मौखिक परम्परा मे जीवित जैसे लोक कथाएँ, लोक गीत, जनश्रुतियॉ, लोक गाथाये, मिथक, लोक कहावते आदि।

2- लिखित परम्परा मे सुरक्षित जैसे सनद, पटौ, पत्र हस्तलिखित ग्रथ।

3- उत्कीर्ण जैसे प्रस्तर, काष्ठ, ताम्रादि पर खोदे लेख, लोकमूर्तियॉ आदि।

4- चित्राकित जैसे गुहाओ मे, पुराने मदिरो मे, कपडे, चमडे, कागज आदि पर। अत इन लोक साक्ष्यो को आधार बनाकर इतिहास लिखे जाने की जरूरत है।

इस आधार पर लिखे गये इतिहास को साहित्य के निकट लाया जा सकता है। लोक साक्ष्यो मे, लोक साहित्य मे, या साहित्य मे उपस्थित विवरण को जब भी सजीव बनाया जायेगा, तब स्वाभाविक रूप से वह अतीत व वर्तमान के मध्य एक अनत वार्तालाप या सवाद स्थापित कर देगा[16]। इस सदर्भ मे होमर की रचना का जिक्र बार-बार किया जाता है कि यदि कोई भी व्यक्ति 'इलियड' को इतिहास की रचना मानकर पढता है, तो उसको इसमे अधिकाश बाते कल्पित लगने लगती है, किन्तु यदि इसका अध्ययन साहित्यिक कृति के रूप मे किया जाय तो वह ऐतिहासिक तथ्यो से परिपूर्ण, इतिहास ग्रथ लगता है। इसी को प्रसिद्ध इतिहासकार अर्नोल्ड टायनवी कहते है कि 'सभी इतिहास एक सीमा तक, इलियाद की भॉति है- सम्पूर्णता मे ऐतिहासिक नही हो सकते।[17] अत इतिहास व साहित्य समान जन्मा न होने के बाद भी, एक दूसरे के निकट खडे दिखाई देते है।

दरअसल आज सारा विवाद गैर-परम्परागत वास्तविक इतिहास लेखन से जुडा है और यह तभी सभव है जब उपेक्षित लोक मानस की स्मृतियॉ, किवदन्तियॉ, गीत, कथाये, मिथक और आख्यानो के रूप मे मौजूद लोक-सस्कृति के विविध रूपो, विशेषकर मौखिक स्रोतो की नयी सामग्री का भण्डार माना जाय। यूँ इससे जुडी दो इतिहास दृष्टि कार्य करती है- एक तो लोक सस्कृतिवादी जिसमे लोक सस्कृति के आधार पर राष्ट्रवाद के नये सॉचे को गढने की कोशिश की जाती है और दूसरी सबाल्टर्न जिसमे उपेक्षित जन समुदाय की स्मृतियो एव कार्य कलापो के आधार पर राष्ट्रवाद की चेष्टा

की जाती है। किन्तु ये दोनो आपस मे इतनी मिली है कि विभेद करना कठिन है। लोक सस्कृतिवादी व सबल्टर्न दोनो इतिहासकार सभी प्रकार की कुलीनतावादी स्थितियो को नकारकर लोक को सम्पूर्ण व स्वायत्त इकाई का रूप देते है, इसलिए उनकी इतिहास दृष्टि को उपाश्रयी दृष्टि कहा गया है।[18]

वैसे तो लोक चेतनावादी इतिहासकारो ने इतिहास के अध्यन की नई दृष्टि का विकास किया है जैसे रणजीत गुहा[19], ज्ञानेन्द्र पाण्डे[20] कितु इसके लिए कोई नया स्रोत इन लोगो ने नही तलाशा। इनके लेखन का आधार वही पुराने अभिजन स्रोत ही है। अपने इतिहास लेखन के सम्पूर्ण दर्शन मे लोक प्रिय सस्कृति की आवश्यकता महसूस करते हुए भी ये इतिहासकार अपनी लोक चेतनावादी दृष्टि का विकास नही कर पाये है, क्योकि रणजीत गुहा से लेकर ज्ञानेन्द्र पाण्डे तक तथा सुधीर चद्र से पार्था चटर्जी तक जितने भी अनुश्रुतिवादी है, वे पहले तो लोक साहित्य व शिष्ट साहित्य के सम्बन्ध को लेकर उलझते है, दूसरे इसमे कोई भी लिखित स्रोतो से अलग जाकर, उपेक्षित जनता के मौखिक स्रोतो से अपना इतिहास निर्माण नही करता।[21] अपने इसी लेख मे डा0 अजय तिवारी इन 'उपाश्रयी' इतिहास विदो का मजाक उडाते और मार्क्सवादी पद्धति के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते कहा है कि ये अध्ययन मार्क्सवाद से पलायन करने का सकेत करते आधुनिकतावाद की विखण्डन पद्धति के अधिक निकट है। उनके अनुसार 'मार्क्सवाद की द्वन्द्वात्मक पद्धति को ठुकराकर वे समाज मे साथ-साथ क्रियाशीलता विभिन्न वर्गो और समुदायो को एक दूसरे से मिलते टकराते नही देखते, बल्कि एक के विरोध मे दूसरे की गतिविधि को इतना चरम रूप देते है कि इतिहास प्रक्रिया का जटिल रूप धुँधला पड जाता है और अपनी सतही, सपाट दृष्टि को गूढ बनाने के लिए वे लोक चेतना के आदिम स्रोतो की ओर जाते है। इससे स्पष्ट है कि वे लोग, लोक व शास्त्र को परस्पर विरोधी मानते है और जैसा कि रणजीत गुहा कहते है-

'कुलीन वर्ग से स्वतत्र जनता अपने व्यवहार मे खुद ब खुद स्वत स्फूर्त ढग से जो योगदान करती है उसका अध्ययन इतिहास निर्माण मे सतुलन करने के लिए जरूरी है। (Subalturn studies खण्ड-1, पृ0 2, 3)।

पर लोक चेतनावादी सबाल्टर्न इतिहासकारो की सबसे बडी समस्या यह रही है कि एक ओर ये कुछ नया करने व देने के चक्कर मे मार्क्सवादी पद्धति से दूर जाते है और दूसरी ओर लोक सस्कृति का अध्ययन और उसका उपयोग कुलीन वर्ग द्वारा प्रदत्त साक्ष्यो के आधार पर करते है। लोक सस्कृति के तत्वो के आधार पर इतिहास गढने की इच्छा तो है किन्तु खतरा नही उठाना चाहते और इसीलिए द्वन्द्वात्मक पद्धति को तिलाजलि देते वे परस्पर विरोधी पद्धति को अपनाते है जिससे वे उसी सकट मे फॅस जाते है जिससे छुटकारा पाना चाहते है। वे अपनी पूर्व निर्मित मानसिकता को लोकर लोक के पास जाते है लेकिन लोक के अध्ययन हेतु अपेक्षित धैर्य उनमे नही होता। उनकी प्रतिज्ञाये जितनी पवित्र है, उनका परिचय उतना ही दारुण।[22] इससे एक बात तो स्पष्ट होती है कि साहित्य और इतिहास दोनो मे व्यक्ति जितना ही कुलीनतावादी जीवन दृष्टि के निकट होता है उतना ही उसके भीतर लोक के प्रति ललक का भाव दिखायी होता है। अत लोक चेतनावादी इतिहास दृष्टि के लिए सबसे जरूरी है- ऐसी जीवन दृष्टि।

लोक में देश व काल की अवधारणा-

लोक सस्कृति मे देश की अवधारणा जड न होकर गतिशील है और यह देश उनके अपने जुडाव की चेतना से निर्मित होता है। आरम्भ मे लोक सस्कृति का देश उसका अपना गाँव व चबूतरा होता था और उसके बाहर का सभी कुछ परदेश होता था। किन्तु इसका मतलब यह नही कि उनमे अलगाव था क्योकि लोक के आदर्श

मूल्य कई कई जगह एक जैसे होते थे। अत दूरी व अलगाव मे फर्क था। दूरी के बावजूद वे अपनी आतरिक निजता मे एक दूसरे से जुडे रहते थे और यही सच्चा लोक मानस था और इसी रूप मे समझा जाना चाहिए। इसी आधार पर आचार्य रामचद्र शुक्ल ने लिखा है कि ब्रज की गोपियाँ दिन-रात रो रोकर व्यर्थ ही ऑसू बहाती है। ब्रज जाकर रोज मिल सकती है। अत लोक के शाश्वत जीवन मूल्य और आकाक्षाएँ किन्ही सीमित क्षेत्रो की सीमाओ मे आबद्ध नही है[23]। यहॉ पर कोई जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गापिगरीयशी जैसा उच्च बौद्धिक सस्कृति की तरह का देशज मोह दिखलाई नही पडता, बल्कि 'सबै भूमि गोपाल की, यामे अटक रहा' की सार्वभौमिकता वाला भाव ही अधिक परिलक्षित होता है।[24]

स्वय लोक मे प्रचलित निम्न पक्तियो- 'जो प्रतिपाले सोई नरेशू' से भी इसी अवधारणा की प्राप्त होती है जिससे पता चलता है कि लोक मे अपने देश के प्रति आत्मीयता का भाव होते हुए भी उसमे क्षेत्रीयता का अभाव है। इस क्षेत्रीय उदारता के कारण लोक जीवन अपनी ढपली अपना राग के दोष से बचा रहता है और उदात्त मानवीय व नैतिक मूल्यो के कारण लोक सस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाली कुछ लोक गाथाये, लोक गीत, लोक कथाये एक से कठ से दूसरे, एक भाषा से दूसरी भाषा की यात्रा करते हुए देश के एक छोर से दूसरे छोर पर जाती रहती है। इसे दो उदाहरण से समझा जा सकता है- बुदेली गीत है जिसमे देवीजी की माला टूटने के पश्चात वे पटवा के यहॉ गूथाने के लिए जाती है और कहती है जो चाहिए ले लो, लेकिन मेरी माला गूँथ दो- तब पटवा की पत्नी कहती है-

दूध पूत मैया सब दै दीने

पटवै अमर कर जाव हो माय।

एक अवधी गीत मे भी माली की पत्नी देवी जी से ऐसा ही कहती है-

दूध पूत मैया सब दय दी है

मलिया कै अमर कर देवै।

इससे स्पष्ट है लोक जीवन की स्थानीयता अपनी स्थानीयता मे भी बहुव्यापी है। दरअसल डा0 सत्येन्द्र ने ठीक लिखा है- 'भारतवर्ष कहानियो का देश माना जाता है। ये लोक कहानियाँ प्राय समस्त भारत मे ही नही समस्त ससार मे व्याप्त है। जो ब्रज मे मिलती है वे बगाल मे, बुन्देलखण्ड मे ही नही, जर्मनी इटली आदि मे मिलती है।' उदाहरण के लिए जैसा कि डा0 दुर्गेश दीक्षित ने लिखा है- 'बुन्देलखण्ड की 'मित्रो की प्रीति' शीर्षक कहानी बगाल मे भी प्रचलित है 'सोने की चिडिया कहानी 'ग्रिम्स के फेरीटेल्स मे 'गोल्डेन बर्ड' के नाम से ज्यो की त्यो विद्यमान है। वैरियर एल्विन के सग्रह मे The Brave chıldren के नाम से जो कहानी दी गई है, वह बुन्देली कहानी 'काग-बिडास' से मिलती जुलती है।[25]

इस तरह हम देखते है कि 'लोक का देश' काफी व्यापक है। उसकी उदात्तता सर्व विद्यमान है।

अब जहाँ तक 'काल' की बात है, तो यह तो निश्चित है कि लोक जीवन मे पुरातन का मोह पाया जाता है। लेकिन इसका मतलब यह नही कि लोक नये का विरोध करता है। वह विरोध नही, बल्कि प्रतिक्रियाजन्य मूल्याकन अवश्य करता है और किसी भी नये को आसानी से स्वीकार नही करता। यह विरोध सर्जनात्मक है और गतिशील भी। डा0 कैलाश बिहारी द्विवेदी ठीक कहते है कि 'काल के प्रति लोक जीवन मे अवधारणा तो पुरातन के प्रति ही है, लेकिन लोक फलक पर काल यथार्थ के चित्रण भी खूब हुए है। इसमे जीवन का सघर्ष, अन्याय, पीडा, व कुण्ठा आदि को अभिव्यक्त करने वाले हजारो गीत है।[26] वे आगे इसी लेख मे लिखते है कि वर्तमान काल का लक्षण है- गति की तीव्रता। उसी तीव्रता से लय बद्ध होकर समाज भी तेजी से बदल

रहा है। गति की आपाधापी मे साधारण जनो को पीछे मुडकर देखने की फुर्सत नही है चुनावी जाल ने काल को इतना बली बना दिया है कि उसने लोक के ससृष्ट मन को खण्ड-खण्ड कर दिया है। लोक सस्कृति अब वैयक्तिक सस्कृति मे सिमट रही है और देश की अवधारणा अब सकुचित हो रही है। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान के दबाव मे लोक गतिशील है और अपने नये स्वरूप को पाने की कोशिश कर रहा है।

लोक, वेद और विज्ञान

सभी समाजो के पास 'वेद' होता है जिसे अ-पौरुषेय वाक्य, इलहामी कलाम, ईश्वर की वाणी कहते है जो सभी सदेहो से परे होता है और जिसे श्रद्धा व विश्वास के साथ स्वीकार कर लिया जाता है। सभी समाजो मे विज्ञान भी होता है जिसके आधार विचार व तर्क है। लोक, विज्ञान और वेद से पुराना है जैसाकि डा0 हरद्वारी लाल शर्मा लिखते है "लोक, विज्ञान और वेद की अपेक्षा पुराना तो है ही साथ साथ वह अधिक समर्थ भी होता है। इसके कई कारण है जैसे लोक परम्परा के बल चलता है और परम्परा का अर्थ है परिवर्तन की निरतरता। इसी परिवर्तन की क्षमता के कारण वह काल के झटके और धक्को को भी सह लेता है। हिन्दू लोक जीवन देखिये। महाभारत काल से लेकर आज तक न जाने कितने सम्पर्क विदेशी शक्तियो से हुए और न जाने कितने सास्कृतिक व ऐतिहासिक सकट इस पर आये। पर वे सब के सब लोक जीवन मे समा गये। इनसे यह अधिकाधिक सम्पन्न और समर्थ हो गया जिससे इसकी निरन्तरता बनी रही। यह परिवर्तन और निरन्तरता जिसका एक नाम परम्परा है, लोक जीवन का विधान है और इसकी शक्ति का अक्षय स्रोत भी।" (पृ0 247- लोक वार्ता विज्ञान-उ0प्र0 हिन्दी सस्थान 1990)

दूसरी ओर वेद का आधार श्रद्धा विश्वास है। जिससे इसमे लोक का लोच नही है। विज्ञान का आधार है विचार, जिसका आधार है 'सगति'। जो 'सगत' है, वह वैध है, सत्य है मान्य है। यानी यह भी कि जो असगत है, वह अमान्य है। इससे विज्ञान असगति व विसगति को नही पचा पाता। इन दोनो से अलग लोक है जिसमे सब कुछ के बचाने की सामर्थ्य है। इसी पुस्तक मे डा0 शर्मा लिखते है कि 'लोक की शक्ति का एक कारण यह भी है कि लोक देखता है, जबकि वेद व विज्ञान अधे होते है। जी हॉ, अधे।' (पृ0 249) लोक युग व यथार्थ को जानता पहचानता और मानता है। वह सम्पूर्ण मानवीय सत्यको स्वीकारता है, न कि अर्द्ध सत्य को। वर्तमान की भॉति भविष्य भी उसे प्यारा होता है क्योकि आशा लोक का सबल है। यह अखण्ड काल को स्वीकारता है। न तो अतीत (वेद) मे डूबा रहता है और न ही भावी (विज्ञान) की सभावनाओ मे खो जाता है। यह एक प्रकार की जीवन्त शक्ति व प्रक्रिया है। जिस कारण से यह वेद व विज्ञान दोनो को आत्मसात कर लेता है। ऐसा करके दोनो से ऊपर उठ जाता है। (पृ0 252 उप0)

लेकिन इसके साथ यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि लोक, वेद के प्रभाव से 'सनातन' से जुडता है और विज्ञान के प्रभाव मे आगे बढता है और अधिक से अधिक समृद्ध होता है। कही कही लोक व वेद का टक्कर भी होता है और लोक ही विजयी होता है। उदाहरण के लिए- पाकिस्तान इस्लामी देश है और इस्लाम के अनुसार मनुष्य का चित्र बनाना निषिद्ध है। दूसरी ओर चुनाव के लिए पहचान पत्र जरूरी और उसमे भी स्त्री का चित्र होगा, जोकि और भी निषिद्ध है। इसमे लोक का दबाव बावजूद सारे विरोध के बना रहेगा क्योकि चुनाव अर्थात् लोक मत की शक्ति से नही बचा जा सकता। (डा0 हरद्वारी लाल शर्मा पृ0 252- लोक-वार्त्ता विज्ञान) इस प्रकार लोक, वेद व विज्ञान दोनो से व्यापक है।

2- लोक तत्व

अभी तक यह स्पष्ट हो चुका है कि लोक के अवधारणा की व्याख्या ठीक उन्ही सदर्भो मे कठिन है, जिन सन्दर्भो मे 'फोक' को पश्चिम मे परिभाषित किया गया है। सस्कृत वाड्मय मे 'लोक' आदि बर्बर, असभ्य, अविकसित और अवैज्ञानिक समुदाय या वर्ग नही जिसका शास्त्र से कोई मतलब नही होता। इसके विपरीत 'लोक' व शास्त्र मे एक सतत् सम्वाद और आदान प्रदान का सम्बन्ध दीखता है। लोक का क्षेत्र प्रत्यक्ष और दृष्ट जागतिक जीवन ही है और 'लोकोन्मुखता' का अर्थ ही ऐसी शैली से है जिसमे *सवाद, सहजता, सामूहिकता, सप्रेषणीयता* के साथ *गतिमानता* भी हो, जिससे लोक मे स्थित सास्कृतिक परिवर्तन की सजीवता को पहचानकर इतिहास का स्वरूप प्रदान किया जा सके।

इस सन्दर्भ मे *राजेश्वर सक्सेना* ने अपने एक लेख मे लिखा है कि "आधुनिक विज्ञान और आधुनिक दर्शन की भौतिकवादी पद्धति से देखने पर 'लोक' (लोक तत्व/ लोक जीवन) मानवीय रूप और मानवीय चेतना के ऐतिहासिक विकास की बुनियादी अवस्थाओ को स्पष्ट करने वाला एक सवर्ग है। सास्कृतिक उत्पादन के स्रोतो, प्रकारो और उसके अगणित प्रारूपो की दृष्टि से यह लोक आदिम से आधुनिक तक बराबर प्रवहमान रहा है। यह परम्परा से कभी विछिन्न नही हुआ है, बल्कि इस लोक के द्वारा ही परम्परा को समय के मुताबिक नयी जिदगी मिलती रही है। इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन मे समस्त प्रकार के प्रयोगो और समस्त प्रकार की प्रगतियो के मानको का निर्धारण भी इसी लोक से होता रहा है।" [27] इससे स्पष्ट है कि लोक मानवीय जीवन का नियामक है और वह ऐतिहासिक विकास का नियमन भी करता रहता है। उसकी गतिशीलता समय के प्रवाहमे नये अर्थ पाती रहती है। इस प्रक्रिया मे पुराना कुछ छूटता है और नया कुछ आता है।

दरअसल सच बात तो यह है कि मानवीय अस्मिता तक लोकबद्ध है और जब कभी इससे मुक्ति का प्रयास किया जाता है परिणाम विपरीत ही होता है। लोक के विखण्डन की परिस्थितियो मे, लोक दर्शन की अवमानना मे, लोक धर्म की निरर्थकता मे व्यक्ति की निजता सस्कारहीन होने लगती है, क्योकि व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धो का नियामक यही लोक ही है। इसे भारत के इतिहास मे देखा जा सकता है जहॉ लोक बद्ध सघर्ष की एक महान सास्कृतिक परम्परा रही है और इसे आदिम जादू से लेकर परवर्ती युगो के धार्मिक मतमतान्तरो, भक्ति, योग वाले तत्र की हर साधना और पद्धति मे देखा जा सकता है। **सचमुच मानव की आत्मा के उन्नयन का यज्ञस्थल वह सक्रिय लोक है, जो अगाध तत्परता के साथ क्रियाशील रहते हुए, यथार्थ का अनुभव करते हुए, समय के अनुकूल विचारोत्तेजक चितन करते हुए सत्य की सार्वभौमिकता को व्यवहार से बॉधता चलता है।**[28]

इससे स्पष्ट है कि लोक जीवन इन्ही तत्वो से बनता है, न कि भदेसपन से और इसका सामाजिक, सास्कृतिक व नाट्य पक्ष होता है जिससे लोक तत्वो का निर्माण होता है। लोक तत्व, वस्तुत: लोक के उपादान कारण ही है, जिनसे लोक की निर्मित होती है। इसमे वे सभी तत्व अपनी भूमिका मे पाये जाते है जिनसे लोक सस्कृति का निर्माण होता है। सोफिया बर्न के इन शब्दो मे काफी सत्यता है कि सक्षेप मे लोक की मानसिक सम्पन्नता के अतर्गत जो भी वस्तु आ सकती है वह सभी इसके क्षेत्र मे है। यह किसान के हल की आकृति नही, जो फोकलोरिस्ट को अपनी ओर आकृष्ट करती है, कितु वह अनुष्ठान है जो किसान भूमि जोतते समय करता है। जाल या बशी की बनावट नहीं, वरन् वे टोटके है जो मछुआरा समुद्र पर करता है। पुल अथवा घर का निर्माण नहीं वरन् बलिदान है जो उसके बनाते समय किया जाता है।[29] अत: इस दृष्टि से 'लोक' में *कला, विश्वास* ओर *अनुष्ठान* तीनो आते है। कला का

आशय साहित्य से है जिसमे लोक गीत, लोक कथा, लोक नाट्य, अभिनय तथा नृत्य है। विश्वास के क्षेत्र मे विभिन्न जीवो, धर्म गाथाओ के चरित्र, भूत चुडैल आदि है। अनुष्ठान के अन्तर्गत वे कार्य आते है जो विभिन्न अवसरो पर बुरो को दबाने तथा अच्छो को प्रसन्न करने के लिए किये जाते है। इन सभी से लोक तत्वो का निर्माण होता है। इस रूप मे लोक सस्कृति के कारक तत्व ही लोक के तत्व माने जा सकते है और इन्ही की भावगत अभिव्यक्ति से काव्य मे लोक सौदर्य का निर्माण होता है।

अपनी पुस्तक हिन्दी भक्ति साहित्य मे लोक तत्व (भारतीय साहित्य मदिर दिल्ली-1965) मे रवीन्द्र भ्रमर ने लोक तत्वो पर व्यापक प्रकाश डाला है। इनके अनुसार भी लोक तत्वो से तात्पर्य लोक सस्कृति के विभिन्न तत्वो से है। लोक व लोक तत्वो के बारे मे *डा0 सत्येन्द्र* ने भी लिखा है- "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य सस्कार, शास्त्रीयता व पाण्डित्य चेतना के अहकार से शून्य होता है और जो एक परम्परा के प्रवाह मे जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति मे जो तत्व मिलते है, वे लोक तत्व कहलाते है"[30] इन सबसे यह स्पष्ट है कि लोक केवल गावो मे ही नहीं वरन् नगरो, जगलो, पहाडो और टापुओ मे भी बसा हुआ है और यह वह मानव समाज है जो अपने परम्पराजन्य रीति-रिवाजो और आदिम विश्वासो के प्रति आस्थाशील होने के कारण अशिक्षित या अल्पसख्यक समझा जाता है।

अत लोक-तत्वो पर विचार करने के लिए 'लोक सस्कृति' पर विचार करना जरूरी है। अग्रेजी मे लोक सस्कृति का पर्यायवाची 'फोक लोर' की व्याख्या W S Thomas ने सबसे पहले सन् 1846 ई0 मे 'सभ्य जातियो मे मिलने वाले असस्कृति समुदाओ की प्रथाओ एव रीति रिवाजो के परम्परागत ज्ञान के रूप मे की थी।[31] आरम्भ मे यह शब्द सामान्यत: लोक की लिखित या मौखिक परम्पराओ एव लोक मानस के सौंदर्यबोध से सम्बद्ध परम्परागत अभिव्यक्तियो तक ही सीमित रहा किन्तु बाद मे इसका

सीमा विस्तार हुआ। जैसाकि टी0 शिप्ले ने (Dictionary of world literary term, London 1955) ने लिखा है कि सभी प्रकार के लोक गीत, लोक कथाएँ, अध विश्वास, स्थानीय गाथाएँ, लोकोक्तियाँ और पहेलियाँ तक यह लोक फैला हुआ है। इसी व्यापकता को ध्यान मे रखकर J L Mish ने लिखा है 'ऐसे सभी प्राचीन विश्वास, परम्पराओ प्रथाओ का सम्पूर्ण योग, जो सभ्य समाज के अल्प शिक्षित लोगो के बीच आज तक प्रचलित है, फोकलोर है। इसकी परिधि मे परियो की कहानियॉ, लोकानुभूतियाँ, पुराण गाथाएँ, अध विश्वास, उत्सव रीतियॉ, परम्परागत खेल, लोकगीत प्रचलित कहावते, कला कौशल, लोक नृत्य और ऐसी सभी बाते सम्मिलित की जा सकती है। इसी तरह की बात करते श्रीमती सोफिया बर्न ने अपनी पुस्तक The handbook of Folklore मे लिखा है कि 'यह एक जाति बोधक शब्द के रूप मे प्रचलित हो गया है जिसके अन्तर्गत पिछडी जातियो मे प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियो के असस्कृति समुदायो मे अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियॉ, गीत अथवा कहावते आती है। प्रकृति के चेतन तथा जड जगत के सम्बन्ध मे आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र मे आते है। विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल, प्रौढ जीवन के रीति रिवाज, अनुष्ठान, युद्ध आखेट, पशु पालन आदि विषय भी है तथा धर्म गाथाये, लोक कहानियाँ, साके बैलेड, गीत, किवदतियाँ तथा लोरियॉ भी इसके अन्तर्गत समाहित है।[33]

तब इससे यह तो स्पष्ट ही है कि लोक सस्कृति के आधारभूत तत्व बडे व्यापक रहे हैं और इन्ही तत्वो के आधार पर लोक मानस का निर्माण होता रहा है। चूँकि सस्कृति का गुण ही गतिमयता है, अत इसके तत्व भी बदलते रहे है, जिसका मतलब इस सन्दर्भ मे इतना ही है कि कुछ पुराने तत्व महत्वहीन हो गये है और कुछ मे प्रभावजन्य परिवर्तन होता रहा है। इन्ही परिवर्तनो को रेखाकित करना आज हमारे

किए बेहद जरूरी है।

लोक सस्कृति के उपर्युक्त आधार पर सोफिय बर्न ने इसे तीन भागो मे विभाजित किया है-

1- लोक साहित्य

2- रीति-रिवाज

3- लोक विश्वास एव अध परम्पराये।

और कहा है कि इन्ही तीनो से लोक की मानसिक सम्पन्नता का पता चलता है। लोक सस्कृति का अध्ययन वस्तुत इन्ही तत्वो का अध्ययन है। इन्ही लोक-तत्वो से लोक चेतना का निर्माण होता है जो काल प्रवाह मे परिवर्तित होता रहता है। तब जाहिर है कि लोक सस्कृति के जो कारण तत्व होते है, उन्ही से लोक-तत्वो का निर्माण होता है। यह किसान के हल की आकृति नही है जो लोक सस्कृति के विद्वान को अपनी ओर आकर्षित करती है। प्रत्युत वे उपचार व अनुष्ठान है जिन्हे किसान हल को भूमि जोतते समय करता है, जाल या बशी की बनावट नही है बल्कि वे टोने-टोटके है, जिन्हे मछुआरा समुद्र के किनारे करता है। पुत्र अथवा किसी भवन का निर्माण नही है, प्रत्युत वह बलि है जो उसके निर्माण के समय दी जाती है[35]। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि लोक साहित्य के तत्व लोक गीत, लोक कथाएँ व लोक गाथाएँ, लोक नाट्य आदि न होकर वे कारण है जिनसे इसका निर्माण होता है, क्योकि उसी लोक-चेतना की अभिव्यक्ति इनमे होती रहती है। यही लोक अदाज भी है।

तब हम कह सकते है कि लोक चेतना का निर्माण दो रूपो मे होता है- पहला लोक वार्ता के रूपो मे अक्षरश., दूसरा- अपनी समय ही पीडाओ के साथ अशत । यह दूसरे प्रकार का प्रभाव ही लोक सौदर्य का निर्माण करता है क्योकि इसमे परम्परा व प्रभाव दोनो ही मौजूद है। यह प्रभाव भी समय के प्रवाह मे आर्थिक अधिक रहा

है क्योकि आरम्भ मे लोक सस्कृति मे राजनैतिक सामाजिक पक्ष ही उभर कर आता रहा है। इसी प्रभाव की अभिव्यक्ति कविता मे सौन्दर्य की उत्पत्ति करती है और लोक को 'जन' के निकट लाती है।

अब लोक तत्वो पर विचार करते हुए जरूरी है कि हम सक्षेप मे लोक सस्कृति के तत्वो पर विचार करे, क्योकि जैसा डा0 सत्येन्द्र ने लिखा है कि 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य सस्कार, शास्त्रीयता और पाडित्य की चेतना अथवा अहकार से शून्य होता है और जो एक परम्परा के प्रवाह मे जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति मे जो तत्व मिलते है, लोक-तत्व कहलाते है।

इससे स्पष्ट है कि लोकगीत, लोक गाथाएँ, लोक कथाएँ, कहावते, पहेलियाँ, सूक्तियॉ, बच्चो के गीत, खेल के गीत, आदि जिन तत्वो से बनते है, वे सब लोक तत्व के भीतर आते है। इसके अलावा रीति रिवाज व परम्पराओ के भी तत्व तथा लोक विश्वासो के भी तत्व इसके अतर्गत अतर्भुक्त है। उदाहरण के लिए-

लोक गीतों के निर्माण के पीछे जो कारक तत्व होते है वे ये है-

1- सस्कारो के गीत-जिसमे धर्म की प्रधानता होती है। (आस्था)

2- रसानुभूति की दृष्टि से भी लोक गीतो के तत्वो सस्कारो से ही जुडे रहते है जैसे सोहर, जनेऊ, विवाह, झूमर आदि के शृगार प्रधान गीत।

3- ऋतुओ व व्रतो से जुडे गीत (प्रकृति)

4- श्रम के गीत जैसे जँतसार व रोपनी के गीत।

लोक गाथा-

घर के सकुचित क्षेत्र मे जीवन की जिन अनुभूतियो का साक्षात्कार मनुष्य करता

है, उन्ही की झाँकी हमे लोक गीतो मे देखने को मिलती है, कितु लोक गाथाओ की परिधि व्यापक होती है क्योकि इसमे व्यक्ति व समाज के चित्रण मिलते है। इनके यहाँ जीवन का सघर्ष दिखलाई पडता है और प्रेम तक मे भी जीवन का सघर्ष मिलता है। तब इसमे भी कोई आश्चर्य नही कि आज जिस सघर्ष के सौदर्य तत्व की बात हम कहते है, उनका बीज रूप इन्ही लोक तत्वो मे सुरक्षित है, जो अपनी परम्परा मे शाश्वत है। इस प्रकार सघर्ष भी लोक का प्रधान तत्व है।

लोक कथा

लोक जीवन मे लोक कथाओ का गहरा प्रभाव है क्योकि इनकी सरसता से मानव हृदय प्रफुल्लित होता है। इन कथाओ मे निश्छलता का समावेश होता है, जिसमे कुछ आध्यात्मिकता का भी पुट रहता है। इसमे कुछ उपदेश मूलक (हितोपदेश, पचतत्र) कुछ व्रत सम्बन्धी (करवा चौथ, अनत चतुर्दशी), पौराणिक (गोपीचद, भरथरी) तो कुछ प्रेम मूलक व मनोरजन प्रधान होती है।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि आज की कविताओ मे जो कथा रूप आते है, उनका स्रोत इन्ही लोक कथाओ मे है। हाँ, आज इनमे भी सघर्ष मिलता है, जबकि लोक कथाओ मे ऐसा नही है क्योकि वे जिस समाज से आती हैं, वह अपेक्षाकृत सुखी समाज है। उसमे वर्ग-विभाजन नही है, क्योकि आर्थिक पक्षो तक इनकी दृष्टि जाती ही नहीं थी। किन्तु आज का सौदर्य भिन्न है, क्योकि सघर्ष मे सौदर्य आज की सबसे बडी माँग है।

लोक-नाट्य

नाटक मे गति, नृत्य व सगीत की त्रिवेणी प्रवाहित है। गीत के साथ सगीत

की योजना बडा आनद देती है और नाटक के ये तत्व हिन्दी कविता को शुरु से ही प्रभावित करते रहे है। इन नाटको का आधार भी पारिवारिक जन जीवन रहा है और इनमे विडम्बनामूलक सदर्भ की प्रस्तुतियाँ मिलती रहती है। इसे बिदेसिया नाटक मे देखा जा सकता है। आज की कविता मे नाटकीय विडम्बना जैसा तत्व इन्ही तत्वो से प्रभावित जान पडता है।

इसके अलावा *लोक सुभाषितानि* आदि है, जिनसे लोक तत्वो की व्यापकता का पता चलता है। अत ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हुआ है कि लोक तत्व, लोक सस्कृति के ही महत्वपूर्ण तत्व है जिनमे आस्था, प्रकृति, सघर्ष, आध्यात्मिकता, सामूहिकता, सरसता, कथातत्व, विडम्बनामूलक सदर्भ आदि का प्रचुर समावेश होता है।

लोक संस्कृति के समक्ष चुनौतियॉ

इस लोक सस्कृति के समक्ष आज कई चुनौतियाँ है और जाहिर तौर पर ये लोक-तत्वो की चुनौतियॉ भी है। आज हमारे सामने लोक सस्कृति रक्षण को लेकर दो स्थितियाँ है। पहला- यह कि क्या हम इस विकासमान समय मे उसी पुरानी परम्पराओ से चिपके रहे, दूसरा- यह कि इसमे कितना बदलाव लाये? जाहिर बात है उसमे बदलाव लाने की स्थिति मे इसे अपसस्कृति से भी रोकना होगा। आज सस्कृति शब्द स्वय ही वर्चस्ववाद का प्रतीक हो गया। इस रूप मे इसमे स्वय अपने भीतर सिमटने की प्रवृत्ति नजर आती है। आज लोक सस्कृति की त्रासदी यह है कि लोक के द्रुत रूपातरण की प्रक्रिया मे उसकी मौलिकता को बचाये रखना कठिन हो रहा है।[36] औद्योगिक समाज के बढते सास्कृतिक दबाव व लोक के विघटन के चलते अब वह बहुलोकप्रिय सस्कृति या अपसंस्कृति के द्वारा अपदस्त होती जा रही है। जीवन कर्म व सस्कृति कर्म के बीच निरंतर बढती दूरी को स्पष्ट करते इसी लेख मे वे लिखते है 'जीवन

पद्धति व जीवन दृष्टि मे विलगाव का कारण सभ्यता व सस्कृति के आधुनिक अतर्विरोध मे निहित है। पुरानी सभ्याओ मे यह नही था इस सभ्यता मे सास्कृतिक कर्म वस्तुत जीवन कर्म ही था। लोक सस्कृति के परिवर्धन और विकास का यथार्थ भी यही है। यह जान सकना कठिन है कि लोकजन गाते हुए कमा रहे है या कमाते हुए गान रहे है। किन्तु आज सामाजिक जीवन के सामूहिकता का क्षरण व व्यक्तिवाद के चलते आज की सभ्यता मे सस्कृति एक कृति के रूप मे दिखलाई पडती है।

इसी 'कृति' के कारण कर्मजन्य प्रवृत्ति कम हो गयी और सस्कृति की इयत्ता, कृति की महत्ता मे बदल गई। यह लोकवाद पर शास्त्रवाद का बढता प्रभाव ही है। पहले का 'कर्म केन्द्रित' स्वरूप अब 'कृति केन्द्रित' हो गया। इस कारण से आज सारा कार्य बनावटी ढग चल रहा है। आज सस्कृति कर्म बद कमरे मे प्रदर्शन मात्र बनकर रह गया है, जिसमे जीवन कर्म बिल्कुल ही नही है। आज लोक सस्कृति मे कर्म का उत्सव नही, उत्सव का कर्म है और यही बडा खतरा भी लोक जीवन के सामने है, क्योकि लोक जीवन से जुडी बहुत सारे कवियो की कविताएँ आज आ रही हैं, जिन्होने लोक जीवन को देखा ही नही। यह एक प्रकार से बुद्धि का कुतूहल है, जो व्यक्तिवाद का रूप ही है।

लोक का बदलता संदर्भ-

यह ध्यान देने की बात है कि आधुनिक समय मे जैसे सौन्दर्य की अवधारणा बदली है, वैसे लोक की अवधारणा भी बदली है। जैसे सौन्दर्य लोकोत्तर से लोकोन्मुखी होता गया है वैसे लोक भी सामान्य से विशेषीकृत होता गया है। यह लोक के सामान्य प्रचलित अवधारणा से बहुत हद तक मुक्ति प्रयास भी है जिसमे लोक जीवन की अब हर वस्तु अपने विशेष अर्थ मे मूल्यवान रहती है। यह लोक सामान्य के भीतर विशेष

की पहचान है और यह वही जाती है, जहाँ पर पारम्परिक सौदर्यबोध नही पहुँचता। इसी से आज की कविता मे लोक सौदर्य का सृजन होता है। लोक के इसी विशेष पक्ष पर बल देने से सौदर्य मानवरचित माना जाने लगा और लोक जीवन के केन्द्र मे मनुष्य की प्रतिष्ठा का भाव जगा।

लोक को ऐतिहासिक सदर्भ मे देखने पर पहली बात तो यही लगती है कि *आदिकाल* का लोक सदर्भ, सस्कृत साहित्य के परिपार्श्व मे विकसित होता आया है। अत यह शास्त्रीयता से एक प्रकार की प्रतिक्रिया का परिणाम रहा है। इसी कारण से *आदिकाल* मे काव्य-रूढियो, कथा-रूढियो और वाह्य सौन्दर्य विधान कम ही मिलता है। *भक्तिकाल* मे लोक आदिकाल का स्वाभाविक विकास बनता है। अब इसमे एक प्रकार की गति आ जाती है, जो law of ınertıa जैसी ही है। अपनी ही स्वाभाविक गति। भक्तिकाल मे इस 'लोक' के दो पक्ष मिलते है- व्यक्तिगत साधना और लोक पक्ष। कबीर का लोक व्यक्तिगत साधना का परिणाम रहा है। स्वय सूफी भी एकात साधना के कवि थे। अत दोनो मे लोक की स्वाभाविकता तो है, कितु व्यक्तिगत रुचि से यह प्रभावित है। यहाँ सब कुछ एक साधना के अतर्गत था। यह साध्य न बन सका, जिसका परिणाम यह रहा है कि कविता की दृष्टि से आत्म-विश्वास न जग सका, क्योकि कही न कही मन मे खीझ, आक्रोश कुछ कुछ हीनता का भाव दिखायी दे जाता है। इन सबमे एक प्रकार से सबोधन व चुनौती की मुद्रा रही। तुलसी मे लोक पक्ष कायदे से उभरता है कितु सघर्ष पक्ष कमजोर हो जाता है। इनकी समन्वयवादी दृष्टि के कारण निगाह तो पूरे समाज पर थी, कितु शास्त्रीय प्रवृत्तियो की ओर ध्यान देने से, प्रत्यक्ष की परम्परा का निर्वाह न कर सके। काव्य सौन्दर्य तो ठीक, कितु लोक जीवन का सौन्दर्य अपनी आवेग मयता मे न उभर सका। इस तरह भक्तिकाल के दो बडे कवि कबीर व तुलसी भी हृदय की दूरियो को कम करते ही रह गये, उसे मिटाने

की स्थिति ही नही आयी। हालॉकि इनकी 'लोकबद्धता' मे कोई सदेह नही है, किन्तु वह समग्रता मे नही उभर सकी। कबीर का 'लोक' केवल पथ वालो के अनुसरण का कारण था, जिसमे अनपढ ही आधिक थे, जबकि तुलसी का 'लोक' अपेक्षाकृत शिक्षित जनता से जुडा था। जाहिर बात है पहले मे जहाँ विद्रोह ही विद्रोह था, दूसरे मे सामजस्य ही सामजस्य। मतलब जो जहॉ था वही रहा।

इस रूप मे भक्तिकाल का लोकपक्ष साधनात्मक ही अधिक रहा है। मतलब यह कि मनुष्य मात्र मे एकता स्थापित करना उनका उद्देश्य था। स्वय कबीर का प्रेम व योग, हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने से जुडा था। मनुष्य के बीच की धार्मिकता के आधार पर बढते दूरी को कम करते जाना इनका प्रधान उद्देश्य हो गया। सूफियो का प्रेमभाव विभिन्न धर्मो मे एकता स्थापित करने के उद्देश्य से प्रेरित था। वर्ग से आधिक जोर जाति व धर्म पर दिया गया जिससे उपेक्षित जनता का सच्चा जीवन कम ही व्यक्त हो पाया। स्वय तुलसी इस भावनात्मक दूरी को कम करने मे लगे थे। ईश्वर की सगुण सत्ता के आधार पर भेदभाव को मिटाने की चेष्टा की गयी, जिसका असर भूख से बिलबिलाती जनता पर कम ही पडा। कुल मिलाकर लोक जीवन के आर्थिक पक्ष तक इन कवियो की दृष्टि न जाने पाई। यही आधुनिक काल मे होता है।

आगे *रीतिकाल* की लोकधर्मिता मे तो सामान्य आदमी की जगह ही नही है। हाँ, सामान्य गुणो के आधार पर कह सकते है कि कही कही प्रेम की सहजता, सहृदयता का चित्रण अवश्य है। यूँ भी भूखे आदमी के जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नही है। प्रेम की तन्मयता के आधार पर जरूर कुछ लोक-चित्रण मिल जात है कितु उसमे चित्र अधिक है, भाव कम। जाहिर बात है, चित्रण की अवस्था मे ये कुछ मौसमी फूलो की तरह होते है, जो कुछ ही समय मे अपना सौन्दर्य नष्ट कर देते है। भाव

वाला स्थायित्व यहाँ कहा?

भाव की यही अधिकता *आधुनिक काल* की विशेषता है जिसमे निरा मनुष्य है। अब वह बगैर किसी अलौकिक शक्ति के सोच सकता है, स्वाभाविक कर्म करता है। उसकी एक गति है और परिस्थितियो से मुठभेड कर सकता है। अब गॉव-शहर का विभेद भी स्पष्ट होता है और गॉव की प्रतिद्वन्दिता शहर से वैसे ही है, जैसे पहले लोक की शास्त्र से हुआ करती थी। यहॉ पर सघर्ष दिखलाई देता है, जिसमे सहजता है, मूढता नही। सघर्ष, उद्‌बोधनात्मक न होकर आह्वानपरक है। यह लोक अब अनुभव सम्बन्ध है और कवि लोक को निर्णयात्मक भूमिका प्रदान करता है। यहॉ का कवि अब समझता है कि लोक चित्रण ही लोकोन्मुखता नही। लोक परकता, लोक के ठोस यथार्थ को देखना और उसे निर्णयात्मक भूमिका भी देना है। (प्रो0 कमलेश दत्त त्रिपाठी, सापेक्ष लोक सस्कृति अक- पृ0 35)। आज की लोकोन्मुखता वास्तव मे वाह्य वस्तु से अधिकाधिक सवाद, सहजता और सामूहिकता के सम्प्रेषण से जुडी है। इस रूप मे 'मानव की आत्मा के उन्नयन का यज्ञस्थल वह सक्रिय लोक है, जो अगाध तत्परता के साथ क्रियाशील रहते, यथार्थ का अनुभव करते हुए और समय के अनुकूल विचारोत्पादक चितन करते हुए सत्य की सार्वभौमिकता को व्यवहार से बाँधता चलता है। (डा0 राजेश्वर सक्सेना सापेक्ष विशेषाक)।

3- सौदर्य के बारे में विद्वानों के विचार

जैसा कि हम जानते है कि सौदर्य किसी भी कलाकृति का महत्वपूर्ण अग होता है और किसी कलाकृति के सदर्भ मे यह *आनन्ददायी* होता है। सौदर्य कलाकृति के आस्वादन मे है, जिससे आनन्द की उत्पत्ति होती है, यह सौदर्य का आरभिक बिन्दु रहा है। यह सौन्दर्य वस्तुत वर्गीय विभाजन के पहले उस समाज का है, जिसमे

विषमता की पीडा को पकड पाना कठिन होता है। हमारे पाश्चात्य व भारतीय काव्य शास्त्रो मे सौन्दर्य को इसी रूप मे समझा समझाया गया है, क्योकि किसी 'लोक' की उपादेयता मात्र उसे आनन्ददायी गुणो मे ही निहित हुआ करती थी और यह भी कि 'कृति' की कोई सामाजिक उपयोगिता नही मानी जाती थी। यह सौन्दर्य का समाज निरपेक्ष दृष्टिकोण था, जो बाद मे समाज सापेक्ष्य हो गया। जब पूँजीवाद का उदय हुआ, तो सौन्दर्य की यह अवधारणा नि शेष हो चली और सौन्दर्य सघर्ष मे देखा जाने लगा। इस सघर्ष की अवधारणा के कारण ही सौन्दर्य प्राकृतिक उपादानो की समरसता मे न देकर उनकी विषमता मे देखा गया और रचनाकारो का स्थान अजब ढग से छोटी छोटी और उपेक्षित वस्तुओ के प्रति गया। यह वस्तुत सौन्दर्य का सामान्यीकरण ही है, जिसके द्वारा सौन्दर्य अपनी विशेष सत्ता से मुक्त होता ह। सौन्दर्य की यह अवधारणा जहॉ एक ओर इसके बढते स्वरूप का सकेत करती है, वही इसके मानवीकृत पहलू का बोध भी कराती है। यह सौन्दर्य का वह पक्ष है जिसमे मनुष्य को स्रष्टा भी माना गया और द्रष्टा भी। मनुष्य सौन्दर्य सृजन के केन्द्र मे है और यह स्वरूप हमारे आज के अध्ययन के लिए बेहद उपयोगी है।

अब चूँकि सौन्दर्य आस्वाद और अनुभूति का विषय है, अत इसे परिभाषित कर पाना कठिन है और 'गेटे' ने ठीक ही कहा था। यह एक प्रकार का ऐन्द्रिय सवेदन ही है। फिर भी हमारे लिए यह देखना रोचक है कि पाश्चात्य व भारतीय विद्वानो ने इस दिशा मे क्या कहा है?

प्राचीन *यूनानी आचार्यो* मे अनेकता मे एकता का सिद्धान्त सौदर्य विवेचन मे अत्यत प्रमुख रहा है। कुछ आचार्य ने सौदर्य को वस्तु विशेष मे देखा, तो कुछ ने व्यक्ति के चेतन मानस मे उसका मूल रूप देखा। प्रथम के अनुसार सौदर्य वस्तुनिष्ठ किया जा सकता है।

प्लेटो ने सौदर्य को दो रूपो मे देखा। चेतन और प्रतीयमान। उसके अनुसार चेतन जगह नित्य है, आदि-अत से परे है। प्रतीयमान जगत में जो सौन्दर्य दिखलाई पडता है, उसका उत्स यही चेतन जगत ही है। चेतन का एकत्व, प्रतीयमान के अनेकत्व मे प्रतिभाषित होता है। अत प्लेटो मे सौदर्य-तत्व, 'ज्ञान' का साधन माना गया, क्योकि सौदर्य की साधना के द्वारा व्यक्ति दिव्य सत्य का दर्शन करता है। पवित्र प्रेम का साक्षात्कार करता है। अत सौन्दर्यनुभूति के द्वारा व्यक्ति की दृष्टि नैतिक, चित्त पवित्र व चरित्र दिव्य हो सकता है। इस रूप मे प्लेटो मे सौन्दर्य, दर्शनशास्त्र के रूप मे ज्ञान की चरम अवस्था तक जाता है।

अरस्तू ने कहा कि सुन्दर वह शिव है (Good) जो इसलिए आनन्ददायक है कि वह शिव (Good) है। अत इन्होने सौन्दर्य को सापेक्ष व निरपेक्ष इन दोनो रूपो मे देखने का प्रयास किया। दरअसल अरस्तू से पहले ग्रीस मे कला शब्द का प्रयोग प्रधानत उपयोगी कला (Useful art) के लिए किया जाता था। अरस्तू पहले आचार्य है जिन्होने उपयोगी कला (Useful art) और (Fine art) का भेद स्पष्ट किया। साथ ही ललित कला की पृथक सत्ता को स्थापित किया। इसप्रकार उन्होने उपयोग और सौन्दर्य का क्षेत्र विभाजन कर सौन्दर्य को शास्त्रीय चर्चा का विषय बनाया और इस सौन्दर्य को उन्होने सापेक्ष व निरपेक्ष दोनो रूप मे देखा।

अरस्तू के अनुसार 'सुन्दर' वस्तु मे 'आर्डर', 'सिमेट्री' और 'डेफिनिटनेस' की विद्यमानता रहती है। इनके अनुसार सुन्दर व शिव एक नही है (जैसाकि प्लेटो ने कहा था) क्योकि 'शिव' का अनुभव 'गति की अवस्था' (State of motion) मे होता है और सुन्दर की अनुभूति 'स्थिति' (Repose) की अवस्था मे होती है।[37] दरअसल 'सौदर्य' को 'शिवत्व' से अलग कर अरस्तू ने जहाँ एक ओर 'सौन्दर्य' को वस्तुनिष्ठ सत्ता को स्वीकार किया वही इसे 'नैतिकता' के आग्रह से मुक्त भी किया।

प्लाटिनस (रोमन आचार्य) ने प्लेटो के सिद्धान्त, 'कला प्रकृति का अनुकरण है' का खण्डन किया। इनके अनुसार किसी वस्तु के साधारण प्रत्यक्षीकरण मे सौन्दर्य का मूल तत्व नही देखा जा सकता। प्रत्येक दृश्यमान पदार्थ किसी महत या ऋण की अभिव्यजना करता है। कोई वस्तु इसलिए सुन्दर होती है कि उसके माध्यम से सार्वभौम चेतना का प्रकाश होता है। इसलिए किसी वस्तु का सौन्दर्य 'चित्त' की छाया मात्र है। प्लाटिनस के विचार से सगति या समानुरूपता सौन्दर्य का पर्याय नही है। सौन्दर्य सामजस्य पर खेलने वाला एक आलोक है, जो दिव्य और ईश्वरीय है। सुन्दर वस्तु महत् सत्य या चित् की प्रतिविम्बन करती है अर्थात् सौन्दर्य पूर्णत भावगत है, अल्पाश मे भी वस्तुगत नही। इसलिए सौन्दर्य एक रहस्यात्मक सहजानुभूति है।

इसके बाद *ईसाई मतानुयायियो* का उदय होता है जिनमे सेट टामस, दाते, जीनो आदि आते है, जिनके अनुसार, सौन्दर्य ईश्ववरीय या दिव्य ज्योति का प्रकाशन करता है।

इसके बाद *आधुनिक समय* मे सौन्दर्य को दर्शन से जोडकर देखा जाने लगा। इस रूप मे *जर्मन दार्शनिको* ने इस पर जमकर विचार किया है। दरअसल सौन्दर्य के दर्शनीकृत रूप को व्यक्त करने का श्रेय इन्ही जर्मन दार्शनिको को जाता है।

वाउमगार्तेन, ही आधुनिक समय मे सौन्दर्य का प्रथम प्रयोगकर्ता है। अपनी पुस्तक (Aesthetics 1750) के द्वारा इसका आरम्भ करता है। उसके अनुसार प्रकृति, सौन्दर्य का चरम प्रतिमान है। इसलिए प्रकृति का अनुकरण ही सौन्दर्य सृजन है।

काट के अनुसार सौन्दर्य चिन्तनशील धारणा का आनन्द है। इसका अस्तित्व वस्तुनिष्ठ नही है, किन्तु इसका उद्देश्य नैतिक शिवत्व का स्थापन है।

हीगेल के अनुसार 'आइडियल' की अभिव्यक्ति का प्रयास ही सौन्दर्य सृजन है।

लेसिग के अनुसार सौन्दर्य अभिव्यक्ति मे नही, वस्तु, विधान और पद्धति में है।

इन्होने केवल कविता और चित्रकला को ध्यान मे रखकर सौन्दर्य पर विचार किया है।

इसके अलावा सौन्दर्य के *मनोवैज्ञानिक*[38] विश्लेषण को प्रारम्भ किया है- इग्लैण्ड के सौन्दर्यशास्त्रियो ने। इनके दो वर्ग है Idealist and Formalist प्रथम वर्ग के लोग सौन्दर्य को विश्लेषण से परे मानते है, किन्तु दूसरे वर्ग के लोग सौन्दर्य का विश्लेषण हो सकता है ऐसा मानते है, क्योकि उसका सम्बन्ध वस्तु विशेष के आकृति विधान से है।

प्रथम वर्ग मे शैफ्टबरी, टॉमस रीड और रस्किन है।

शैफ्टसबरी - सौन्दर्य और परम विभु एक है।

टामस रीड - सौन्दर्य आध्यात्मिक चैतन्य है।

रस्किन - सौन्दर्य ईश्वर की विभूति है।

द्वितीय वर्ग मे एडिसन, वर्क, होगार्थ, बेन, और ऐल्सन है। *एडिसन*- सौन्दर्य परिवेश व सगति का फल है।

वर्क - वस्तु विशेष की वर्णगत चारुता, आगिक कोमलता और उज्ज्वलता ही सौन्दर्य है।

होगार्थ - सौन्दर्य वस्तु विशेष के अगो से सन्धिबद्ध, प्रयुक्तियो की रजकता और अनुक्रम मे विद्यमान रहता है।

बेन - हमारा वह सवेग जो जीवन के प्रयोजनो से परे रहता है, सौन्दर्य कहलाता है।

ऐल्सन - सौन्दर्य विचारो का प्रवाह है।

इसके अतिरिक्त *सौन्दर्य को जीवन* मानने वाले भी विद्वान है, जो जीवन मे ही सौन्दर्य देखते है। यही वह मार्क्सवादी सौन्दर्यबोध है, जिसने मनुष्य के सामान्य क्रियाकलाप

मे भी सौन्दर्य को ढूँढा। इसका केन्द्र यूँ तो 'रूस' ही रहा है किन्तु इसका प्रभाव व्यापक पडा-

चर्नीशेव्सकी - सौन्दर्य ही जीवन है।

बेलिन्स्की - सौन्दर्य सामाजिक जीवन के जीवन्त यथार्थ का ऐसा प्रतिबिम्ब है जो हमे आनन्द ही नही देता, प्रगतिशील होने की प्रेरणा भी देता है।

ऊपर हमने पाश्चात्य सौन्दर्य चिन्तन के विकास की सक्षिप्त रूप रेखा प्रस्तुत की है। *जे0एच0 काजिम्स* ने पाश्चात्य सौन्दर्य चिन्तन के विकास को तीन धाराओ मे बॉटा है[39]

1) Aesthetical Monism
2) Aesthetical Dualism
3) Aesthetical Trinitarianism

प्रथम धारा मे मुख्यत प्लेटो व सुकरात आते है, जिनके सौन्दर्य दर्शन को Subjective and Transcendental कहा जाता है। दूसरी धारा का आरम्भ 18वी शताब्दी मे होता है जिसमे हचेसन, होगार्थ, डा0 विसर प्रमुख है। इन सभी ने द्रष्टा व दृश्य के द्वैत को सामने रखकर सौन्दर्य पर विचार किया है। तीसरी धारा का आरम्भ जर्मनी के सौन्दर्य चितको द्वारा होता है। जिन्होने प्लेटो की transcendental beauty को आधार बनाकर सौन्दर्य, वस्तु व चेतना की समी स्वीकार किया।

इसके साथ यहाँ पर 'इटली' के प्रसिद्ध काव्यशास्त्री, 'क्रोचे' (1866-1950) के विचारो का उल्लेख भी जरूरी है जिनके अनुसार अभिव्यक्ति की पूर्णता ही सौन्दर्य है। दरअसल क्रोचे के पहले काव्य मे बुद्धि या अनुभव को प्रधान माना जाता था। इन्होने 'कल्पना' को विशेष महत्व दिया और सहज ज्ञान से सौन्दर्य सृजन को माना। इनके अनुसार आत्मा की दो क्रियाएँ होती हैं-

1- विचारात्मक

2- व्यवहारात्मक

इस विचारात्मक क्रिया के दो भाग है- सहज ज्ञान (Intuition) और तर्कात्मक ज्ञान (Logical knowledge)। इनमे सहज ज्ञान से ही बिम्बो की प्राप्ति होते है जिनकी अभिव्यक्ति से सौन्दर्य का निर्माण होता है। आगे ये कहते है कि चूँकि अभिव्यक्ति के बिना सहज ज्ञान, पूर्ण नही होता, अत अभिव्यक्ति को ही सुदरता कहा। लेकिन 'क्रोचे' का यह अभिव्यक्तिवाद बडा अतिवादी हुआ, क्योकि हर प्रकार की अभिव्यक्ति को सुदर नही माना जा सकता। इससे कलावाद का जन्म हुआ, जिसका अनुसरण वाल्टर वोटर, क्लाइव बेल, बैडले, रोजर फ्राई आदि ने किया। बाद मे आई0 ए0 रिचर्डस ने 'कला' को जीवन से जोडा।

इस तरह हम देखते है कि पाश्चात्य कला विवेचन मे सौन्दर्य चितन अतिवादी ही रहा है। एक ओर चेर्नीसेवस्की जैसे विचारक ने सौन्दर्य की परिभाषा मे कहा "Beauty is life", तो दूसरी ओर शेफ्ट्सबरी जैसे आत्मनिष्ठ चिन्तक ने कहा "Beauty and God are one and the same"। कही दोनो के बीच समन्वय भी बैठाने की कोशिश होती रही है। इस रूप मे पूरे पाश्चात्य वाङ्गमय का विश्लेषण करने पर इसके तीन रूप आते है-

1- आत्मवादी सौन्दर्य चितन

2- वस्तुवादी सौन्दर्य चितन

3- भाववादी सौदर्य चितन

आत्मवादी सौन्दर्य चितन मे, जैसाकि हमने देखा, प्लेटो अग्रणी रहे है। प्लेटो के अनुसार सौन्दर्य के चार स्तर है- शारीरिक, मानसिक, नैतिक और शुद्ध बुद्धि का

सौन्दर्य अथा प्रज्ञात्मक सौन्दर्य। उनके अनुसार सौन्दर्य सृष्टि का मूल तत्व है और इसका सधान करना ही तत्व स्रष्टा का चरम लक्ष्य है। इसे वे सत्य के पर्याय व श्रेयस से अभिन्न मानते है। सौन्दर्य का आधार है समन्वित अथवा सामजस्य जो विश्व प्रपच का मूल सिद्धान्त है। इस सामजस्य को ही वे औचित्य मानते है। यह समानुपात या सममात्रा पर आधारित होता है।

कुछ ऐसी ही धारणा प्लोटिनस, आगस्टाइन, काट व हेगेल मे मिलती है।

वस्तुवादी के अनुसार सौन्दर्य वस्तु का गुण है और वह रूप आकार मे निहित होता है। जहॉ आत्मवादी सौन्दर्य शास्त्र का ध्येय होता है, सौन्दर्य के आध्यात्मिक अर्थ की व्याख्या करना, वही रूपवादी इसका निषेध करते है। 19वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे हरबर्ट नामक दार्शनिक ने दृढता के साथ घोषित किया कि 'सौन्दर्य अपने अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु का प्रतीक नही है। अपने रूप के अतिरिक्त उसका कोई अर्थ नही है। इनके अनुसार वस्तु के आकार की रचना अनुक्रम, अनुपात, सममिति, वर्ग-योजना, दीप्ति आदि तत्वो से होती है, ये ही सौन्दर्य के तत्व है। यू तो इन तत्वो की सत्ता आत्मवादियो को भी मान्य है, किन्तु दोनो मे दृष्टिकोण का फर्क है। आत्मवादी इन्हे पारमार्थिक सत्ता का प्रतीक मानता है, जबकि रूपवादी इन्हे पार्थिव मानता है। ये सौन्दर्य की सत्ता वस्तु की सरचना मे ही मानते है और भाव व विचार से उसका कोई सम्बन्ध नही मानते। अर्थात् ये सब इस बात से इन्कार करते है कि भाव अथवा विचार के सस्पर्श से पदार्थ मे सौन्दर्य का सचार होता है, क्योकि इनके मत से सौन्दर्य पदार्थ मे ही है, चेतना मे नही।

भाववादी काम या इच्छा को सौन्दर्य का प्राणतत्व मानते है। इनके अनुसार सौन्दर्य भाव की अभिव्यक्ति है। दरअसल भाववादी विचारक एक ओर आत्मवादियो के निकट है, तो दूसरी ओर वस्तुवादियो के। यह एक प्रकार का समन्वयवादी दृष्टिकोण ही

है, क्योकि यह वस्तु मे सौन्दर्य मानता है, किन्तु उसकी अनुभूति के लिए आत्मा की बात करता है।

अत पाश्चात्य मत के अनुसार-[40]

1- सौन्दर्य पदार्थ नही पदार्थ का गुण है।

2- वह भौतिक तत्वो का सश्लेष न होकर पदार्थ का प्रतीयमान या गोचर रूप है जिसका आविर्भाव प्रमाता की चेतना के सन्निकर्ष से होता है।

3- प्रत्येक पदार्थ का गोचर रूप सुन्दर नही होता। सौन्दर्य का आधार है सरचना की प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष या सरल अथवा सूक्ष्म जटिल अन्विति जो प्रमाता के ऐन्द्रिक मानसिक सवेदनो मे सामजस्य स्थापित कर उसकी चेतना का प्रसादन करती है।

4- प्रीति या आह्लाद सौन्दर्य का लक्षण है।

5- सरचना की अन्विति प्राय सूक्ष्म-जटिल होती है। अत उसकी प्रतीति सामान्य ऐन्द्रिक प्रतीति न होकर सूक्ष्म जटिल ऐद्रिक मानसिक प्रतीति होती है जिसमे कल्पना का विशेष, योगदान होता है।

6- सौन्दर्य की परिधि मे यूँ तो कला व प्रकृति दोनो ही आ जाते है, किन्तु पारिभाषिक अर्थ मे सौन्दर्य कला या उसके सौन्दर्य का ही वाचक है।

7- भावना का सौन्दर्य के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है।

8- सौन्दर्य का रूप निश्चय ही गोचर या ऐद्रिक होता है, किन्तु इस गोचर रूप मे आकर्षण या मूल्य उत्पन्न करने वाले तत्व राग या प्रज्ञा ही है।

भारतीय दृष्टि-

आरम्भ मे ही हमे यह बात जान लेनी है कि पाश्चात्य शास्त्र मे सौन्दर्य विवेचन,

सौन्दर्य शास्त्रीय था, जिसमे कविता का सम्बन्ध अन्य कलाओ (स्थापत्य, नृत्य, सगीत) के सदर्भ मे मानकर सौन्दर्य का विश्लेषण किया जाता था, किन्तु भारतीय सन्दर्भ मे यह काव्य शास्त्रीय ही था जिसमे अन्य कलाओ से सम्बन्ध बहुत जोर नही दिया जाता था। जाहिर बात है कि काव्यशास्त्र जहॉ निर्णयात्मकता (Judgement) को महत्व देता है, सौन्दर्यशास्त्र मूल्य को (Value)। भारतीय काव्यशास्त्र मे इसीलिए सौन्दर्य की प्रस्तुति एक निर्णयात्मक ढग से की गई है। (सन्दर्भ डा0 कुमार विमल सौन्दर्यशास्त्र के तत्व)।

भारतीय वाड्मय मे सौन्दर्य की अवधारणा तो प्राचीन है ही, किन्तु शब्द प्रयोग बहुत पुराना नही है। वेदो व मूल उपनिषदो मे यह उपलब्ध नही होता किन्तु सौन्दर्य की अवधारणा स्वरूप उसके वाचक-व्यजक शब्दो का अभाव नही है।[41] सस्कृत वाड्मय मे सुन्दर के निम्न पर्याय उपलब्ध है-

सुन्दर रुचिर चारु सुषम साधु शोभनम्

कान्त मनोरम रुच्च मनोज्ञ मजु मजुलम्

अभीष्टेउभीप्सित हृदय दपित बल्लभ प्रियम। (अमरकोश- तृ0 का0)

अर्थात् सुन्दर, रुचिर, चारु, सुषम, साधु, शोभन, कात, मनोरम, रुचि, मनोज्ञ, मजु और मजुल। अभीष्ट के अर्थ मे अभीप्सित, हृदय, द्रवित, बल्लभ और प्रिय। यहाँ अभीष्ट के वाचक सभी शब्दो मे प्रमाता की अभिलाषा ही प्रमुख है। इसके अतिरिक्त और भी शब्द है जो इसी अर्थ का वाचन करते है। ललित, सुष्ठु, काम्य, कमनीय, रमणीय। इन सभी पर्यायो से यह पता चलता है कि इसमे कुछ तो वस्तु परक सौन्दर्य का द्योतन करते है और कुछ आत्म परक सौन्दर्य का। अर्थात् यह निश्चित है कि सौन्दर्य वस्तु परक व आत्म-परक दोनो होता है।

और जैसा कि हम जानते है, वेदो मे सुन्दर शब्द का प्रयोग न मिलकर इनके

पर्यायो का प्रयोग मिलता है। वेद, विशेषकर ऋग्वेद मे काव्य तत्व ही प्रमुख है। काव्य शास्त्र के विषय मे तो कुछ विरल सकेत ही है। प्रकारातर से सौन्दर्य का विवेचन भी है, जैसे कि उष सूक्त मे सौन्दर्य के मधुर पक्ष का और मरुत, विष्णु, पुरुष-सूक्त मे सौन्दर्य के उदात्त पक्ष का विवेचन किया गया है। उष सूक्त मे कहा गया है कि, आलोक वसना ऊषा प्राची दिशा मे उदित होकर अपने सौन्दर्य को अनावृत्त करती है। उसकी तनद्युति सद्य स्नाता की भाँति उज्ज्वल है। वह रात्रि के श्याम आवरण को भग कर अपने रूप को प्रकट करती है (ऋग्वेद 5-8015)। तो यह है सौन्दर्य का मधुर पक्ष। उदात्त पक्ष मे विराट व तेजस्वी रूपो का वर्णन मिलता है जैसे मरुत सूक्त मे- 'वे स्वर्ण वर्ण है, अरुण आभा से दीप्त है, अग्नि के समान तेजस्वी व स्व प्रकाश से भास्वर है । (ऋग्वेद 7-56 13) इससे स्पष्ट है कि वैदिक कवि की धारणा के अनुसार सौन्दर्य का स्वरूप मूलत ऐन्द्रिक है, जिसमे काति का सर्वाधिक महत्व है। (आगे हम विचार करेगे कि कविता मे लोक-सौन्दर्य हेतु प्रकृति पक्ष व उदात्त पक्ष (चरित्र पक्ष) किस तरह जरूरी है। अब बदली परिस्थिति मे यदि आक्रामकता व सघर्ष आता है, तो यह स्वागत योग्य है।)

उपनिषद का विषय है आत्म विद्या। वह आत्म चितन का काव्य था। वैदिक कवि जहाँ सौन्दर्य के लौकिक व दिव्य, ऐन्द्रिक व आरम्भिक दोनो रूपो का रसिक था, वहा उपनिषद के कार्य की दृष्टि केवल आत्मा के सौन्दर्य के प्रति ही उन्मुख थी[12]। इसका आधारभूत सिद्धान्त है- अद्वैत। तभी कठोपनिषद (5-12) कहता है-

एको वसी सर्वभूतन्तरात्मा

एक रूप बहुधा य करोति।

अत उपनिषद मे जिस सौन्दर्य का वर्णन किया गया है, उसके दो लक्षण है- प्रकाश व आनन्द। गोचर रूप मे वह प्रकाश है और अनुभुति के स्तर पर वह आनन्द

है। इस प्रकार उपनिषदीय कवियो ने पिण्ड मे ही ब्रह्माण्ड के दर्शन करने शुरु कर दिये और यदि यह बाद मे चलकर व्यक्तिवाद का रूप धारण किया, तो कौन सा आश्चर्य? यह सौन्दर्य की आत्मवादी व्याख्या है।

रामायण मे सुन्दर शब्द का प्रयोग सबसे पहले आता है।[42] क्योकि इसके एक काण्ड का नाम ही सुन्दरकाण्ड है। आदिकवि बाल्मीकि ने सौन्दर्यों के प्राय सभी रूपो का अत्यन्त ही उल्लास के साथ वर्णन किया है- प्रकृति-सौन्दर्य, भौतिक सौन्दर्य, मानव सौन्दर्य व कलागत सौन्दर्य। यह व्यक्त जीवन का काव्य है जिसमे उपनिषद के रहस्य दर्शन का प्राय अभाव रहता है। अत उसमे अलौकिक सौन्दर्य की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति तो नही है, परन्तु मन गोचर सौन्दर्य अथवा भाव सौन्दर्य का वैभव प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है[44]।

यहॉ यह बात गौरतलब है कि *मानव-रचित सौन्दर्य* जिसे डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी लालित्य कहते है, का विशद वर्णन रामायण मे मिलता है, जिसका अध्ययन आधुनिक युग मे विशेष रूप से किया जाता रहा है। प्राकृतिक सौन्दर्य मे प्रकृति के केवल मधुर कोमल रूपो मे ही नही, वरन् पुरुष एव विराट दृश्यो मे भी सौन्दर्य का उद्घाटन किया जाता रहा है। मानव सौन्दर्य मे स्त्रियो के सन्दर्भ मे कोमलता एव विलास तथा पुरुष सन्दर्भ मे बलिष्ठता व तेजस्विता आदि गुणो का उल्लेख किया गया है।

रामायण मे यूँ तो सौन्दर्य का वर्णन ही किया गया है, किन्तु कही कही विवेचन भी हुआ है जिसमे कवि के सौन्दर्य चेतन विचारो का सकेत मिलता है जैसे कि "मनसैव कृता लका निर्मिता विश्वकर्मणा" (4-2-22) (विश्वकर्मा द्वारा रचित लका ऐसी प्रतीत होती है जो मानो उसकी रचना मन के द्वारा की गयी हो।) यहाँ पर कालीदास की बडी महत्वपूर्ण उक्ति आभासित होती है- "रूपोच्चेन विधिना मनसा कृता नु।" कला की रचना यात्रिक क्रिया या शिल्प नैपुण्य मात्र न होकर मन की अथवा यह कहे कि

मानसिक विम्ब की सृष्टि है और यह सौन्दर्यशास्त्र की उसी दृष्टि की ओर सकेत करता है जिसका प्रतिपादन क्रोचे ने किया है 'कला' की सृष्टि मूलत मानस विम्ब के रूप मे होती है।'

महाभारत के बारे मे डा0 नगेन्द्र ने ठीक लिखा है कि रामायण की तुलना मे महाभारत मे काव्य तत्व की प्रधानता है और उसी मात्रा मे सौन्दर्य वर्णन की अपेक्षा वृत्त वर्णन की प्रधानता है।[44]

फिर भी सौन्दर्य के इद्रिय गोचर और मनोगोचर दोनो रूपो का सम्पर्क निरूपण हुआ है। प्राकृतिक सौन्दर्य मे सौन्दर्य के सभी तत्वो, वर्ग वैभव, दीप्ति निर्मलता आदि का उल्लेख मिलता है। मानवीय सौन्दर्य के प्रसग मे महाभारतकार मे रूप-सौभाग्य को जीवन की अमूल्य उपलब्धि माना है और इस रूप सौभाग्य का आधारभूत तत्व है, पुरुष के सन्दर्भ मे बलिष्ठगात्र, दीप्तवर्ण, आतरिक तेज आदि। नारी के सन्दर्भ मे समानुपातिक अनवद्य अग सम्पत्ति, वर्णकाति, सौकुमार्ग आदि। इनके अनुसार अलकार रूप यौवन की श्रीवृद्धि तो करते ही है, किन्तु वे नित्य धर्म नही है, क्योकि सहज सौन्दर्य का आकर्षण अलकार पर निर्भर नही करता।

इसके अतिरिक्त गीता के विराट रूप प्रदर्शन मे हमे अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, सौन्दर्यशास्त्र के एक मौलिक सिद्धान्त का उद्घाटन होता है। 'सौन्दर्य के लिए पदार्थ के गोचर रूप के साथ प्रमाता की ऐद्रिक चेतना का सामजस्य और उसके फलस्वरूप चित्तवृत्ति का समीकरण आवश्यक है। पदार्थ का गोचर रूप जब इन्द्रियो की ग्रहण शक्ति का अतिक्रमण कर जाता है,तो सामजस्य भग हो जाने से चित्त की समाहिति नष्ट हो जाती है और चित्त की यह विकलता सौन्दर्यानुभूति की सबसे बडी बाधा है[45]। इससे सामजस्यता का सहज ही उद्घाटन होता है। वस्तुत अर्जुन जब भगवान से विराट रूप दिखाने को कहते है, (दृष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वर पुरुषोत्तम-भीष्मपर्व 35-

3) तो रूप देखकर अर्जुन का चित्त भय से व्याकुल हो उठता है और वे पुराने रूप मे आने का निवेदन करते है।

दृष्टवेद मानुष रूप तव सौम्य जनार्दन।

इदानीमस्मि सवृत्त सचेता प्रकृति गत। (भीष्म पर्व 35-51)

महाभारत के बाद सस्कृत का आभिजात्य काव्य आता है जिसका सौन्दर्य विवेचन व सौन्दर्य वर्णन दोनो महत्वपूर्ण है। इसमे अग्रणी *कालिदास* है जो मूलत सौन्दर्य के कवि है। वे भी सौन्दर्य की सृष्टि मे मानसी कल्पना को प्रमुख मानते है। (रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु-अभिज्ञान शाकुन्तलम)

वाणभट्ट की कृतियाँ-कादम्बरी व हर्षचरित मे चित्रो के विविध भेद, रचना-प्रक्रिया आदि के विषय मे अनेक बाते मिलती है।

भवभूति मूलत भावना के रचनाकार है। उनके अनुसार मानवीय भावना, रस अथवा काव्य-सौन्दर्य का मूलाधार है।

माघ ने सौन्दर्य को चिर नवीन कहा है। "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदैवरूप रमणीयताया।"

सस्कृत के इन कवियो के बाद *हम हिन्दी के भक्त कवियो* के सन्दर्भ से सौन्दर्य की बात उठा सकते है जहाँ भगवान के दिव्य सौन्दर्य का, नाना भगिमाओ मे अभूतपूर्व वर्णन मिलता है। भारतीय दर्शन के शाकर वेदात मे प्रतिपादित निर्विकल्प ब्रह्म की धारणा ने और उधर बौद्धमत के शून्यवाद ने, दार्शनिक आध्यात्मिक स्तर पर, भारतीय सौन्दर्य कल्पना के विकास मे जो व्याघात उपस्थित कर दिया था, वैष्णव आचार्यो की सगुण भावना ने उसका बहुत कुछ परिहार कर दिया।[45] इन वैष्णव भक्तो ने भगवान के सौन्दर्य को गोचर रूप मे प्रस्तुत कर दार्शनिको की अमूर्त अगोचर धारणा से निजात पाने मे काफी सफलताहासिल की। भक्ति का आकार ग्रथ श्रीमदभगवतगीता ही है, जिसका रचनाकाल 9वी शताब्दी माना गया है जिसमे भगवान की दिव्य छवि का गोचर

रूप मे वर्णन किया गया है। यह दिव्य सौन्दर्य, विश्व सौन्दर्य का सार तत्व ही है किन्तु यह मानवीय भी है। भारतीय भक्ति पद्धति का विकास प्रसारकाल 11वी शताब्दी से 17वी शताब्दी के बीच माना गया है जिसमे भक्ति साधना के 5 प्रमुख सम्प्रदायो का उदय हुआ रामानुज या श्री सम्प्रदाय, माध्व सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय, बल्लभ सम्प्रदाय और चैतन्य अथवा गौणीय सम्प्रदाय। इसमे प्रथम दो ने भगवान के ऐश्वर्य रूप पर और अतिम तीन ने भगवान के माधुर्य रूप पर विशेष बल दिया। यूँ तो इसमे से किसी मे सौन्दर्य का विस्तृत विवेचन नही मिता, किन्तु गौणीय सम्प्रदाय का योगदान महत्वपूर्ण है जिसक श्रेय है चैतन्यमहाप्रभु के शिष्य रूप स्वामी और उनके टीकाकार जीव गोस्वामी। रूप स्वामी ने हरिभक्तिरसामृतसिधु की रचना कर वैष्णव रस की प्रतिष्ठा की और जीव गोस्वामी ने दुर्गमसगमिनी टीका लिखकर विषय को विस्तार दिया। ये ग्रन्थ वैष्णव सौन्दर्यशास्त्र या धार्मिक सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार है जिसमे कदाचित पहली बार प्रत्यक्ष रूप से सौन्दर्य तथा उसके विभिन्न तत्वो का विवेचन किया गया है, जहाँ सौन्दर्य की परिभाषा मे अनुपात, समन्विति अथवा सममिति का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। रूप, माधुर्य व लावण्य के लक्षणो मे उस नैसर्गिक आकर्षण को रेखाकित किया गया है जो अवयवो के सौन्दर्य के अतिरिक्त, समग्र व्यक्तित्व मे व्याप्त रहता है। इससे स्पष्ट है कि सौन्दर्य विषय का गुण रहने पर भी विषयी पर बहुत कुछ निर्भर करता है।[46]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य जहाँ वस्तुगत है, वही पर आत्मगत भी और ऐसा पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र भी मानता है। भारतीय काव्यशास्त्र मे भी इससे स्पष्ट सकेत मौजूद है। सौन्दर्य का आत्मगत (भावपक्ष) अनुभूत्यात्मक पक्ष रस व ध्वनि सिद्धान्तो मे विस्तार से मिलता है, तो इसका वस्तुनिष्ठ पक्ष रीति व अलकार समुदायो मे मिलता है। इसका दोनो का समन्वय कुतक के वक्रोक्ति काव्य जीवितम

मे मिलता है और क्षेमेन्द्र ने औचित्य की प्रतिष्ठा कर कृति के स्तर पर सममिति तथा अनुपात आदि तत्वो का और विचार के स्तर पर सौन्दर्य के नैतिक पक्ष का उद्घाटन किया है।

इसके बाद आधुनिक विचारको का मत आता है जिनसे 20वी शताब्दी मे सौन्दर्य की अवधारणा का पता चलता है। इसमे हिन्दी के कुछ प्रमुख आलोचक है, जिन्होने सौन्दर्य को मानवीय क्रिया व्यापारो से जोडकर इसकी अवधारणा मे व्यापक परिवर्तन किया। यूँ तो यह अवधारणा किसी किसी रूप मे मार्क्सवादी सौन्दर्य अवधारणा से जुडती है, किन्तु मानवरचित सौन्दर्य को मानने वाले कही से मार्क्सवादी नही है। इन सबका जिक्र हम सौन्दर्य क्या है, शीर्षक के अन्तर्गत करेगे। फिलहाल तो यह देखते है मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र क्या कहता है?

मार्क्सवादी सौन्दर्यबोध-

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत सौन्दर्य को एक द्वन्द्वात्मक दृष्टि से देखा जाता है जिसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि वस्तु को एक विशेष सत्ता या वस्तु के रूप मे न देखकर वस्तु के अत सम्बन्धो तथा अन्तर्विरोधो के रूप मे जॉचा परखा जाता है। इसके विपरीत पराभौतिक दृष्टि मे वस्तु को जड पदार्थ के रूप मे माना जाता है। द्वन्दवाद के रूप मे हम सौन्दर्य को जीवन मानते हैं और यहॉ जीवन का अर्थ समाज के सजीव जीवन से है, न कि ब्रह्माण्ड मे व्याप्त अखिल जीवन से क्योकि ऐसा जीवन मानववादी सौन्दर्यबोध मे मिलता है।

वस्तुत भाववादी सौन्दर्यबोध के अनुसार सौन्दर्य कालातीत, अनिर्वचनीय व अतुलनीय होता है। हालाँकि यह भी सजीव सौन्दर्य का गुण होता है किन्तु यह ऐसी सजीवता होती है जो लगभग स्थिर मान ली जाती है। ऐसे लोग सौन्दर्य की पहचान के लिए सुन्दर पदाथो की शर्त पहले ही रख लेते है और सौन्दर्य दृष्टि को सर्वथा निर्वैक्तिक

मान लेते है। इससे अधिक से अधिक 'जड सौन्दर्य' का ही पता चलता है। उसमे स्थूलता विद्यमान रहती है। इसके अनुसार प्रमाता पदार्थ के रूप पर ही केन्द्रित हो जाता है और सुन्दरता का निरीक्षण व निर्णय दोनो कर डालता है। द्वन्द्ववाद इससे सहमत नही होता। इसके अनुसार प्रमाता सुन्दर वस्तु को देखकर ही सौन्दर्य का बोध नही करता बल्कि 'रूप' के साथ ही वह वस्तु के विकास की प्रक्रियाओ, वस्तु के अन्तर्सम्बन्धो, इसके उपभोग की सभाव्यता आदि के बारे मे उसकी परम्परा मे सोचता है।

तब यह ठीक ही है कि सौन्दर्य का प्रतिमान कोई वस्तु अपनी *गतिशील अवस्था* मे ही बनती है और इस गतिशीलता से ही सजीवता उत्पन्न होती है। हम जिस किसी भी वस्तु के सौन्दर्य पर विचार करते है, हमारी दृष्टि उस वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप और उसके ऐतिहासिक अस्तित्व के साथ ही गतिशील रहती है। अजन्ता, एलोरा या कि ताजमहल की सुन्दरता पर यदि हम मुग्ध होते है तो इसलिए कि हम उसमे कलाकार के श्रम का सौन्दर्य देखते है। इसी प्रकार जब हम किसी काव्य को पढते है, तब हम उसे उसके ऐतिहासिक परिप्रेभ्य मे देखते है कि यह अपनी परम्परा से कितना भिन्न है और बावजूद इसके इसमे कितनी परम्परा है और इसके साथ यह भी कि इसमे 'नयापन' कितना है और कितना 'अपनापन' है, जिसे निजीपन कह सकते है। लोक जीवन के सन्दर्भ मे तो यह विशिष्ट अर्थ रखता ही है जिससे यह भी पता चलता है कि कितनी जडे है और कितना विस्तार है। *आशय यह है कि लोक सौन्दर्य मे इस गहराई के साथ विस्तार का भी अध्ययन किया जाता है।* 562070

इस रूप मे मार्क्सवाद आनन्द मे नही, मनुष्य की सर्जनात्मकता और यथार्थ जगत मे अपना सौन्दर्य देखता है। यह मनुष्य के *विशेष सम्बन्धो* मे ही मनुष्य का सौन्दर्य देखता है। यह 'विशेष' ही वह माध्यम है जिसके सहारे मनुष्य प्रकृति को बदलता

है और ससार को मानवीय बनाता है। यह सश्लिष्ट है और समाज सापेक्ष भी जिस कारण से यह सौन्दर्य की किसी भी स्थायी अवधारणा को नकारती है। *डा0 राम विलास शर्मा* ने इसी आधार पर सौन्दर्य को समाज सापेक्ष माना है। सौन्दर्य प्रकृति मे भी है, मनुष्य के मन मे भी। उसकी अनुभूति व्यक्तिगत भी होती है, समाजगत भी।[46] इस समाज सापेक्ष कला, सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध मे डा0 रमेश कुन्तल मेघ का विचार है कि, 'सौन्दर्य एक वस्तु का विम्ब है जो सौन्दर्यानुभूति का निश्चय करता है और बदले मे सौन्दर्य वस्तु के विम्ब के निर्माण पर प्रभाव भी डालता है। इसलिए सौन्दर्यानुभूति सौन्दर्य को प्रभावित भी करती है। यह एक अन्योन्याश्रित रिश्ता है।[47] इसी क्रम मे डा0 मेघ आगे लिखते है कि सौन्दर्यानुभूति, (क) कलात्मक सृजन के द्वारा यथार्थता या लोक-जीवन के उच्चतर धरातल को हासिल करती है तथा (ख) लोक जीवन मे भी सौन्दर्य का सवर्धन करती है।

अब यदि हम 1936 के 'प्रगतिशील लेखक सघ' से मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का आरम्भ माने, तो इनकी सौन्दर्यगत अवधारणा का पता किया जा सकता है। प्रेमचन्द कहते है- "हमे सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी व विलासिता के ढग की थी। झोपडे व खण्डहर उनके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हे वे मनुष्यता की परिधि के बाहर समझते थे उसकी दृष्टि अपनी इतनी व्यापक न थी कि जीवन सग्राम मे सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपहास व नग्नता मे भी सौन्दर्य का अस्तित्व सभव है। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री मे है, उस बच्चो वाली गरीब रूप स्त्री मे नही, जो बच्चो को खेत की मेड पर सुलाये पसीना बहा रही है। [48]

आगे सौन्दर्य रहता कहाँ है, के उत्तर मे वे लिखते है- 'राजा के महल मे, रक की झोपड़ी मे, गन्दे नाले के अदर, उषा की लाली मे, सावन भादो की अधेरी रात मे....[49]

सौन्दर्य के इस पक्ष को समझने के बाद यह कहना जरूरी रह जाता है कि इसी मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने सौन्दर्य को महलो के बाहर ला खडा किया। कह सकते है कि मनुष्य के मन के बाहर भी आने की यही प्रक्रिया है। **सौन्दर्य का यह विकेन्द्रीकरण यूँ स्वतंत्र भारत में पचायतीराज के विकेन्द्रीकरण के समानातर विकसित हुआ है। यह बात दूसरी है कि पहला जहॉ साहित्य के स्तर पर उत्तरोत्तर सफल होता गया है दूसरा राजनैतिक स्तर पर असफल!**

प्रेमचद के इस दृष्टिकोण पर टिप्पणी करते *डा0 नामवर सिह* लिखते है कि 'प्रेमचन्द के कथन की ताकत यह है कि उन्होने अपनी कहानियो और उपन्यासो के जरिये सौन्दर्य का एक नया मेयार खडा किया जहॉ स्वय उन्होने कहा कि 'कशमेहयात मे हुस्न का मेराजे है। दूसरे शब्दो मे जीवन सग्राम मे सौन्दर्य का परमोत्कर्ष है'।[50] इसी के आगे लिखते है कि 'सौन्दर्य की परिभाषा बदलने मे प्रेमचन्द के बाद भी प्रगति हुई। नागार्जुन से लेकर धूमिल तक, यशपाल से लेकर ज्ञानरजन तक कवियो, कथाकारो की एक अच्छी खासी परम्परा है जिसने सौन्दर्य सम्बन्धी पुरानी सुरुचि को तोडकर नयी अभिरुचि के लिए सर्जनात्मक आधार प्रस्तुत किया। यदि ये सर्जनात्मक प्रयोग आज के मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के लिए कोई अर्थ नही रखते तो फिर वह निर्गुण सौन्दर्यशास्त्र भी व्यर्थ है। ब्रेख्त ने ऐसे ही सौन्दर्यशास्त्र को 'उत्पादन का शत्रु' कहा है।[51]

तब हमे यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि सौन्दर्य की आध्यात्मिक परिभाषा से अधिक हमे लौकिक परिभाषा की जरूरत है, क्योकि तभी सौन्दर्य की कोई अर्थवत्ता है। इसके लिए सौन्दर्य प्रतीति व सामाजिक दृष्टि मे कोई भेद नही है। *मुक्तिबोध* अपने निबध 'सौन्दर्य प्रतीति व सामाजिक दृष्टि' मे लिखते है कि 'जिस समाज मे सौन्दर्य प्रतीति व सामाजिक दृष्टि मे परस्पर विरोध माना जाता है अथवा दूसरे शब्दो

मे इन दो के भीतर किसी गहरी आतरिक एकता का अस्तित्व नही माना जाता वह समाज भी खूब है और वे दार्शनिक या विचारक भी खूब है, जो इन मान्यताओ को लेकर चलते है। आजकल की कृत्रिम विभाजन बुद्धि का यही फल है।[52] ये कवि, कहानीकार व उपन्यासकार की सौन्दर्य प्रतीति मे उस सामाजिक दृष्टि को सन्निहित मानते है, जिसका उसने उन जीवन प्रसगो के मार्मिक आकलन के समय उपयोग किया था। इस सामाजिक दृष्टि के अभाव मे वे किसी भी सौन्दर्य दृष्टि को असभव मानते है। उनके अनुसार 'किसी भी विषय के आत्मगत आकलन तथा सकलन करते समय, हमारे मन मे उसकी विविध बातो का जो मूल्याकन शुरु होता है वह अत तक रहता है, जब तक कि वह सृजनशील प्रक्रिया समाप्त नही हो जाकती । सृजनशील प्रेरणा या बुद्धि स्वय एक आलोचनाशील मूल्याकन कारी शक्ति है, जो इस मूल्याकन के द्वारा ही अपने प्रसग को उठाती है और उसे कलात्मक रूप से प्रस्तुत करती है। बिना मूल्याकनशील शक्ति के, कोई सृजन कम से कम साहित्यिक सृजन नही हो सकता चाहे वह प्रात काल मे गुलाब सूँघने का, प्रणयिनी के चुम्बन या कारखाने मे हडताल का प्रसग हो। जब जब ये चित्र सृजनशील प्रक्रिया का एक अग बनेगे, उनमे उचित काटछाँट व सकलन होता रहेगा। इसी पूरी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मे हमारी मूल्याकनकारी शक्ति बराबर इसी बात को लेगी जिसे हम मार्मिक समझते है। अच्छे लेखक तब भी सतुष्ट नही होते और सोचते है बहुत कुछ कहना शेष रह गया है मतलब यह कि जीवन प्रसग मे तल्लीनता प्राप्त कर हम उसमे इतने डूब नही जाते कि समाधि लग जाती है, वरन् मूल्याकनकारी शक्ति के सचेत प्रयोग से हम उसके मार्मिक अश उठाते है।[53]

इस तरह मुक्तिबोध ने सौन्दर्य, प्रतीति के विरुद्ध सामाजिक दृष्टि को तथा व्यक्तिविरुद्ध समाज की विचार शैली को माना है। वे सौन्दर्य प्रतीति को ऊपर से थोपी नही,

वरन् हमारे अन्तर का एक निज चेतस आलोक मानते है और जिस सामाजिक दृष्टि मे यह निज चेतस आलोक नही है वह दृष्टि नही है। उनके अनुसार 'व्यक्ति व समाज का विरोध बौद्धिक विक्षेप है। जहॉ व्यक्ति, समाज का विरोध करता सा दिखायी देता है, वहॉ वस्तुत समाज के भीतर की ही एक सामाजिक प्रवृत्ति, दूसरी सामाजिक प्रवृत्ति से टकराती है। वह समाज का अतर्विरोध है, न कि व्यक्ति के विरुद्ध समाज का, या समाज के विरुद्ध व्यक्ति का।' समाज के अतर्विरोधो का हवाला देते वे जोर देकर कहते है कि 'समाज के भीतर के अतर्विरोधो के विकास की जो अवस्था विशेष होगी उसी के अनुसार सास्कृतिक श्रेणी के व्यक्ति के सामने विषयो के विकल्प होगे।' वे लिखते है कि 'उत्तर रामचरित के लेखक भवभूति के सामने वे विकल्प प्रस्तुत नही थे, जो आज हमारे सामने है। शृगार के जमाने मे उन्होने नारी के भाग्य पर आँसू बहाकर करुण रस प्रधान साहित्य सिरजा। वह इसके आगे बढ ही नही सकते थे, क्योकि समाज ने उसके आगे विकल्प प्रस्तुत ही नही किये थे' (उप0) इस तरह मुक्तिबोध साहित्य के सौन्दर्य को सामाजिक अतर्विरोधो मे देखते है और समाज जो हमे विकल्प देता है, उसमे से हमे अपने अनुसार एक विकल्प चुनना पडता है, जो विषय तक सीमित नही होता, वरन् दृष्टिकोणो, विचारधाराओ, रुखो, रवैयो व आदेशो तक जाता है। इस रूप मे *लोक सौन्दर्य* का सच्चा उपासक स्वय को सामाजिक प्रगति का, मानव मुक्ति की ओर खडा पाता है और सच्चा सौन्दर्य पारखी यही होता है। जब समाज मे नारी केन्द्रित चितन था, तो उसमे भी सच्चा सौन्दर्य सहृदय नारी के करुण पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। कालिदास व भवभूति मे हम देख सकते है। भक्तिकाल मे विकल्प जब 'धर्म के बीच था, तो लोकवादी कवियो ने भक्ति को लोकवाद से जोडने का प्रयास किया। रीतिकाल मे सच्चा सौन्दर्य रीतिमुक्त कवियो मे मिलता है जिन्होने 'नारी' के लौकिक प्रवहमान स्वरूप की विविध अभिव्यजनाएँ की और आधुनिक

काल मे भी सारे विकल्पो के लिए बहुत सारे कवियो ने लोक जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति दी। इस तरह के लोगो के लिए मुक्तिबोध लिखते है कि 'इस पक्ष मे हमे कलाकार के मानव व्यक्तित्व का हनन, सौन्दर्य की उपेक्षा और व्यक्ति की अवहेलना दिखायी नही पडती, क्योकि ऐसे कवि को उसी राह पर सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।' (उप0) मुक्तिबोध ऐसी सौन्दर्य दृष्टि के लिए प्राकृत होने की अवस्था को महत्वपूर्ण मानते है, क्योकि 'हमारे सघर्ष भी प्राकृत है। करुणा और क्षोभ भी। हमारे लक्ष्य भी। वे लक्ष्य व क्षोभ जो हमे समस्त पीडित मानवता से एकाकार होने की तरफ प्रवृत्त करते है और उसके उद्धार का रास्ता भी ढूँढते है' (उप0) इसके बाद वे बडी महत्वपूर्ण बात कहते है कि 'आज के जमाने मे प्राकृत होना ही सबसे ज्यादा मुश्किल है कितु जो इस वास्तविक सत्य और यथार्थ के अधिकाधिक समीप पहुँचेगा, जो इसका जितना मर्मिक आकलन व उद्‌घाटन करेगा, वही साहित्यकार समाज और जनता की अधिकाधिक सेवा करेगा और उसके लिए अनन्य सौन्दर्य की सृष्टि करेगा' (उप0)। **स्वयं मुक्तिबोध का और समूचे साठोत्तरी कविता का विकास इसी प्राकृत होते जाने की अवस्था का विकास है जिससे लोक सौन्दर्य का सृजन होता आया है, जिसे हम आगे विवेचित करेंगे।**

प्रख्यात मार्क्सवादी चितक *काडवेल* ने भी अपनी पुस्तक Further study in dying culture मे सौन्दर्य पर इस दृष्टि से विचार किया है। उसने सौन्दर्य को सामाजिक उत्पाद कहा है और माना है कि व्यक्ति जिस वातावरण मे सौन्दर्य का आस्वाद करता है, वह प्राकृतिक की अपेक्षा अधिक सामाजिक होती है। जैसे गर्मी स्थूल पदार्थो के सघर्ष से उत्पन्न होती है और उसके प्रकट होते ही उसमे एक नयी आभा, नयी गति आ जाती है उसी प्रकार सौन्दर्य समाज के ठोस तत्वो से उत्पन्न होकर नयी चेतना ग्रहण करता है। वह मानता है कि व्यक्ति व वातावरण की अतर्प्रक्रियाओ मे सौन्दर्य का जन्म होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि सच्चा सौन्दर्य, मार्क्सवाद के अनुसार, सामाजिक प्रकियाओ की उपज है और यही वह सौन्दर्य है जो जडता के विरूद्ध है। यही दृष्टि आधुनिक समाज के लिए प्रासगिक भी है क्योकि अब सौन्दर्य मनुष्य की सिसृक्षा से जुडा हुआ है। इसी परिप्रेक्ष्य मे *डा० मैनेजर पाण्डेय* लिखते है कि 'समकालीन सदर्भ मे नया सौन्दर्यशास्त्र विकसित करने का उद्देश्य है ऐसा सौन्दर्यशास्त्र विकसित करना जो वर्तमान भारतीय समाज, इतिहास व साहित्य के लिए प्रासगिक हो, जिसमे हमारी कला परम्परा व कला चितन की परम्परा के जनवादी तत्वो का समावेश हो, देशी-विदेशी भाववादी अध्यात्मवादी सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन के जीवन निरपेक्ष कलावादी मूल्यो के भ्रमो एव भटकाओ से बचाव हो और जो समकालीन रचनाशीलता के लिए उपयोगी हो'[54]

इसके लिए वे *तीन* स्तरो के सघर्ष की बात करते है -

1 प्राचीन तथा आधुनिक भारतीय सौन्दर्यशास्त्रीय चितन की भाववादी अध्यात्मवादी परम्परा से, जिसके सस्कार अब भी हमारी कला चेतना मे बसे है, और जनवादी साहित्य के सौन्दर्यबोध मे बाधक होते है। समरसता मे सौन्दर्य देखने वाली दृष्टि सघर्ष मे सौन्दर्य नही देख पाती। पुराने सस्कारो से अवरूद्ध जडीभूत सौन्दर्याभिरूचि, नवीन कलात्मक अनुभवो को स्वीकार करने मे असमर्थ होती है। आत्मवादी आनदमयता के आधार पर कविता मे रस की आनदमयता की खोज करने वाली कलानुभुति वर्तमान समाज की विरूपता का चित्रण करने वाली कला की उपेक्षा ही करेगी।

2 *पाश्चात्य प्रत्ययवादी सौन्दर्यबोध* पश्चिम का सौन्दर्यशास्त्र दर्शन के अग के रूप मे विकसित होने के कारण प्रत्ययवादी दर्शन के तत्ववाद और मूल्य प्रणाली से गहराई तक प्रभावित है। इस प्रत्ययवादी आध्यात्मिकता का भी गहरा प्रभाव है। वस्तुवादी चितन इस प्रत्ययवादी दायरे से पूरी तरह मुक्त होने के बाद ही सभव हो सकेगा।

3- मार्क्सवाद चितन मे समय समय पर उत्पन्न होने वाले भटकाव से।

इसी लेख मे डा0 पाण्डेय आगे लिखते है कि इसी जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि के परिणाम से ही निराला व मुक्तिबोध जैसे रचनाकार अपने समय मे उपेक्षित रहे। उनके अनुसार सौन्दर्यबोध मनुष्य के सामाजिक जीवन के विकास के साथ विकसित होता है। हमारी सामाजिक सवेदनशीलता व सौन्दर्य बोधीय सवेदनशीलता की परस्पर पूरकता से ही हमारी मानवीय सवेदनशीलता विकसित होती है। मानव चेतना को स्वार्थ के सकुचित घेरे से मुक्त करके उसे लोक चेतना से जोडने वाली मुक्तिधर्मी क्षमता के कारण ही हमारी कला सम्पूर्ण सवेदनशीलता का परिष्कार करती आदमी के इसान बनाने का काम करती है' और निष्कर्ष स्वरूप लिखते है कि 'सौन्दर्य की सामाजिक सत्ता व सौन्दर्यानुभूति की सामाजिकता की व्याख्या करने वाला सौन्दर्यशास्त्र ही आज हमारे लिए उपयोगी है, न कि सौन्दर्य की व्यक्तिनिष्ठता व समाज निरपेक्षता को स्वीकार करके वाला साहित्य।'

इस प्रकार हम देखते है कि आधुनिक समय मे सौन्दर्यबोध मार्क्सवाद की इस दृष्टि के सर्वथा अनुकूल है। वस्तुत मार्क्सवाद के अतर्गत, सघर्ष ही सौन्दर्य है और यह सघर्ष बडा व्यापक अर्थ बोधक है। इसमे आत्म सघर्ष व वाह्य सघर्ष दोनो ही है। पारम्परिक सौन्दर्यबोध के लिए समरूपता, सममिति, लयात्मकता इत्यादि जरूरी तत्व माने जाते थे। यदि इनमे सब मे सघर्ष का यह व्यापक तत्व जोड दिया जाय तो निश्चय ही यह आधुनिक समय मे सौन्दर्य को उद्भाषित करने की स्थिति मे होगा। वास्तव मे सघर्ष शब्द मे ही क्रियाशीलता, सवेदनशीलता, तीक्ष्णता, सामूहिकता, व्यापकता, सर्जनात्मकता (भविष्यात्मकता) नवीनता, सोद्देश्यता और तो और सामाजिकता के भाव अतर्निहित है। यही सघर्ष तत्व, जब लोक तत्वो के रचनात्मक सम्पर्क मे आता है

तो लोक सौन्दर्य का सृजन होता है।

4- सौन्दर्य तत्व-

अभी पिछले भाग मे हमने देखा कि सौन्दर्य की पाश्चात्य और भारतीय अवधारणाएँ क्या है और यह भी कि मार्क्सवादी सौन्दर्य दृष्टि इनसे कितनी भिन्न है। उन समस्त परिभाषाओ और विवेचन-विश्लेषणो से यह बात तो स्पष्ट हो चली है कि सौन्दर्य वस्तुगत व आत्मगत दोनो ही है और यह विभाजन आज के समय मे बहुत प्रासगिक नही रह गया है। यह भी हमने देखा कि आज की मन स्थिति के अनुकूल मार्क्सवादी सौन्दर्य दृष्टि ही है, क्योकि इसके कारण सौन्दर्य, लोक मन से सम्पृक्त हो सका है। कह सकते है कि आधुनिक समय मे मार्क्सवादी प्रभाव के कारण ही सौन्दर्य दर्शन की आकाशीय ऊँचाई से लोक मन की जमीनी यथार्थ पर उतरा। यह मार्क्सवादी धारणा किसी साम्प्रदायिक वादगत धारणा से सम्बद्ध न होकर समाज की उन सच्चाइयो से ही सन्नद्ध है, जो आज के मनुष्य को पारिभाषित करती है। यह वस्तुत मानव रचित सौन्दर्य का केन्द्रीय भाव ही है जिसे आज के समय मे बेहद महत्वपूर्ण माना गया है। चूँकि अब सौन्दर्य का स्रष्टा मनुष्य को ही माना गया है, इस कारण से अब वह ही अध्ययन के केन्द्र मे है। वस्तुत इस दृष्टि से सौन्दर्य का विश्लेषण करने पर सौन्दर्य तत्व का पता चल सकता है।

स्वय *डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी* मनुष्य को सौन्दर्य का स्रष्टा मानते है। द्विवेदी जी के अनुसार सौन्दर्य के तीन भाग है।[55]

1- वे सौन्दर्य को सौन्दर्य न मानकर लालित्य मानते है, क्योकि 'प्राकृतिक सौन्दर्य से भिन्न और उसके समानान्तर चलने वाला मानव रचित सौन्दर्य उनकी दृष्टि मे विशेष महत्वपूर्ण है। लालित्य इसलिए कि यह मानव द्वारा लालित है। इससे स्पष्ट है कि

सौन्दर्य की सर्जना मानवीय है और यही सौन्दर्य का आधार है।

2- वे लालित्य मीमासा को 'बधन के विरुद्ध विद्रोह' मानते है। इस प्रकार, जैसा कि डा0 नामवर सिह ने लिखा है, द्विवेदी जी की दृष्टि मे कला और सौन्दर्य की सृष्टि विलास मात्र नही, बल्कि बन्धनो के प्रति विद्रोह मे है जो शास्त्र समर्थित न होकर उनकी क्रातिकारी सौन्दर्यदृष्टि का परिचायक है।

3- उनके अनुसार जैसा कि डा0 नामवर सिह ने लिखा है, सौन्दर्य एक सर्जना है जो मनुष्य की सिसृक्षा का परिणाम है। डा0 द्विवेदी के शब्दो मे- 'भाषा मे, मिथक मे, धर्म मे, काव्य मे, मूर्ति मे, चित्र मे, बहुधा अभिव्यक्त मानवीय इच्छा शक्ति का अनुपम विलास ही वह सौन्दर्य है, जिसकी मीमासा का सकल्प लेकर हम आगे बढे है (7/34)।

इस प्रकार हम देखते है कि डा0 द्विवेदी के अनुसार सौन्दर्य के तत्व है मानव रचित, बधन के प्रति विद्रोह और सिसृक्षा। यह बिल्कुल समाज सापेक्ष सौन्दर्य की अवधारणा के अनुरूप ही है। वस्तुत यही सौन्दर्य, लोक से मिलता है और कविता मे लोक सौन्दर्य की उत्पत्ति करता है। इसी से पता चलता है कि नये समाज का सौन्दर्य क्रियात्मक है और इसीलिए सघर्षशील भी। तब ठीक ही कहा गया है (और जैसाकि प्रगतिवाद ने किया) कि 'नये समाज मे पलने वाला अथवा उसके साथ चलने का प्रयास करने वाला कवि नये उठते समाज मे सौन्दर्य देखेगा। वह सघर्ष से भागकर किसी अतीत लोक के निष्क्रिय सौन्दर्य मे अपना मुँह नही छिपायेगा।' इसलिए जैसाकि प्रसिद्ध रूसी दार्शनिक *चरनीशवस्की* ने कहा है- सौन्दर्य ही जीवन है।

इसी जीवनगत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल* मे भी मिलती है। वे लिखते है कि "सच्चे कवि राजाओ की सवारी, ऐश्वर्य सामग्री मे ही सौन्दर्य नही ढूँढा करते। वे फूस के झोपडो, धूल-मिट्टी मे सने किसानो, बच्चो के मुँह मे चारा

डालते पक्षियो, दौडते हुए कुत्तो और चोरी करती बिल्लियो मे कभी कभी सौन्दर्य का दर्शन करते है जिसकी छाया भी महलो, दरबारो तक नही पहुँचती[56]। इससे स्पष्ट है कि कवि का सौन्दर्यबोध जगत व जीवन के बीच के क्रिया कलापो पर अधिक टिका होता है और खोई हुई मनुष्यता को पकडने की चेष्टा करता है।' इसी मनुष्यता को समय समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य के साथ चली आ रही है और चलती रहेगी। जानवरो को इसकी जरूरत नही। (उप0)' इससे स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल भी सौन्दर्य को मनुष्यकृत मानते है। मनुष्यकृत का आशय यहाॅ पर मनुष्य द्वारा पकडा गया सौन्दर्य ही है।

यह सौन्दर्य, काव्य के विशेष सदर्भ मे वस्तुत काव्य के माध्यम से होता है और यह इतना सशक्त होता है कि हम इसी के माध्यम से किसी वस्तु लोक मे अर्थ भरते है और उसे सार्थकता (लोकानुभूति) प्रदान करते है। इस सौन्दर्य के सदर्भ मे आचार्य शुक्ल ने अपना मत व्यक्त किया है। इसे वे मानव रचित मानते हुए भी इसके भीतरी व बाहरी भेद से वे सहमत नही है। यह उन्हे 'कृत्रिम' जान पडता है। उनके अनुसार-

'जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायेगी। रूप विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर व बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है वही बाहर है।[57]

इस रूप मे आचार्य शुक्ल 'सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नही, मन के भीतर की वस्तु है' के यूरोपीय कला-समीक्षा के सिद्दान्त का निषेध करते है और इसे भाषा का गडबड झाला मानते है। उनके अनुसार जैसे 'वीर कर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नही, वैसे ही सुन्दर से पृथक सौन्दर्य कोई पदार्थ नही।' इस रूप मे वे सौन्दर्य की सत्ता 'पदार्थ' मे ही मानते है, किन्तु इसकी अनुभूति मन द्वारा होती है। इससे यह भी स्पष्ट है कि सौन्दर्य मन की ग्रहणशीलता पर भी आधारित होता है और शायद

इसीलिए ताजमहल की सुन्दरता बच्चो व बूढो के लिए अलग होती है। कुछ रूप रग की वस्तुएँ ऐसी होती है जो हमारे मन मे आते ही थोडी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती है कि उनका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओ की भावना के रूप मे परिणत हो जाते है। हमारी अन्त सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।' (वही) इस प्रकार आकर्षण का कारण तो पदार्थ ही होते है, किन्तु इनकी अनुभूति 'मन' करता है। यही पर आचार्य शुक्ल ने एक बडी महत्वपूर्ण बात कही है कि जिस प्रकार यह जगत रूपमय व गतिमय है, उसी प्रकार मन भी। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे पदार्थ मे 'रूप व गति' होती है, वैसे ही मन मे। यहॉ यह महत्वपूर्ण है कि यह 'गति की सगति' ही, हमारे बढे सौन्दर्यबोध का परिचायक होती है अर्थात "सौन्दर्य की सत्ता मे गति की महत्ता अनिवार्य है।" **पदार्थ को जितनी बारीकी से ही उसकी गति में पकड़ा जायेगा, उतनी ही हमारी परिष्कृत सौन्दर्य रुचि का पता चलेगा। इसी कारण हम कह सकते है कि आधुनिक समय में लोक के सन्दर्भ में लोक सौन्दर्य का अध्ययन हमारी परिष्कृत सौन्दर्य रुचि का अध्ययन ही है। अतः भाव परिष्कार सौन्दर्य का आवश्यक तत्व हुआ।**

कविता इसीलिए केवल पदार्थ की रूपकात्मक अभिव्यक्ति नही है क्योकि तब वह चित्रण मात्र बनकर रह जाता है। निरा स्थूल चित्रण मात्र। इसी को शुक्ल जी कहते है कि 'कविता केवल वस्तुओ के रूप रग मे सौन्दर्य की छटा नही दिखाती प्रत्युत कर्म व मनोवृत्ति के भी अत्यत मार्मिक दृश्य प्रस्तुत करती है' (वही)। रूप के साथ कर्म मनोवृत्ति का दृश्य ही लोक सौन्दर्य की उपस्थिति दर्शाता है। विकसित कमल रमणी के मुखमण्डल का सौन्दर्य रूपात्मक है, जबकि वीरता, त्याग, क्षमा आदि मे कर्म मनोवृत्तियो का सौन्दर्य है। किन्तु यदि किसी पुरुष के मुखमण्डल की सुन्दरता

के साथ वीरता, धीरता, सत्य प्रियता, सक्रियता आदि भी सामने रख दिया जाय तो दोनो सौन्दर्य एक साथ उपस्थित हो जाता है। जैसाकि तुलसी के राम मे मिलता है।' शुक्ल जी तभी कहते है कि 'जिस प्रकार वाह्य प्रकृति के बीच वन, नदी, पर्वत, निर्झर आदि की रूप विभूति से हम सौन्दर्य मग्न होते है, उसीप्रकार अत प्रकृति मे दया, दाक्षिण्य, श्रद्धा-भक्ति आदि वृत्तियो की स्निग्ध शीतल आभा मे सौन्दर्य को लहराता पाते है। यदि कही बाहर व आभ्यतर का सौन्दर्य योग दिखाई पडे, तो फिर क्या कहना।' (वही) इससे स्पष्ट है कि सौन्दर्य के लिए शुक्लजी वाह्य व आभ्यतर का योग महत्वपूर्ण मानते है और इसी से भाव-परिष्कार होता है।

इससे स्पष्ट है कि सौन्दर्य कोई वस्तुनिष्ठ यथार्थ नही है। यह सवेदन है जो किसी वस्तु विशेष के सन्दर्भ मे उद्भाषित होता है। इसीलिए यह गतिशील रहते जीवन से सम्पृक्त रहता है। सच्चा सौन्दर्य समष्टिगत भाव का उद्बोधन करता है जिसके लिए मनुष्य की चेतन क्रिया की आवश्यकता महसूस हुई। चूँकि चेतन क्रिया (चेतन लोक) गतिशील है, अत सौन्दर्य भी गतिशील हुआ। जीवन की गतिशीलता को पकडने हेतु ऐसे ही गतिशील चेतन और सौन्दर्य की आवश्यकता मनुष्य को प्रारम्भकाल से होती आयी है। अत क्रियाशीलता जीवन का अनिवार्य तत्व है। जीवन, साहित्य का। साहित्य सौन्दर्य का। अत 'सौन्दर्य के प्रति जागरुकता जीवन की अनगढता को व्यवस्था, विषमता को समरसता प्रदान करती है[58] स्वय Herbert read कहता है कि 'जीवन के व्यापारो को दमित करना सौन्दर्य का उद्देश्य नही है वरन् उसके भौतिक प्रभुत्व को सृजनात्मक इच्छा शक्ति के वशीभूत करना है। मानव जगत का पुनर्निर्माण करना है ।[59]

इस रूप मे सौन्दर्य का मूल्याकन करने पर पता चलता है कि सौन्दर्य वाह्य नहीं, आतरिक है। वह वस्तु व्यापारो की *आतरिकता* मे विद्यमान होता है। आशय यह

है कि जब कोई 'वस्तु' कला के स्तर पर उठती है, तो वह सामान्य अभिव्यक्ति से अलग होती है। यह अलगाव वस्तुत वस्तु व्यापारो की भीतरी पकड के कारण ही सभव होता है और ऐसी क्षमता किसी कलाकार/रचनाकार मे ही होती है। वस्तु-व्यापारो की यही सूक्ष्मता उसकी आतरिकता है और इसी को ध्यान मे रखकर आई0 ए0 रिचर्ड्स ने सम्प्रेषण की समस्या पर विचार करते हुए एक बडी पते की बात कही है कि सम्प्रेषण सौन्दर्य नही है।' अर्थात् कविता मे केवल अपनी बात पहुँचा देने से कविता, कविता नही हो जाती। कविता को कविता बनाने के लिए उसे सौन्दर्य के धरातल तक उठाना होगा, क्योकि यदि ऐसा नही हुआ तो समाचार पत्रो मे छपने वाले विज्ञापन से लेकर आदोलनात्मक नारे तक कविता माने जायेगे। इस दृष्टि से केवल सामाजिक की अभिव्यक्ति ही लोक के लिए पर्याप्त नही है, उसमे भावगत कलात्मकता भी अपेक्षित है। अब सौन्दर्य क्या है जो किसी रचना को साहित्यिक स्तर प्रदान करती है- 'यह कविता मे तब आता है जब वह सामान्य अभिव्यक्ति से अपने को पृथक कर एक 'रूप' प्राप्त कर लेती है 'और' सच्चा सौन्दर्य जीवन और उसके उन व्यापारो से जो पूरे समान को एक नये ढाँचे मे ढालते है, अलग होने मे नही, बल्कि उनसे अधिकाधिक घनिष्ठ होने मे है[60]। यह घनिष्ठता ही आतरिकता है।

अभी तक के अध्ययन से पता चलता है कि सौन्दर्य वस्तुत एक प्रकार का 'समष्टिगत' भाव ही है, जिससे भाव-परिष्कार होता है। जिससे गत्यात्मकता आती है। जिससे सघर्ष की प्रेरणा मिलती है और यह सब दृष्टा के मस्तिष्क की उपज होता है, जो वस्तु (पदार्थ) से टकराते हुए, उसके गत्यात्मक स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। तात्पर्य यह है कि काव्य मे सौन्दर्य की मात्रा, वस्तु द्वारा छोडे गये 'प्रभाव' पर निर्भर करती है। यह प्रभाव भी दो प्रकार का होता है। पहला- प्रत्यक्ष (तात्कालिक), दूसरा- स्मृतिगत। यह 'स्मृतिगत' प्रभाव ही उस 'वस्तु' की काव्यात्मक अभिव्यक्ति सभव बनाता है, क्योकि

इसी से हम 'वस्तु' को उसकी समस्त आतरिकता मे देख व समझ पाते है। इसके सार तत्व से अवगत हो पाते है। किन्तु इसके लिए प्रत्यक्ष अवलोकन का होना आवश्यक है। इस अवलोकन के बाद ही प्रभाव की स्थिति आती है, क्योकि प्रभाव प्रत्यक्ष का नही होता, उसके स्मृति का ही होता है और जब वह होता है, तब सौन्दर्य का सृजन होता है। *इस रूप मे लोक सौन्दर्य वस्तुत लोक (प्रत्यक्ष) का प्रभाव ही है।*

इस दृष्टि से विचार करते हुए *डा0 रमेश कुतल मेघ* लिखते है कि 'सौन्दर्य वस्तु मे स्थित (निहित नही) होता है, क्योकि हम नही अपितु वस्तु सुन्दर होती है। सौन्दर्य वस्तुगत है (हम से बाहर है) और प्रभाव की विशेषता है जो कला-वस्तुओ द्वारा उत्पन्न होती है'।[61] इस रूप मे सौन्दर्य प्रभाव की विशेषता ही है। यह प्रभाव ही अनुभवादि है। अब चूँकि सामाजिक सास्कृतिक वातावरण के परिवर्तन के साथ हमारी रुचियॉ भी परिवर्तित होती रहती है। अत समाजोन्मुखी कवि मे प्रेषणीयता की प्रमुखता के कारण सौन्दर्य अधिक मुखर रूप से सामने आता है, क्योकि आत्मोन्मुखी कवि मे शुद्ध अभिव्यक्ति की ही चेष्टा रहती है। इसी को सकेत करते डा0 मेघ ने लिखा है कि 'क्लासिकी सौन्दर्यशास्त्र ने शुद्ध सौन्दर्य की खोज मे पहली भूल यह कि इसने असख्य जनता मे पनपते सौन्दर्य मूल्य पर ध्यान ही नही दिया अपितु केवल कलाकृतियो के विषयो व सौन्दर्य परिष्कार तक ही सीमित रहा। क्लासिकी सौन्दर्य शास्त्र ने जिन सिद्धान्तो का निरूपण किया वे उन महान कृतियो पर आधारित थे, जिनकी रचना सदियो पूर्व हो चुकी थी और जिनके युग से सिद्धान्त रचना के युग की समाज व्यवस्था बदल चुकी थी।' . (वही) जाहिर बात है, नयी कलाकृतियो के मूल्याकन मे नये सौन्दर्यमूल्य की मीमांसा वाली बात थोडा जरूरी लगी और इसके लिए लोकाश्रित मूल्यो की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। यही कारण है कि एक ही सीता का बाल्मीकि, भास, भवभूति, तुलसीदास, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त द्वारा अकन परिवर्तित सास्कृतिक पैटर्न का

अनुमान देते है। इससे स्पष्ट है कि समय व समाज की स्थिति के अनुरूप इसका भी विकास होता रहता है और एक स्थिति आती है कि "कूडा करकट सब कुछ भू पर लगता सार्थक सुन्दर" (पत)। यह सौन्दर्य प्रेमचन्द का सौन्दर्य है, जो मालती व होरी मे समान रूप से देखते है। 'प्रेमचन्द' के लिए मालती का सौन्दर्य प्रसाधित रूप होरी के खेत से निकलते समय निकले श्रमकणो से अधिक सुन्दर नही है।[62]

इस तरह से देखने पर पता चलता है कि आरम्भ से लेकर आज तक सौन्दर्य का विकास अलौकिक से लौकिक सत्ता की ओर होता रहा है। लोकोत्तर से लोकोन्मुखी होते सौन्दर्य का कारण वस्तुतः संघर्ष की ओर होते विकास का ही परिणाम रहा है।

सौन्दर्य की यह 'प्रभाव' जैसी व्याख्या उसके शाब्दिक उत्पत्ति मे भी देखी जा सकती है। सौन्दर्य शब्द सुन्दर से बनने वाली भाववाचक सज्ञा है। वाचस्पत्कोश के अनुसार 'सु' उपसर्गपूर्वक 'उन्द' मे 'अरन' प्रत्यय के योग से 'सुन्दर' शब्द बना है जिसका अर्थ हुआ 'अच्छी तरह आर्द्र करने वाला'। शब्द कल्पद्रुम के अनुसार सुन्दर का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है- 'आर्द्रीं करोति चित्त मिति' (पचमखण्ड पृ0 373) अर्थात 'जो चित्त को भली प्रकार आर्द्र करता हो।' लेकिन बाद मे सौन्दर्य, सुन्दर का पर्याय न होकर बहुत सारे पर्यायो से जुडा। अत उसका अर्थ भी बदला है। लेकिन प्रभाव वाला अर्थ भी प्रमुख रूप से माना जा सकता है।

वस्तुत सौन्दर्य की अवधारणा हमारे लिए उसकी *गत्यात्मकता* से ही रही है। पक्षियो का उडना, बादल का घुमडना, पानी का बढना, धूप का चढना व उतरना आदि प्रकृति के गतिशील पक्ष है। ठीक यही स्थिति मनुष्य की भी है। ग्रामीण लोग शहर की ओर भाग रहे है और उस भागने मे उनकी क्या स्थितियाँ है इसका जिक्र होना जरूरी है। इस कारण सौन्दर्य हमारे लिए एक प्रकार का दृष्टिबोध है,

जो लोक को उसके सगठनात्मक स्वरूप मे देखता है। इसमे मनुष्य है, प्रकृति है, पशुपक्षी है। मनुष्य अपने परिवेश से कैसे जूझता है। यह यहाँ के केन्द्र मे है। इस तरह से सौन्दर्य मूल्यपरक, दृष्टिपरक व वस्तुपरक होता है। *मूल्यपरक* सौन्दर्य का अर्थ है कोई वस्तु सुन्दर तभी होगी जब वह किसी आदर्श के अनुकूल होगी। *वस्तुपरक* सौन्दर्य से आशय है कि सौन्दर्य पूर्णत तटस्थ होगा, स्थिर होगा। ऐसी वस्तु सभी को सुन्दर लगनी चाहिए। *दृष्टिपरक* का अर्थ है एक निश्चित दिशा की ओर गतिशील सौन्दर्य। अत इसमे एक दृष्टि होगी, जो लोक के विस्तार मे ही अपना मगल देखेगी। यह आदर्श (मूल्य) व तटस्थता (वस्तु) दोनो से ही युक्त होगी। लोक के सन्दर्भ मे हमे इसी सौन्दर्य की जरूरत है।

अब *सौन्दर्य की ऐतिहासिक स्थिति* पर थोडा विचार करना जरूरी हो जाता है। दरअसल यह तो समय की पुकार है कि सौन्दर्य का प्रवाह लोकोत्तर से लोकोमुखी होता गया है, क्योकि जैसे जैसे मनुष्य के जाग्रत विवेक के कारण धर्म की सत्ता कम होती गयी है, वैसे वैसे 'वस्तु' का अपना सौन्दर्य बढता गया है और स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि अब 'वस्तु' के भीतर ही सौन्दर्य दिखायी देने लगा है जिसका आशय यह है कि सौन्दर्य मानव सृजित है, अत ललित है और इसी कारण हर वस्तु का अपना सौन्दर्य है। अत सौन्दर्य वस्तुगत है, वस्तुनिष्ठ नही जिस कारण से आज के समय मे छोटी छोटी उपेक्षित चीजे भी हमारे अध्ययन के केन्द्र मे आ गयी है और अपने प्रभाव के अनुसार काव्य मे स्पदित होती रहती है।

हिन्दी कविता के विधान मे सौन्दर्य की सत्ता का यदि विवेचन करे तो पायेगे कि मध्यकाल तक सौन्दर्य दृष्टि शरीर सौष्ठव के ऊपर नही उठ पायी थी, क्योकि जहाँ कुछ जगह (भक्तिकाल) इसका आदर्श देवी देवता अवतारी पुरुष होते थे, दूसरी ओर रीतिकाल मे अपनी अपनी प्रेयसियाँ। निश्चय ही भक्तिकाल का सौन्दर्यबोध मिथको

मे घुला मिला होने के कारण लोकधर्मी था, किन्तु इसका जो रुझान था, वह आदर्शवादी ही रहा, जिसे एक प्रकार का रीतिवाद (रीति के विशेष अर्थ मे) ही कहा जा सकता है। सौन्दर्य का यह लौकिक विधान, अलौकिक सत्ताओ पर आधृत था। आधुनिक काल मे मनुष्य ही सौन्दर्य के केन्द्र मे आ गया जहॉ 'मानव तुम सब मे सुन्दरतम' की बात कही जाने लगी। यहॉ पर जन जीवन की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृति हुई और सौन्दर्य का रूढ पक्ष समाप्त हुआ। एक प्रकार की 'गत्यात्मकता' इस सौन्दर्य के प्रमुख लक्षण के रूप मे उभर कर सामने आयी। एक का सौन्दर्य दूसरे के लिए मानक नही बना और इस तरह हम कह सकते है कि **आधुनिक काल का पूरा विकास सौन्दर्य के मानकीकरण से निजात पाने की दिशा में होता रहा है और यह ध्यान देने की बात है कि जैसे जैसे हम इसमें सफल होते गये है, वैसे वैसे जीवन के वैविध्य का पता पाते गये है और यह वैविध्य अंततः वही जाकर ठहरता है जहॉ पर लोक मन का अक्षय भण्डार है।**

और इस रूप मे यह सौन्दर्य इतना सजीव बन गया है कि हर 'वस्तु' हमारे लिए मूल्यवान बन गयी क्योकि हम वस्तु को उसकी पूरी आतरिकता मे देखने लगे। इस रूप मे सौन्दर्य तो 'विशेष' (वस्तु) ही हुआ है । हाँ, उसकी भावभूमि सामान्य रही। यही *'विशेषीकृत सामान्य'* है। यह 'सामान्यीकृत विशेष' नही है जैसा कि भक्तिकाल मे होता है जहाँ सत्ता तो विशेष की ही रही थी। हाँ उसे सामान्य तक उतारा गया था। यह 'विशेषीकृत सौन्दर्य' ही, लोक से जुडने के बाद लोक सौन्दर्य का सचार करता है, क्योकि यहाँ पर हर सामान्य उसके विशेष रूप मे पकडा गया। सामान्यों का यह विशेषीकृत रूप वस्तुत समाज की विविधता का लक्षण ही है, जो लोक के वैविध्य का पता देता है।

5- लोक सौन्दर्य-

पिछले अध्ययन मे हमने *'लोक' के बदलते सौन्दर्य और 'सौन्दर्य' के बदलते लोक* के सन्दर्भ से यह स्पष्ट करने की कोशिश की कि आधुनिक काल तक आते आते 'लोक' का पारम्परिक अर्थ बदलकर वह 'सामान्य' से 'विशेष' पर बल देता है जिससे लोक जीवन के पारम्परिक अर्थो मे बदलाव आता है और निरा मनुष्य पूरे अध्ययन के केन्द्र मे हो गया है और कैसे सौन्दर्य, आधुनिक काल मे आध्यात्मिक सत्ता से हटकर लोकोन्मुखी हो गया है जिसे हमे 'विशेषीकृत सामान्य' कहा है। वस्तुत आधुनिक समय तक आते आते लोक और सौन्दर्य, दोनो ही अपनी बहिरग अवस्थितियो से मुक्त होकर 'अभिकेन्द्रिक' (Contrıpetal) हो जाते है। हम समझ सकते है कि लोक जीवन की रूढिवादिता, विश्वास, अध-परम्पराये, रीतियॉ इत्यादि यहाँ तक आते आते विलुप्त हो जाती है और रह जाता है केवल मनुष्य। पहले इन्ही बहिरग स्थितियो से उसका मूल्याकन होता था, जो अपूर्ण था। अब इस मनुष्य से उन स्थितियॉ का मूल्याकन होता है। ठीक यही घटना सौन्दर्य के साथ घटित होती है और तब काव्य मे लोक सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है। वस्तुत ये कुछ प्रेरक परिस्थितियॉ ही रही है कि आज के समय मे लोक का प्रभाव व लोक के सौन्दर्य मे कोई विशेष अतर नही रह जाता क्योकि प्रभाव ही वस्तुत लौकिक है और लौकिक ही वस्तुत प्रभाव है। इस तरह से लोक और सौन्दर्य आधुनिक समय मे एक दूसरे के निकट आते है और यह प्रवृत्ति स्वतत्र भारत की हिन्दी कविता मे बढती गयी है। (हम देखेगे कि साठोत्तरी कविता मे इसी कारण से यह प्रवृत्ति बढती गयी है, क्योकि समूचा काव्य, लोकानुभूति परक हो गया है। व्यक्तिनिष्ठता जैसा कुछ भी नही रहा। हाँ, कवि प्रतिभा के कारण दोनो की गुणवत्ता मे अतर होना दूसरी बात है।)

अब जहाँ तक लोक सौन्दर्य की बात है तो कविता मे सीधे सीधे इसको परिभाषित

करना न ~~केवल~~ कठिन है, बल्कि अप्रासगिक भी है, क्योकि लोकमन से जुडे कवियो का भी अपना अपना मूड होता है। कोई कुछ लेकर चलता है, तो कोई कुछ। फिर भी सामान्य बातचीत मे हम कह सकते है कि यह एक प्रकार का 'विशेष प्रभाव' ही है जो लोक (वस्तु) द्वारा कवि के मानस पटल पर (प्रभाव) अकित होता है और कविता मे अवतरित होता है। चूँकि लोक सौन्दर्य की उत्पत्ति आधुनिक कविता के सन्दर्भ से महत्वपूर्ण है, अत हम वर्तमान समय की परिस्थितियो को देखते हुए कह सकते है कि-

"लोक सौन्दर्य ग्रामीण और शहरी जीवन में रह रहे अपेक्षाकृत पिछड़ी जनता के जीवन व परिवेश (मिथक, घर-परिवार) के यथार्थ की काव्य मे भावगत (इच्छाजन्य व सर्जनात्मक) अभिव्यक्ति है, जिसमें सामान्य के प्रतिष्ठा की सस्कारगत उत्कट लालसा बनी रहती है और साथ ही साथ ग्रास रूट पर धीमी गति से चल रही अमानवीकरण की क्रिया के विविध रूपो की पहचान संभव होती है और इससे मुक्ति की संभावना निर्मित होती है-

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि ऐसा कविताओ मे अभिव्यक्ति *सस्कारगत* होती है, जिससे उसमे कृत्रिमता न आने पाये जो कि सिद्धान्तो के कारण आ जाती है। *अमानवीकरण* से तात्पर्य निचले स्तर पर हो रहे है 'शोषण की पहचान' से है, जो स्वतत्र भारत मे अधिक हुआ है और इसकी पहचान करके इससे मुक्ति की इच्छा भी है, जिसके लिए 'सघर्ष' अपेक्षित है। इसके अलावा यह भी कि यह लोक गाँव व शहर दोनो मे फैला हुआ है। यह अभिव्यक्ति *'भावगत'* है जो कि सर्जनात्मक है, जिसमे सामूहिकता की भावना है, जो कि अपने जैसे औरो के भी (इच्छाजन्य) कल्याण की कामना रखती है।

इस तरह से 'लोक सौन्दर्य, समग्र लोक को उसकी गतिशीलता मे दर्ज करने

की प्रक्रिया है, जिसमें मनुष्य व प्रकृति, दोनों में जड़ता के प्रति एक प्रकार का विद्रोह है। यहाँ मनुष्य व प्रकृति दोनों की क्रियाओं के गतिशील बिम्ब है। इसी कारण, जैसा कि डा0 नामवर सिंह ने लिखा है, 'लोक सौन्दर्य में लोक संस्कृति के सभी क्रियमाण तत्व मिल जाते हैं।[63] इसमें 'संचय का विकार नहीं मिलता, आत्मदान का सहज रूप मिलता है।[64] अत: सात्विक सौन्दर्य वहाँ मिलता है, जैसा कि डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, जहाँ चोटी का पसीना ऐड़ी तक आता है और नित्य समस्त विकारों को धोता रहता है।

अब यदि हम 'लोक सौन्दर्य' की कुछ विशिष्टताओं की ओर ध्यान दें तो उसके निम्न रूप सामने आते हैं।

1- यह प्रभाव व गतिशीलता युक्त है-

वस्तुत: लोक का साधारण अर्थ प्रत्यक्ष हैं, किन्तु यदि प्रत्यक्ष को ही अलग अलग खण्डचित्रों में दिखाया जायेगा, तो कविता का कोई मतलब नहीं रह जायेगा क्योंकि फिर इससे इन प्रत्यक्ष के बीच कार्य करने वाले अनिवार्य अंत: सूत्रों का पता ही नहीं चलेगा जो कि किसी रचना का ध्येय होता है। अत: यहीं पर सौन्दर्य की बात आती है। प्रभाव की बात आती है। अभिव्यक्ति की बात आती है।

अत: यह तो स्पष्ट हुआ कि कविता में लोक सौन्दर्य के लिए देखना (प्रत्यक्ष) जरूरी है। लेकिन सबका देखना तो देखना होता नहीं, क्योंकि आँखें ठीक न हो, मन विचलित हो, तो देखने पर भी असर पड़ता है। इसके लिए जरूरी है कि अन्तर व बाह्य दोनों निर्मल हो, राग द्वेष से मुक्त हो, आदि। ऐसा देखना कवि होना है क्योंकि वह 'हृदय की मुक्तावस्था' होती है। उसमें भी अच्छा कवि ही यह कार्य कर सकता है क्योंकि देखे हुए के अलावा, उसे दिखाये जिस पर किसी और की नजर

नही है क्योकि इसी कारण वह सर्जक कहलाता है, जो कि Construct करता है। इसी को डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी 'समग्रभाव की अनुभूति' कहते है। इसे वे दृष्टि सापेक्ष व दृष्टि निरपेक्ष दोनो मानते है। लालित्य तत्व मे वे लिखते है "सुन्दर एक समग्रभाव की अनुभूति है। क्या वह दृष्टि सापेक्ष है? कुछ हद तक दृष्टि सापेक्ष है, इसमे कोई शक नही, किन्तु सब समय उसे ऐसा नही कहा जा सकता। कालिदास ने जब कहा था- "किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम" (कौन सी वस्तु है जो मधुर आकृतियो का मण्डन नही बन जाती) तो क्या उन्होने यह नही कहना चाहा था कि सुन्दर सब अवस्थाओ मे सुन्दर ही होता है। वस्तुत कालिदास ने दो बाते लक्ष्य की थी- (1) सुन्दर सबके लिए सुन्दर होता है (2) उसके लिए अधिक सुन्दर होता है, जिससे उसका लगाव होता है।' (पृ0 10) लेकिन डा0 द्विवेदी सौन्दर्य को दृष्टि सापेक्ष भी मानते है क्योकि प्रभाव का अन्तर भिन्न होता है। वे सौन्दर्य का एक मानवीय स्तर मानते है, अर्थात समान भाव से समग्रता का बोध होना।' उनके अनुसार, जिसके चित्र मे ममत्व का लगाव अधिक है, उसके लिए किसी वस्तु का आकर्षण अधिक हो सकता है।

इसको देखने से पता चलता है कि सौन्दर्य को वे समग्रता की अनुभूति मानते है और इसके दो रूप है[65]- *पहला* वह जो हमे अभिभूत करती है। जैसे लाल रग का गुलाब का फूल। अब यहाँ पर गुलाब तो लाल है, किन्तु लाल तो और भी कई चीजे होती है। तब लाल से गुलाब का बोध कैसे होगा? यही पर भाषा की सीमा स्पष्ट होती है, अर्थात् जो प्रत्यक्ष (लोक) है, उसे कैसे पकडा जाय और तब *दूसरा* रूप दिखाई देता है, जिसमे पहली सीमा से निपटने के लिए मनुष्य की इच्छा, भाषा की सीमा से टकराती है। यह ही वास्तविक सौन्दर्य का सृजन करती है। इसी से वह प्रत्यक्ष के बीच एक अन्त. सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश करती है। अपनी

अनुभूति को जब भाषा सीधे प्रकट नही कर पाती, तो वह उपमा का, वक्रता का, हाथ के घुमाने आदि का सहारा लेती है जिसमे सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है क्योकि एक वस्तु अन्य से जुडकर भाव प्रकट करती है।

इस रूप मे पहला जहॉ प्राकृतिक है, दूसरा मानवीय इच्छा शक्ति से उद्भूत है। पहला देश है, दूसरा काल है। पहला क्रिया है, दूसरी इच्छा है। पहली स्थिति है, दूसरी गति है। पहला केवल अनुभूति देकर विरत हो जाता है, दूसरा अनुभूति से उत्पन्न होकर अनुभूति प्रक्रिया का निर्माण करता है। काव्य मे इसी मानवीय इच्छाशक्ति का अनुपम विलास ही सौन्दर्य है, ऐसा डा0 द्विवेदी मानते है। इससे स्पष्ट है कि लोक सौन्दर्य मे 'प्रत्यक्ष और मानवीय इच्छा शक्ति' का योग रहता है। यह सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक होता है। इस रूप मे लोक अनुभूति का कारण है और अनुभूति की प्रक्रिया ही सौन्दर्य है।

तब यह ठीक ही है कि जैसे जैसे लोक का अर्थ बदलता है, उसकी अनुभूति प्रक्रिया मे बदलाव आता है और जाहिर बात है यह स्थिति ही कविता मे लोक सौन्दर्य की उपस्थिति को दर्ज करती है। स्वतन्त्र भारत की हिन्दी कविता मे यह बदलाव प्रभाव व गति के रूप मे बहुत स्पष्ट है, जहॉ लोक का चित्रण 'चित्र' रूप मे नही होता क्योकि ये कवि समझते है कि कविता फोटो नही है। उसमे चित्त का, इच्छा का भी समान योगदान होता है। अत सौन्दर्य व्यक्ति निरपेक्ष हो नही सकता। इसमे व्यक्ति सापेक्षता का भाव स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। एच0 गोम्ब्रिख ने अपनी पुस्तक Art and Illusion (पृ0 55) पर लिखा है- 'एक बार जर्मन चित्रकार लुडविग रिखतर अपने तीन मित्रो के साथ तिबोली की सुप्रसिद्ध सुन्दरस्थली को ऑंकने गया था। इन चित्रकारो के हाथो मे कठोर नोक वाली पेसिल थी। उसी समय कुछ फ्रासीसी चित्रकार भी वहॉं आ गये। जर्मन चित्रकारो ने अचरज भरी दृष्टि से उनके सामानो

को देखा। इन चित्रकारो ने बडी सूक्ष्मता के साथ उस रम्यस्थली की प्रतिकृति को आँका। उन्होने एक एक घास का व्योरेवार चित्रण दिया। चित्र मे प्रस्तुत हो जाने के बाद चारो मित्र बारी बारी से मिलान करने लगे। उन्हे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि चारो मित्र भिन्न थे।[66] यह पढकर गोम्ब्रिख ने लिखा है कि उसे एमिला जोला की कला विषयक परिभाषा याद आ गयी जिसे जोला ने किसी कलाकृति को किसी विशिष्ट मानसिक शक्ति द्वारा देखा हुआ प्रकृति का एक कोना कहा था।

इससे स्पष्ट है कि सौन्दर्य कोई जड वस्तु नही है और चूँकि काव्य भी जड नही होता है अत लोक सौन्दर्य जनित काव्य भी गतिशील होगा। यही कारण है कि हमारे अध्ययन का विषय लोक पक्ष (सामाजिक), लोक चेतना (दार्शनिक), लोक रूप (राजनैतिक) आदि न होकर लोक सौन्दर्य (साहित्यिक) ही है।

2- यह लोक मानस की भावगत अभिव्यक्ति है-

जिस तरह से लोक तन्त्र लोक मानस की राजनैतिक अभिव्यक्ति है, वैसे ही लोक सौन्दर्य लोक मानस की भावगत अभिव्यक्ति है। जैसे राजतन्त्र की तुलना मे लोकतन्त्र का विकास अधिक जटिल और गूढ होता है, वैसे ही शिष्ट सौन्दर्य की तुलना मे लोक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अधिक जटिल होती है। जैसे लोक तन्त्र सत्ता के विकेन्द्रीकरण की ओर उन्मुख होता है, वैसे लोक सौन्दर्य साहित्य के विकेन्द्रीकरण को अपनाता है। और यह हमारे लिए अत्यन्त रोचक है कि स्वतन्त्र भारत मे **जैसे जैसे सत्ता के विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती गयी है, वैसे वैसे साहित्य का विकेन्द्रीकरण (लोकोन्मुखता) भी बढ़ता गया है।** यह बात और है कि सत्ता के सन्दर्भ मे यह छलावा है, तो साहित्य के सन्दर्भ मे यथार्थ। साठोत्तरी कविता मे लोक सौन्दर्य का यह मूल मन्त्र है। यह भी ध्यातव्य है कि जैसे लोक तन्त्र के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया

मे राज सत्ता से परस्पर सवाद-विवाद चलता रहता है और कई सरचनात्मक जटिलताएँ उत्पन्न होती है, वैसे साहित्य के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया मे "शिष्ट सत्ता से परस्पर सवाद होता रहता है और कई भावगत जटिलताएँ उत्पन्न होती है।" इस तरह से जहॉ पचायती राज आज के लोकतन्त्र की अनिवार्यता है, वहाँ लोक सौन्दर्य भी कविता (साहित्य) की अनिवार्यता है। जैसे पचायती राज (सार्वजनिक वितरण प्रणाली के विशेष सदर्भ से) कभी कभी छलावा हो सकता है और केवल कागजी प्रक्रियाओ मे दिखायी पडता है। वैसे लोक सौन्दर्य भी छलावा हो सकता है और रचना प्रक्रिया मे दिखायी देता रहता है।

(आज साठोत्तरी हिन्दी कविता मे बहुत सारी कविताएँ इसी छलावे का सकेत देती है जिनमे लोक शब्दो को ठूॅस ठॉस के भरे जाने की प्रवृत्ति है ताकि पचायती राज के कागज की तरह, उन्हे कही से भी पकडे जाने का खतरा उत्पन्न न हो। ऐसी स्थिति मे हमारा यह दायित्व बनता है कि हम देखे कि ऐसे कवि कौन से है, जो समाज के लिए उपयोगी कम है और अपने लिए ज्यादा! ठीक पचायती राज की तरह, जिनकी सामाजिक उपयोगिता पर ध्यान दिये जाने की जरूरत है। समय आ गया है इनकी दुकानो को हम निरस्त कर दे, जिनके घरो मे सिर्फ 'तराजू' दिखायी देती है। सामान गायब रहता है। कुछ कुछ 'थोडे दिन बाद' जैसा। कहना न होगा कि आज के बहुत से कवि इसी दुकान को चलाने के लिए हाथ-पॉव मारा करते है और जैसे जैसे असफल होते है वैसे वैसे समीक्षको/आलोचको के फेरे लगाया करते है।)

3- यह लोक सस्कृति का विकसित सौन्दर्यबोध है-

हिन्दी साहित्य का इतिहास वस्तुत. सप्रभु सस्कृति एव अधीनस्त सस्कृति के बीच

की अन्तर्क्रियाओ का इतिहास रहा है और अधीनस्थ सस्कृति जब जब कमजोर हुई है, तब तब उसमे रहस्यात्मक प्रतीकात्मकता, गूढता का आशय बढता ही गया है और जब जब वह अपने को सबल पायी है तब तब उसमे तीव्रता और पारदर्शिता की झलक मिलती गयी है। लोक सस्कृति के विकास का इतिहास भी यही है और लोक सौन्दर्य का आशय भी इसी से खुलता है जिसमे सौन्दर्य उत्तरोत्तर सघर्ष की ओर बढता है। लोक का यह सघर्षशील पक्ष आधुनिक कविता मे 'निराला' से आरम्भ होकर उत्तरोत्तर बढता गया है क्योकि राजनैतिक व्यवस्था ने भी 'लोक' की मजबूती को बढाने मे मदद की है, जिसका ऊपर हम उल्लेख कर चुके है।

इस रूप मे लोक सौन्दर्य वस्तुत लोक सस्कृति का विकसित सौन्दर्य बोध ही है। इसी कारण से, आज की पूँजीवादी व्यवस्था मे लोक सस्कृति के पुराने रूपो की अनुपस्थिति और नये की उपस्थिति पायी जाती है। उदार पूँजीवाद जब लोक तन्त्र के विकेन्द्रीकरण से मिला, तब लोक सस्कृति के विकास हेतु बदले सदभो के अनुकूल स्थितियाँ मिली जिससे उसमे गत्यात्मकता आ गयी।

इस रूप मे यह लोक सौन्दर्य विकासशील लोक सस्कार पर ही आश्रित है। यह सस्कार परम्परागत होकर भी रूढि का पर्याय नही है। यह गतिशील, व प्रसार-प्रवण है। आनन्द व मगल उसके ध्येय है किन्तु यह व्यक्तिमानस का न होकर लोक मानस का ही होता है और इसलिए उसमे आनन्द की साधनावस्था (करुणा) व आनन्द की सिद्धावस्था (प्रेम) दोनो के रूप मिलते है। इसी कारण से खेतो मे, झिलमिलाती धूप मे, भीगते हुए वर्षा मे, ठिठुरते हुए जाडो मे, गावो चौपालो मे, सुलगते हुए कौडो के चारो बैठे लोगो तक मे यह सौन्दर्य दिखलायी पडता है, जिनमे प्राकृत होते जाने की अवस्था का विकास दिखलायी पडता है।

4- यह सघर्ष प्रधान है-

दरअसल लोक मानस की दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ, उछलती कूदती, समयानुसार बदलती, अभी तक चली आई है-

1- सघर्ष प्रधान विद्रोही चेतना

2- चरित नायकत्व, जिसमे पौराणिक व कल्पित दोनो है।

इसे हम आदिकाल के सिद्धो-नाथो व रासो काव्यो मे, रीतिकाल के दरबारी कवियो मे और आधुनिक काल के प्राय हर युग मे हम कम-अधिक मात्रा मे पा सकते है। सघर्ष प्रधानता तो रीतिकाल को छोडकर सदैव विद्यमान रही है। चरित काव्यात्मकता हर समय मे रही है। किन्तु आधुनिक समय मे, हिन्दी कविता मे यह सघर्ष जहाँ दो स्तरो पर दिखायी देता है। आत्म-सघर्ष व बाह्य सघर्ष, वही चरित नायकत्व का रूप सामान्य मनुष्य अपने विशेष सदर्भ मे लेता है। इस तरह से यह प्रवृत्ति बढती गयी है और साठोत्तरी हिन्दी कविता मे दोनो की लोकोन्मुखी रुझान का पता चलता है। यह कहना यहाँ पर अप्रासगिक न होगा, कि निराला से ही इसका आरम्भ हो चुका था और उसमे भी उनकी कविता तोडती पत्थर विलक्षण है, जिसका अलग से विश्लेषण किया जा रहा है।

इस तरह से लोक सौन्दर्य से आशय हमारा किसी भी कविता मे पाई जाने वाली निम्नलिखित विशेषताओ से होता है-

1- सघर्ष प्रधान जीवन की स्वीकृति

2- स्थानीयता का रग

3- यथार्थ से सीधा साक्षात्कार

4- मानवीय शोषण के जटिल रूपो की पहचान

5- जीवन के प्रति आस्थावादी दृष्टिकोण

6- प्राकृतिक सौन्दर्य की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति

7- लोक रूढि को तोडने का प्रयास (प्रकृति मे जैसे निराला व नागार्जुन ने तोडा)

8- ऐन्द्रिक ताप व वैचारिक तनाव

9- कर्म सौन्दर्य की पहचान

10- विकसित सौन्दर्यानुभूति (स्थूल + गति)

इसके अलावा कुछ विशेष लक्षण है-

1- चरित प्रधानता- पहले जहाँ महान पुरुष इसके केन्द्र मे होते थे, साठोत्तरी मे आम आदमी होता है। उदाहरण के लिए निराला की 'पत्थर तोडती' युवती और त्रिलोचन की 'चम्पा'।

2- प्रेम प्रसग के धरातल पर जन साधारण के भाव सवेदन से युक्त होता है, काम क्रीडा वृत्ति की उन्मुक्तता न होकर थोडी नियन्त्रित मर्यादा होती है, स्थूल विवरण न होकर सूक्ष्म सकेत होते है। कुल मिलाकर स्वच्छन्दता तो होती है, उन्मुक्तता नही। नागार्जुन की कविता 'सिदूर तिलकित भाल' इसका अच्छा उदाहरण है।

इस तरह हम देखते है कि लोक सौन्दर्य लोक जीवन की बदली मन स्थितियो और उसकी काव्य मे सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के रूप मे आता है। मतलब चरित्र व प्रकृति दोनो ही गतानुगत से मुक्त होकर आते है, जिसमे अभिजनवादी दृष्टिकोण का नकार है। यह सब 'निराला' मे एक साथ मिलता है, जहाँ कविता खुलती नही, बढती है। इस रूप मे कविता की जीवन से तदात्मकता ही कविता मे सौन्दर्यवृद्धि का कारण हुआ करती है। इसीलिए लोक जीवन की कविता मे जितनी अनगढता होती है, उतनी

ही सामजस्यता भी होती है। जितना खुरदुरापन, उतनी चिकनाई। इस तरह की कविताओ मे एक प्रकार का 'निजत्व' (Involvement) होता है जिस कारण से कविता का लौक-सौन्दर्य निजत्व के सौन्दर्यबोध से भी जुड जाता है। इसे हम कबीर, जायसी, तुलसी मे देख सकते है तो आधुनिक समय के निराला, मुक्तिबोध, धूमिल आदि मे। इन कवियो मे 'निर्वाह' की जगह 'निर्माण' की चेष्टा अधिक दिखायी देती है।

इसी 'निर्माण' के कारण कविता मे 'सामुदायिकता' की भावना भी जन्म लेती है जिसमे जनोन्मुखी स्वर, आशावादिता, क्रातिदर्शिता, सघर्षधर्मी चेतना के साथ 'जनभावना' का सामूहिक स्वर स्पष्ट होकर लोक सौन्दर्य का सृजन करता है।

अब यदि हम साठोत्तरी हिन्दी कविता के सदर्भ मे देखे, तो पायेगे कि बढते सौन्दर्यबोध का पहला परिणाम तो यही रहा कि कविता मे अश्लीलता कम होती गयी है, क्योकि इसी लोक सौन्दर्य युक्त कवियो ने अकवितावादियो से सघर्ष किया। इस रूप मे इन कवियों ने लोक का सहारा लिया और लोक सौन्दर्य की निष्पत्ति से कविता को सीधे निराला से जोड दिया। अत लोक सौन्दर्य सम्प्रेषण को बढाता है, कविता को देश व काल दोनो मे बढाता है और अश्लीलता को कम करता है। अब चूँकि साठोत्तरी के इन लोक धर्मी कवियो के प्रेरणा स्रोत 'निराला' रहे है। अत उनकी कुछ कविताओ के माध्यम से लोक सौन्दर्य को समझा जा सकता है।

इस दृष्टि से निराला की कविता ***'वह तोड़ती पत्थर'*** बेहद मार्मिक कविता बन पडी है, जिसको यहाँ पर विश्लेषित करते हुए यह देखने का प्रयास करेगे कि किस तरह इसमे लोक सौन्दर्य की सभी विशेषताएँ अतर्भुक्त है।

यह कविता 'तोडती पत्थर' सन् 1937 की 4 अप्रैल को लिखी गयी है। यह 'द्वितीय अनामिका' मे सकलित है। कविता यूँ है-

वह तोडती पत्थर

देखा उसे मैने इलाहाबाद के पथ पर-

वह तोडती पत्थर।

कोई न छायादार

पेड वह जिसके तले बैठी हुयी स्वीकार,

श्याम तन, भर बॅधा यौवन

नत नयन, प्रिय-कर्म-रत-मन,

गुरु हथौडा हाथ,

करती बार बार प्रहार-

सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।

चढ रही थी धूप,

गर्मियो के दिन

दिवा का तमतमाता रूप,

उठी झुलसाती हुयी लू

रूई ज्यो जलती हुई भू,

गर्द चिनगी छा गई

प्राय हुई दुपहर-

वह तोडती पत्थर।

देखते देखा मुझे तो एक बार

उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार-

देखकर कोई नही

देखा मुझे उस दृष्टि से

जो मार खा रोई नही,

सजा सहज सितार

सुनी मैने वह नही जो थी सुनी झकार

एक क्षण के बाद वह कॉपी सुघर

ढुलक माथे से गिरे सीकर

लीन होते कर्म मे फिर ज्यो कहा-

'मै तोडती पत्थर'।

इस कविता का विश्लेषण यदि लोक सौन्दर्य की दृष्टि से किया जाय तो कुछ विशेष बाते स्पष्ट होगी। हम कह आये है कि लोक सौन्दर्य का आशय लोक जीवन के सौन्दर्य से ही है जिसके व्यक्त होने के लिए विविध माध्यम की जरूरत होती है। कुछ 'सौन्दर्य', 'श्रम' के माध्यम से व्यक्त होता है, कुछ 'प्रकृति' के माध्यम से, कुछ 'प्रति कृति' के माध्यम से, कुछ 'चरित्रो' के माध्यम से और कुल मिलाकर 'कर्म' माध्यम से। इस कारण सौन्दर्य चाहे जिस माध्यम से व्यक्त हुआ हो, वह कुछ न कुछ कर रहा होता है जो, उसकी आत्यतिक 'गतिशीलता' को व्यक्त करता है। यह कुछ 'प्राप्ति' का भाव जागृत करता है जो कि समूहगत व स्थायी होता है।

अब यदि इन बिन्दुओ को 'तोडती पत्थर' कविता से जोडे तो हम इसमे प्राय सभी विशेषताओ को देख व समझ सकते है। कुछ सूत्र द्रष्टव्य है-

1- *यहाँ चरित्रो का लौकिकीकरण है-* हिन्दी कविता के लोकधर्मी स्वरूप का मूल्याकन करते हमने यह बात उठाई है कि निराला 'भाव' के स्तर पर कबीर के और 'सम्प्रेषण' के स्तर पर तुलसी के निकट पहुँचते है और इस कारण सभव है कि उनमे किसी 'तीसरी परम्परा' के गुण-सूत्र मौजूद हो। यह बात निराला की छोटी कविताएँ और उसमे भी 'तोडती पत्थर' कविता पर अक्षरश लागू होती है क्योकि यह वह कविता है जो परम्परा से चले आते आध्यात्मिक/पौराणिक चरित्रो का लौकिकीकरण करती है।

बल्कि यह कि आध्यात्मिक व मिथक चरित्रो को सामान्य आदमी के स्तर तक पहली बार लाती है। यूँ अपभ्रश के धनपाल (भविसयत्त कहा) की वाणी निराला मे थोडा परिष्कृत होकर वर्षो के लम्बे अतराल के बाद पहली बार की इस कविता मे गूँजती है, जिसका वेग आगे की कविता मे बढता ही जाता है।

इसमे भी 'वह' का प्रयोग चरित्र की व्यापकता का सूचक बनकर आया है। उन्हे 'यह' पे अलग करने के लिए 'वह' का प्रयोग जरूरी लगा। जब वे कहते है 'वह तोडती पत्थर', तब पहली ही पक्ति मे एक 'टीस' उठती है कि एक मजदूर महिला 'वह' पत्थर तोडती रही है और इधर तुम (यह) रोटी तोड रहे हो। कुर्सी तोड रहे हो। यह 'वह' कर्म सम्पृक्त भी है, क्योकि निराला समझते थे कि मनुष्य की मुक्ति के लिए 'कामना' नही 'कर्म' चाहिए। 'भावना' नही 'भाव' की जरूरत है और इसी कारण से निराला 'वह' का हथौडा 'यह' पर बजवाते है। इस तरह से इस कविता मे झुलसती हुई 'लू' मे 'वह' (जन) के माध्यम से हुलसती हुई 'यह' (अभिजन) पर करारी चोट की गई है और अत तक इस कविता का वह, 'मै' मे बदल जाता है, जिसका विकास सामान्य के विशेष चरित्रो बलई, मसुरिया से होता बलदेव खटिक (लीलाधर जगूडी) और 'खुँटकूढवा' (ज्ञानेन्द्रपति) तक मे देखा जा सकता है। इसे ही मैने 'विशेषीकृत सामान्य' कहा है और इसी माध्यम से 'लोक सौन्दर्य' की उत्पत्ति होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'श्रम सौन्दर्य' के माध्यम से ही यहॉ लोक-सौन्दर्य उत्पन्न हुआ है।

2- इसमे सघर्ष-प्रधानता भी है- वस्तुत कविता के अत मे 'मै तोडती पत्थर' कहकर निराला ने 'मैं' पर जोर देते एक श्रमजीवी महिला के स्वाभिमान और सघर्षपूर्ण जीवन को दिखाने की चेष्टा की है जहाँ कर्म की रक्षा का भाव है, आशावादी सदेश है, ठढे पडे उस समय (30 का दशक) के जीवन मे यह कविता उस 'पत्थर' की

तरह आई है, जिसके 'रिपल्स' से विक्षोभ पैदा होता है जिससे सघर्ष (भावी जीवन) का मार्ग प्रशस्त होता है। निराला के इस 'कर्म' मे सघर्ष है, आत्म-विश्वास, स्वाभिमान व उल्लास है। यहॉ लोक का मूर्त रूप है, जहाँ व्यक्ति की सत्ता का प्राधान्य है। यह ध्यान देने की बात है कि यह कविता परतत्र भारत मे लिखी गयी है, जिस कारण से सामने 'तरु-मालिका अट्टालिका' मे अग्रेज शासको पर प्रहार है और यह सामतशाही पर भी उतना बडा आघात है। कविता के विधान मे सघर्ष का यह मर्म बेहद मार्मिक है।

3- शारीरिक सौन्दर्य की दृष्टि से भी निराला की इस कविता का सौन्दर्य द्रष्टव्य है। युवती 'श्याम तन' है, पर 'भर बँधा यौवन'। इतना ही नहीं, वह 'नत नयन, प्रिय कर्म-रत-मन' है। इससे हमारी समूची काव्य परम्परा का पता चलता है। शारीरिक सौन्दर्य को लोक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना निराला जैसी प्रतिभा के बूते की ही बात थी। यह 'यौवन' कही भी कमजोर नही है। क्योकि 'गुरु हथौडा भार' है। जिसके द्वारा 'करती बार बार प्रहार' है। नारी को केन्द्र मे लाने का कारण भी नारी शक्ति की पहचान कराना है अन्यथा किसी पुरुष को भी वे रख सकते थे। *इसमे वस्तुत लोक रूढि को तोडने का एक प्रयास मिलता है, क्योकि नारी को अब तक अत्यत कोमल माना जाता रहा है।* आप पायेगे कि अपभ्रश के धनपाल कृत 'भविसयत्त कहा' जैसे कथा काव्य मे भी नारी का प्रायोजन उसे उपेक्षित वस्तु के रूप में ही दिखाना रहा है, हालाँकि यह अपभ्रश की अकेली कृति है, जिसमे सामान्य आदमी 'वणिक' की कथा को विषय बनाया गया है। इसमे नारी शोषण के विविध पक्षो की पहचान कराई गई है। यह जरूर है कि एक प्रकार से पुरुष के चुनौती की स्वीकार भावना के साथ नारी की विजय भावना का सकेत भी है, कितु 'भविसयत्त कहा' मे यह नियतिवादी होकर ईश्वरोन्मुखी हो जाती है, जैसा बाद

के भक्तिकाल मे भी दिखायी पडता है।

आधुनिक समय मे निराला ने नारी की इस नियतिवादी धारणा को उलटकर भाग्य को चुनौती देने वाली भावना का सचार कराया है और 'कर्म-रत-मन' के माध्यम से उसकी विजयी भावना का उद्घोष किया है। यह वस्तुत लोक रूढि के तोडने का परिणाम ही रहा है।

4- *लोक रूढि को निराला ने* प्रकृति *के चित्रण मे भी तोडा है-* और यह भी इस कविता मे द्रष्टव्य है। इस कविता का चरित्र-सघर्ष, उसके प्राकृतिक सौन्दर्य से और भी तीव्र होता है। यहाँ 'प्रकृति' की गर्मी, छॉव की ओर (चल छैया छैया छैया की मुद्रा मे) नही ले जाती, बल्कि युवती को, नारी को, उसके सघर्ष को तीव्र करती है। यहाँ समूची ग्रीष्म ऋतु, कविता के 'मूड' से जुडकर उसे और भी गतिशील बनाती है। परिवेश यहाँ बाधक नही है। प्रकृति सौन्दर्य का यह विलक्षण उदाहरण है जिसके बारे मे दूधनाथ सिह ने लिखा है कि 'ग्रीष्म को अपनी अनुभूतियो से तद्वत जोड देने या उसकी विनाश लीला या उसके द्वारा सघर्ष को अधिक तीखा बनाने, उसे धार देने और उसके द्वारा फेकी गई चुनौती को सहज, मूक भाव से स्वीकारने और झेलने का भाव, निराला की इस कविता की विशेषता है '[67] तब यह ठीक ही है कि इस कविता के कुछ शब्द बेहद महत्वपूर्ण है जैसे 'तमतमाता' जिसमे धीरे धीरे क्रोध के आवेग से निकलती हुई, बढती जाती चेहरे की लालिमा ही व्यक्त हुई है' (वही) इस तरह कर्म की तत्परता के कारण ग्रीष्म का यह चिलचिलाता रूप नगण्य है।

दरअसल प्रकृति का चित्रण तो बहुत कवियो मे मिलता है किन्तु लोक जीवन को उभारने के क्रम मे उकसाती हुई प्रकृति का रूप बहुत कम कवियो मे दिखाई देता है। निराला की प्राय कविताओ मे प्रकृति, किसी न किसी वस्तु यथार्थ से जुडकर उसकी गति को तीव्रतम बनाने के लिए सहायक होती है। वास्तव मे 'प्राकृतिक सौन्दर्य

के लिए शब्द ताडव, सोचे हुए जीवन दर्शन, शब्द चित्रो का बुना हुआ लम्बा जाल, विशेषण जडाव आदि की जगह मानवीय सवेदना की सहज, असीखी, विवश अनुभूति, तात्कालिक मानवीय समस्या का सदर्भ और मौलिकता के साथ गतानुगतिक से मुक्त नितात अछूते धरातल के सदर्भ को उठाये जाने की जरूरत होती है', (वही) जो निराला की कविताओँ की अपनी विशेषता है। इसी प्राकृतिक सौन्दर्य मे सच्चा लोक सौन्दर्य होता है। वह सौन्दर्य क्या, जिसमे जीवन न हो! जीवन का सघर्ष न हो! सघर्ष की भगिमा न हो! भगिमा की अनुभूति न हो! अनुभूति की अभिव्यक्ति न हो! अभिव्यक्ति की मौलिकता न हो!

5- *और यह सब इस कारण सभव होता है कि निराला की दृष्टि हमेशा 'कर्म सौन्दर्य' पर टिकी रहती है।* यह ध्यान देने की बात है कि इस कविता ने कर्म दो बार आया है। पहली बार- 'नत नयन प्रिय कर्म-रत-मन' आता है जहाँ 'कर्म की प्रक्रिया का भाव' छिपा रहता है और आखिर मे भी कर्म आता है। 'लीन होते कर्म मे फिर ज्यो कहा।' अर्थात् कर्म की निष्पत्ति कर्म मे ही होती है। यही प्रक्रिया है, यही परिणति। आप ध्यान दीजिए, यह कर्म हथौडे की तरह चलता है, बल्कि हथौडे के साथ चलता है। बार बार प्रहार करता है- 'करती बार बार प्रहार' और अत मे इस 'बार बार' पर जोर देने के लिए 'फिर' शब्द आता है- 'तीन होते कर्म मे फिर ज्यो कहा।' मतलब कि इस कर्म मे त्वरा है, गति है, जडता के प्रति गति का विद्रोह है। सत्ता से शक्ति का सघर्ष है। इस कर्म मे हाय! हाय! की चीत्कार न होकर, वाह! वाह! की प्रेरणा है, बावजूद इसके कि वहाँ कोई छायादार (छत्र छाया) नही है।

कविता मे युवती 'ढुलक माथे पर गिरे सीकर' के साथ कर्म मे लीन हो जाती है। सहानुभूति कही नही है। ठीक है कि वह पुष्ट यौवना है किंतु उसकी जवानी

साज-शृगार के लिए नही है। उसमे जीवन की ललक है। आत्म-सम्मान का आत्म-सयत भाव है। किसी ब्यूटी-पार्लर मे जाने के बजाय वह जीवन मे घुसती है। निराला यहॉ जीवन मे सघर्ष और सघर्ष मै सौन्दर्य देखते है। स्वय 'कुल्लीभाट' (1939) मे इस जीवन का विस्तार है। एक तरह से यह, सामती प्रवृत्ति, जिसमे नारी को सामत लोग, उसके काम न करने के बदले कुछ पैसा दिखाकर यौन शोषण करते है, के खिलाफ नारी का विद्रोह भी है, जिससे इस कविता मे शक्ति की 'लोकोन्मुखता' के लक्षण मिलते है। आगे यही हथौडा, हिन्दी कविता का केन्द्रीय सवेदन बनता है।

6- इस कविता मे ग्रास रूट पर चल रहे अमानवीकरण की प्रक्रिया का भी पता चलता है। साथ मे उससे मुक्ति का प्रयास भी मिलता है।

7- और तब हम कह सकते है कि यह कविता तो हिन्दी काव्य परम्परा के इस संधि स्थल पर है, जहॉ लोकधर्मी चेतना का स्वरूप पहली बार मूर्त होता है और साधारण आदमी का स्वर सामान्य के धरातल पर संयत भाव से सुनाई पड़ता है। निराला ने जिस दिन अपनी ऑख झुकाकर उस युवती को देखा, उसी दिन पहली बार सामान्य आदमी ने ऑख उठाकर ऊपर देखने का साहस किया। यूॅ निराला व युवती की ऑख के पश्चात मिलन (देखते देखा मुझे तो एक बार) में पहली बार मनुष्य का मनुष्य से रिश्ता भी कायम हुआ।

और यही वह आधार है (मनुष्य का मनुष्य से रिश्ता) जहॉं नवजागरण का कार्य अपने पूरे उभार पर होता है। इस रूप मे निराला हिन्दी नवजागरण के परिपूर्णता के भी कवि ठहरते है।

इस रूप मे ही यदि कोई कविता आती है, तो वह लोक सौन्दर्य की दृष्टि से हमारे विश्लेषण के केन्द्र मे होगी। कहना न होगा कि निराला से आरम्भ हुए लोक

जीवन के इस सौन्दर्य का विकास बाद के कवियो मे खूब होता है और साठोत्तरी की पूरी सरचना का यह तो आधार स्रोत ही है। शायद इसीलिए इस प्रवृत्ति के सारे कवियो के प्रेरणास्रोत, जाने अनजाने, निराला ही रहे है और आज का कवि निराला से सबसे अधिक जुडने की कोशिश करता है।

निराला के बाद और निराला के साथ, प्रगतिशील कवियो ने भी जीवन का मर्म खोजने का प्रयास किया है, जिसमे त्रिलोचन, नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल प्रमुख रहे है। *ये कवि जीवन से लगातार जुडे हुए थे और कह सकते है कि ये प्रत्यक्ष द्रष्टा पहले थे, कवि बाद मे हुए, जबकि यह ध्यान देने की बात है कि आजादी के बाद के लोग कवि पहले बनते है, प्रत्यक्ष द्रष्टा बाद मे।* यूँ आजादी पूर्व व पश्चात का यह विभाजन राजनेता व समाज के बीच भी देखा जा सकता है, कि आजादी पूर्व के लोग समाजसेवी पहले थे, फिर राजनेता बने। आजादी के बाद राजनेता पहले बनते है, समाजसेवी बाद मे। वहॉ पर स्थिति जो हो, किन्तु प्रगतिशील कवियो के सदर्भ मे इतना तो कहा ही जा सकता है कि अग्रेजी के विक्टोरियन समय के कवियो की तरह, ये कवि लगभग Critique की भूमिका मे आते है। तात्पर्य यह है कि नैतिकता, उपयोगिता इनके लिए इतनी महत्वपूर्ण बन जाती है कि कविता इनके लिए जीवन की आलोचना बन जाती है। यदि ये पूर्ण कालिक आलोचक होते तो शायद आलोचना का बहुत भला होता। शायद यही कारण है कि कविता के सदर्भ से इनकी कविताएँ कमजोर है और कविता मे जीवन की आलोचना सबसे अधिक इनमे मिलती है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि निराला मे जीवन है, लेकिन कविता मे आलोचक का भाव कही नही आता। वे कविता को कविता ही रहने देते है, आलोचना नही बनने देते। त्रिलोचन व नार्गाजुन की कुछ कविताएँ इसकी अपवाद अवश्य है।

नार्गाजुन (1911-1998) के सन्दर्भ मे यदि लोक सौन्दर्य देखना हो तो वे स्थल

होते है जहाँ कवि लोक रूढियो को तोडकर नया स्वरूप देता हुआ नजर आता है। नारी सौन्दर्य, प्रकृति सौन्दर्य व्यक्ति सौन्दर्य आदि सभी कुछ मे यह मिलता है जो मुक्तिबोध के शब्दो मे 'प्राकृत होते जाने की अवस्था' ही है, जिसमे गतिशील चित्र है, परम्परा से हटी दृष्टि है, सघर्ष है और अमानवीकरण की प्रक्रिया का उद्घाटन है। इस कारण से वे कबीर, निराला की परम्परा से सीधे जुडते है। "नेवला" जैसी कविता मे जेल के अमानवीय जीवन को दर्शाते है, तो 'पैने दॉतो वाली' (1973) कविता मे धूप मे पसरे एक मादा सूअर का चित्रण बडे ही बेलौस ढग से करते है। दूबे, उसके लिए 'मखमली' है, वह 'पसरकर' (फैलकर नही) लेटी है। इन शब्दो मे कविता का निहितार्थ छिपा हुआ है और 'पसरकर' शब्द जो कि कविता मे दो बार आया है, देखने योग्य है। इस 'पसरने' के माध्यम से कविता मे जो सवेदनगत गतिशीलता आई है, उसे देखने लायक है और कविता की पक्तियॉ 'यह भी तो मादरे हिन्द की बेटी है', इस समूची काव्य प्रक्रिया को गत्यात्मकता प्रदान करती है। यह पक्ति भी दो बार आई है और पहली के तुरत बाद' 'भरे पूरे बारह थनो वाली' है, तो दूसरी के अत मे 'पैने दॉतो वाली' है। ध्यान दीजिए पहले मे स्थिति का सयम है, दूसरे मे दॉतो वाली के माध्यम से इसके प्रति सघर्ष की चेष्टा है। कर्म की सकल्पनाएँ है। इस रूप मे इस कविता का सौन्दर्य देखने लायक है। 'नेवला' व 'सूअर', दो अलग मन स्थितियो मे लिखे होने के बावजूद लोक रूढि को तोडते है।

लोक सौन्दर्य का यह रूप "नारी सौन्दर्य" के सन्दर्भ मे 'सिदूर तिलकित भाल' (1943) मे दिखाई पडता है, जिसमे नागार्जुन को नारी का 'सिदूर तिलकित भाल' नजर आता है और कुछ नही। 'सिदूर' शब्द अपने आप मे स्थिति की मार्मिक व्यजना करता है क्योकि इसमे एक औरत का समूचा सकल्प छिपा रहता है। कविता मे सबसे पहले 'याद आता तुम्हारा सिदूर तिलकित भाल' आता है और फिर उसके साथ-

याद आता मुझे अपना वह तरउनी गाँव

याद आती लीचियॉ, वे आम

याद आते मुझे मिथिला के रुचिर-भू भाग

याद आते धान ।

अब वह 'सिदूर तिलिकित भाल', प्रकृति की इन मनोहर चित्रो से मिलता है, जिससे पता चलता है कवि की दृष्टि का। नारी के भाल से जड तक की यात्रा मे कवि की दृष्टि जडो पर ही रहती है, यह ध्यान देने की बात है। 'सिदूर' मे जहाँ सुहाग की जडे है, 'तरउनी' मे भावजन्य सम्पृक्तता की। यूँ दोनो ही 'स्थायित्व' की प्रतीक है। कवि की तलाश इसी स्थायी सौन्दर्य के प्रति है जिस कारण से उसमे 'मासलता' कही भी नही है। मासलता की मुक्ति के कारण ही यह कविता प्रचलित के विरुद्ध है और लोक सौन्दर्य को दर्ज करती है। इसके साथ 'खुरदरे पैर' (1961) मे उनकी निगाह 'फटी बिवाइयाँ' तक जाती है जो विलक्षण है। एक तरफ 1943 का 'सिदूरी' यथार्थ है तो दूसरी तरफ 1961 का 'फटा बिवाईजन्य' यथार्थ! यह उनकी अचूक दृष्टि का परिणाम ही है। यह वह यथार्थ है जो अपने छोटेपन (लघुत्व) के कारण नही, बल्कि बडेपन (दीर्घत्व) के कारण सामान्य कवि को दिखाई नही पडता। नागार्जुन ने इस 'दीर्घत्व' को देखा है। इस कारण वे 'दीर्घत्व' के गतिशील कवि है। जिस समय वे लिखते है-

खुब गए

दूधिया निगाहो मे

फटी बिवाइयो वाले खुरदरे पैर,

इसके बाद लिखते है-

'दे रहे थे गति ' यानी वे गतिशीलता मे कवि द्वारा देखे गये थे।

प्रकृति सौन्दर्य भी नागार्जुन मे वस्तु व्यापार को बढाते है, आरोपित नही लगते। वर्षाकाल का चित्रण 'बादल को घिरते देखा है (1939) मे यह अद्भुत है। इसमे कवि जब कहता है-

'जाने दो, वह कवि-कल्पित था

मैने तो भीषण जाडो मे

नभ चुबी कैलाश शीर्ष पर,

महामेघ को झझानिल से

गरज गरज भिडते देखा है

बादल को घिरते देखा है।'

तब स्पष्ट होता है कि प्रकृति भी उसके यहाँ कवि-कल्पित न होकर 'स्वानुभूति' रूप मे आती है और वह रूढियो को तोडकर वस्तु के साथ घुली मिली होती है। जाडा, यूँ तो सुहावनी होती है लेकिन यह नागार्जुन ही कह सकते थे कि वह भीषण है और बादल गरज गरज कर भिड रहे है जोकि वर्षाकाल का सौन्दर्य है। इस रूप मे वे सीधे निराला से जुडते है। ध्यान दीजिए तोडती पतथर 1937 की कविता है जिसमे 'दिवा का तमतमाता' रूप 'अनुभूति की कठोरता' के रूप मे आता है और यह कविता 1939 की लिखी है, जिसमे 'मैने तो ' के माध्यम से वर्षाकाल की भीषणता का चित्रण है, जो 'अनुभूति की कठोरता' ही है। इस तरह दोनो कवि *'अनुभूति की कठोरता'* के कवि है।

इस तरह हम नागार्जुन की कविताओ मे 'लोक सौन्दर्य' का मूल्याकन कर सकते है और जो कविताएँ ऐसी है वे मार्मिक व महत्वपूर्ण दोनो है। यूँ इनकी अधिकाश

कविताएँ 'दैनिक क्रिया व्यापार' जैसी लगती है, जो त्रिलोचन मे भी मिलता है।

त्रिलोचन : (1917). त्रिलोचन तो मूलत ही गतिशील है, इस खास अर्थ मे कि उनकी कविताओं मे एक प्रकार की 'क्रियाशीलता' प्राय ही मिलती है। उनका तो आधार वाक्य ही यही है-

भाषा की लहरो मे जीवन की हलचल है

ध्वनि मे क्रिया भरी है और क्रिया मे बल है।

उनका पहला सकलन ही (धरती) इसका स्पष्ट सकेत छोडता है। उनके यहाँ सघर्ष है, प्रकृति व मनुष्यके बीच निजता है, जिसमे 'प्रकृति' मनुष्य की सक्रियता को बढाती है। कविता लिखने की होड मे वे किसी सौन्दर्य-लोक का निर्माण नही करते बल्कि लोक सौन्दर्य तक ही सीमित रहते है। इस रूप मे वे सौन्दर्य लोक की अतीन्द्रिय वायवी चेतना से मुक्त होकर लोक सौन्दर्य की वास्तविक चेतना से सन्नद्ध है। उनके यहाँ लोक चरित्र भी है, हालॉकि चरित्रो के सन्दर्भ मे वे थोडा सचेष्ट कम है, क्योकि इनमे गत्यात्मकता थोडी कम रहती है। यहाँ एक प्रकार के सरलीकरण का शिकार हो जाते है। नगई महरा (ताप के ताये हुए दिन), चम्पा (धरती), भोरई केवट (धरती) आदि ऐसी ही ठढी कविताएॅ है और यहाँ लुहार, बढई, कहार, किसान, मजदूर एक जाति के रूप मे आते है, न कि व्यक्ति के रूप मे जैसा साठोत्तरी मे होता है। बच्चा, भूखा, स्त्री, बेरोजगार आदि।

वस्तुत त्रिलोचन की कविताओ का सच्चा लोक सौन्दर्य प्रकृति व मनुष्य के आपसी रिश्तो मे मिलता है। 'धूप सुन्दर' (धरती) कविता महत्वपूर्ण है जिसमे कवि आदमी का 'अपरूप सुन्दर' रूप उसकी 'अनगढता के सामजस्य' मे पाना चाहता है। कविता आरम्भ होती हैं-

धूप सुन्दर

धूप मे जग-रूप-सुन्दर

सहज सुन्दर

अत होता है-

सोचता हूँ

क्या कभी

मै पा सकूँगा

इस तरह

इतना तरगी

और निर्मल

आदमी का

रूप सुन्दर ।

यह आदमी की कौन सी सुन्दरता है? तो इसके लिए बीच मे सरसो की तरह झूमती सुन्दरता का कवि जिक्र करता है। वह कहता है-

'झूमती सरसो / प्रकम्पित वात से / अपरूप सुन्दर'

इसमे 'प्रकम्पित' व 'सुन्दर' का सहज समन्वय है। यानी कठिनाइयो मे भी मनुष्य के सौन्दर्य की कामना करता है कवि, जिसके लिए सघर्ष, क्रियाशीलता, आशावादिता आदि की जरूरत है। प्रकृति की यह क्रियाशीलता 'समुद्र के किनारे' (तुम्हे सौपता हूँ) मे भी मिलती है जहाँ आशा-निराशा के सहज भाव है और समुद्र के द्वारा छोडी "भीगी बेला" के माध्यम से कवि इस जीवन की निष्ठुर सचाई को आगे बढाने की कोशिश करता है जिसके लिए वह 'वायु' का सहारा लेता है। ध्यान दीजिए वायु स्वभावत: गतिशील है। यह प्रकृति की क्रियाशीलता, नारी के मार्मिक प्रसगो से 'झाँय

झॉय करती दुपहरिया' मे भी मिलती है (उस जनपद का कवि हूँ) जिसमे तपती दुपहरिया मे नारी कवि को आम खिलाकर पानी पिलाती है और कवि कहता है-

ढेसर आम खिला कर पानी मुझे पिलाया।

ये वे बाते- 'फिर आना', कब मिला मिलाया।

कवि इस दुर्लभ सयोग पर अभिभूत है और इसके लिए दुपहरिया मे आम बीनने को त्याज्य नही मानता। इसमे वह नारी है जो लोक जीवन मे रची बसी है।

इस तरह से त्रिलोचन मे लोक सौन्दर्य का लक्षण मिलता है।

केदारनाथ अग्रवाल (1911)- केदार नाथ अग्रवाल की यात्रा 'युग की गगा' से आरम्भ होकर आगे बढती रहती है और आज तक चल रही है। यूँ यदि देखा जाय, तो तीनो कवियो मे लोक सौन्दर्य की दृष्टि से इनकी कविताएँ कमजोर है। जहाँ नागार्जुन व त्रिलोचन मे दैनिक क्रिया व्यापार उभरकर सामने आते है और जीवन के किसी स्थायी मर्म का उद्घाटन करते है, वही ये केदार मे फैलकर सामने आते है जिससे वे किसी स्थायी अर्थ का सकेत नही कर पाते। यूँ केदार बाबू मे ऐसा सवेदन की अनुभूति बदलने के लिए जिस धैर्य की अपेक्षा होती है, उसकी कमी का होना ही है। इस कारण इनकी कविताएँ आलोचकीय मुद्रा अपनाकर तत्काल विलीन हो जाती है। वे अनुभूति की सघनता मे परिणत होने के पहले ही सवेदन की तात्कालिक विविधता मे फैल जाती है। अत कोई स्थायी प्रभाव नही छोड पाती।

दूसरी बात यह भी कि जहाँ नागार्जुन व्यवस्था की बाहरी सतह पर चोट करते है और उसके आतरिक मर्म तक पहुँचते है, वही त्रिलोचन व्यवस्था के आतरिक सतह पर चोट करते है और वाह्य जीवन की विसगतियो का उद्घाटन करते है। पर केदार बाबू व्यवस्था को बाहर से स्पर्श करते है और इस स्पर्शमात्र की वैविध्यता को बताते और उसमे सतोष अनुभव करते ढेरो कविताएँ लिखते है जिनका सघर्ष भी या तो

नही है या फिर घोषणात्मक है।

हॉ, प्रेम व्यापारो की मार्मिक अभिव्यक्ति मे बेहद सफल है और ऐसी कविताओ मे लोक रूढि को तोडने की चेष्टा के कारण हम लोक सौन्दर्य पाते है। इनका प्रेम, रीतिकालीन कवियो के प्रेम से भिन्न है। **यह एकांत मनुष्य का सार्वजनिक प्रेम नही है, बल्कि प्रेम इनके यहॉ आवेग को बढ़ाने वाला ही होता है जो सार्वजनिक मनुष्य का होता है। यह जीवन को गतिमय बनाता है। हाथ पकड़कर एकात में जाने के बजाय एकांत से हाथ पकड़कर चौराहे पर आता है।**

यदि ध्यान से देखे, तो इनके यहॉ 'स्मृति' सर्जनात्मक प्रेम व्यापार मे अभिव्यक्त होती है। प्रकृति के कार्य व्यापारो के बीच प्राय ही प्रिया की याद आती है जो कि रीतिकालीन या प्रतिक्रियावादी कवियो से बिल्कुल अलग है जिनमे प्रिया की याद आते समय प्रकृति की याद आती है। स्वय 'अनहारी हरियाली' की एक कविता है- 'आज दिखी फिर मुझे गिलहरी / कई दिनो के बाद / चिकचिक करती / दौडी जाती/ / लगा कि जैसे / याद प्रिया की दौडी आयी / सग साथ मे / उनको लाई/ ' यहॉ पर गिलहरी को देखकर प्रिया की याद आना प्रेम के लौकिक विधान को नवीन दृष्टि से देखना है और इसमे वे सफल रहे है।

साठोत्तरी कविता का आरम्भ इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है क्योकि आरम्भ मे मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, धूमिल केदारनाथ सिह, विजेन्द्र, ऋतुराज आदि कवि कविता ही लिखते है। उनमे एक ओर कविता मे जहाँ आलोचकीय तेवर की अनुपस्थिति पाई जाती है, वही अभिव्यक्ति का सयम भी मिलता है, क्योकि इनमे 'वस्तु' से एक रागात्मक दूरी है जो इन्हे उसका तटस्थ मूल्याकन करने देती है। कविता के सौन्दर्य के लिए इस 'तटस्थता' की जरूरत होती है और यह इनमे है, क्योकि ये न तो हडबडी मे होते है और न ही उत्तेजना मे। इनमे अभिव्यक्ति का सयम ही इसलिए मिलता है कि यहाँ 'वस्तु' का अनुभूतिगत सचय है।

संदर्भ सूची

1 डा0 हरद्वारी लाल शर्मा - 'लोकवार्ता विज्ञान' - खण्ड-1, उ0 प्र0 हिन्दी सस्थान, लखनऊ - 1990।

1+ डा0 भोलानाथ तिवारी - लोकायन और लोक साहित्य - सम्मेलन पत्रिका विशेषाक - पृ0 423।

2 उप0।

3 उप0।

4 डा0 बासुदेव शरण अग्रवाल - लोक का प्रत्यक्ष दर्शन - पृ0 67 - सम्मेलन पत्रिका विशेषाक।

5 राजेश्वर सक्सेना - 'सापेक्ष' - लोक सस्कृति विशेषाक।

6 उप0।

7 उप0।

8 डा0 कमलेश दत्त त्रिपाठी - 'सापेक्ष' - लोक सस्कृति विशेषाक - पृ0 129।

9 डा0 राजा राम भादू - 'सापेक्ष' लोक सस्कृति विशेषाक - पृ0 129।

10 डा0 रमेश कुतल मेघ - 'सापेक्ष' अक मे सग्रहीत लेख - 'लोक सस्कृति से जनवादी सस्कृति।

11 G M Young - Victorian England - Portrait of an age - Oxford University Press, London - 1960।

12 डा0 बद्री नारायण - लोक सस्कृति एव इतिहास।

13 डा0 अजय तिवारी - हिन्दी कलम - 3 मे प्रकाशित लेख।

14 प0 गुण सागर विद्यार्थी - स कमला प्रसाद - 'लोक साहित्य एव सस्कृति' मे सकलित आलेख।

15 नर्मदा प्रसाद गुप्त - 'लोक साहित्य एव सस्कृति' - स कमला प्रसाद - मे सकलित लेख - लोक साक्ष्य एव परम्परा।

16 E H Car - What ın hıstory।

17 Toynabee - A study of hıstory - 1963।

18 डा0 बद्री नारायण - 'लोक साहित्य एव सस्कृति' - लोक भारती, इलाहाबाद।

19 रणजीत गुहा - Elementary Aspects of Peasant Insurgency ın Colonıal North Inda - Oxford Unıversıty Press - 1992।

20 ज्ञानेन्द्र पाण्डे - Ascendency & Congress ın U P - The study & ımperal mobılızatıon।

21 डा0 अजय तिवारी - 'हिन्दी कलम' - 3 मे सकलित लेख।

22 उप0।

23 डा0 कैलाश नाथ तिवारी - 'लोक साहित्य व सस्कृति' - स डा0 कमला प्रसाद।

24 उप0।

25 'लोक साहित्य व सस्कृति' - स डा0 कमला प्रसाद।

26 'लोक सस्कृति एव लोक मानस' लेख - डा0 कमला प्रसाद द्वारा सपादित 'लोक साहित्य व सस्कृति'।

27. राजेश्वर सक्सेना - 'सापेक्ष' - स महावीर अग्रवाल - लोक सस्कृति अक।

28 उप0।

29 डा0 भोला नाथ तिवारी - सम्मेलन पत्रिका लोक सस्कृति विशेषांक।

30 डा0 सत्येन्द्र - हिन्दी साहित्य कोश - ज्ञानमण्डल वाराणसी।

31 Folklore - Encyclpeadıa Brıtanıca - भाग 10।

32 Standard Dıctıonary & Folklore, भाग - 1, न्यूयार्क - 1941 - पृ0 401।

33 डा0 सत्येन्द्र - 'ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन' -आगरा - 1949।

34 डा0 कृष्ण देव उपाध्याय - लोक साहित्य की भूमिका - पृ0 38।

35 उप0।

36 जय प्रकाश - जनवरी 97 - 'आजकल' मे प्रकाशित लेख - 'जीवन कर्म व सस्कृति कर्म'।

37 डा0 कुमार विमल - सौन्दर्यशास्त्र के तत्व।

38 उप0।

39 J H Cozıms - The phılosophy & beauty - 1925।

40 डा0 नगेन्द्र - भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका।

41 उप0।

42 उप0।

43 उप0।

44 उप0।

45 उप0।

46 डा0 राम विलास शर्मा - 'समालोचक' - सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता व सामाजिक विकास।

47 डा0 रमेश कुन्तल मेघ - 'अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा' - 'कला और सौन्दर्यबोध' पृ0 46।

48 प्रेमचद - कुछ विचार - पृ0 17।

49 उप0।

50 'सकल्प का सौन्दर्यशास्त्र' स अजित कुमार - डा0 नामवर सिह का सकलित लेख - 'मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के विकास की दिशा' पृ0 111।

51 उप0।

52 मुक्तिबोध - 'नयी कविता का आत्म सघर्ष' -रचनावली 5/190।

53 उप0।

54 डा0 मैनेजर पाण्डे - 'नये मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की प्रासगिकता'।

55 डा0 नामवर सिह - 'दूसरी परम्परा की खोज' - 1982।

56 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - 'कविता क्या है' - चितामणि - भाग 1।

57 उप0।

58 डा0 मीरा श्रीवास्तव - कृष्णकाव्य मे सौन्दर्यबोध व रसानुभूति'।

59 Herbert Read - Icon and Idea

60 डा0 नद किशोर नवल - कविता की मुक्ति - पृ0 20।

61 डा0 रमेश कुतल मेघ - सौन्दर्य मूल्य एव मूल्याकन।

62 डा0 सुरेन्द्र नाथ तिवारी - प्रेमचद व शरत के उपन्यास - पृ0 88।

63 डा0 नामवर सिह - 'दूसरी परम्परा की खोज'।

64 उप0।

65 डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - 'लालित्य तत्व' - पृ0 23।

66 उप0।

67 दूधनाथ सिह - 'निराला-आत्महता आस्था'।

अध्याय -2

हिन्दी काव्य और लोक धर्मिता

1. आदिकालीन सन्दर्भ :

हिन्दी कविता की समूची काव्य परम्परा पर दृष्टिपात करने से यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि कविता की मूल प्रवृत्ति लोकधर्मी ही रही है और कविता मे जब जब अवरोध उत्पन्न होता है, लोकमन की वाणी ही कविता को स्वर देती रही है। यूँ भी जब बात कविता की हो रही हो, जाहिर है उसमे भाव की सघन अभिव्यक्ति तो होगी ही और यदि अभिव्यक्ति ऐसी है, तो उसका मूल स्वर लौकिक ही होगा। यह दूसरी बात है कि अपनी विकासोन्मुखी यात्रा मे सचरण करती यह आध्यात्मिकता के धरातल तक उठ जाय या फिर इहलौकिक होकर ही बहती रहे। जहॉ अभिव्यक्ति मात्र ही कविता का निमित्त बन जाता है, वहॉ वह रूढबद्ध हो जाती है, जैसा रीतिकाल मे हुआ। तब जाहिर है कविता की अभिव्यक्ति भी एक प्रकार के सयम और सहजता की अपेक्षा रखती है, क्योकि आक्रोश और खीझ इसके मूल स्वर को नष्ट करके या तो सूक्तियो मे बदलते है या फिर नारेबाजी मे।

इसके साथ यह ध्यातव्य है कि हर रचनाकार अपने आरम्भिक स्वर मे कविता के निकट होता है। बाद मे चाहे जहाँ चला जाय। कविता के इस लोकधर्मी स्वरूप का एक उदाहरण देते हुए *डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी* ने लिखा है कि 'आदिम भाषा के काव्यात्मक होने की बात शैली ने भी स्वीकार की है और इस सन्दर्भ मे 'बारफील्ड' ने अपने 'पोएटिक डिक्सन' मे शैली का मत उद्धृत किया है- समाज की आतरिक स्थिति मे प्रत्येक लेखक अनिवार्यत कवि होता है, क्योकि भाषा स्वय कविता होती

है प्रत्येक मौलिक भाषा मानो अपने स्रोत के निकट एक चक्राकार कविता का अवस्था हो।[1]

जब हम हिन्दी कविता के उदय की बेला का अवलोकन करते है तो यह स्पष्ट होता है कि इस साहित्य का उदय सस्कृत साहित्य के परिपार्श्व मे हुआ है और इसकी निकट पृष्ठभूमि मे लोक वार्ताएँ ही रही है। हिन्दी लोक भाषा थी और इसमे साहित्य सृजन करने वाले आरम्भ मे वे ही लोग थे जिनका या तो सस्कृत से सैद्धान्तिक विरोध था जैसे बौद्ध, जैन या फिर वे थे जिनका सस्कृत से सम्पर्क ही न था। मतलब कि साधारण जन।[2] तब जनमानस को लोकोन्मुख होना ही था जबकि मुनि मानस कल्पना की ऊँची उडाने भरा करता था। इसी सस्कृत साहित्य की सापेक्षता मे स्वय अपभ्रश कालीन लोकधर्मी चेतना का भी पता चलता है, क्योकि सस्कृत की शास्त्रीयता से अपभ्रशकाल मे ही साहित्य अलग होकर जनसामान्य से जुडने लगा था। अपभ्रश साहित्य के माध्यम से पहली बार, सस्कृत साहित्य की कथारूढि, काव्य रूढि और वस्तु वर्णन से हटकर, लोक जीवन से सम्पृक्त साहित्य का सृजन किया जाने लगा था। इस समय तक सस्कृत साहित्य के माध्यम से लोक जीवन की अभिव्यक्ति मे कठिनाई हो रही थी, मौलिक उद्भावनाओ की प्रवृत्ति लगभग चुक सी गयी थी। साहित्य एक प्रकार से दार्शनिक भाववाद व जडता के शिकजे मे कसता जा रहा था। ऐसी स्थिति मे हृदय के सहज भावो की अभिव्यक्ति का मार्ग लगभग बन्द होता जा रहा था और ऐसे समय मे अपभ्रश साहित्य ने ही अपनी लोकधर्मी चेतना के फलस्वरूप भारतीय साहित्य मे वह 'ऐतिहासिक' कार्य सम्पन्न किया, जिसने आने वाले समय मे मानव हृदय को आनदित और स्पदित किया। इसी ऐतिहासिक कार्य के कारण हिन्दी की 'प्राणधारा' अपभ्रश काव्यो मे मिल जाती है। स्वय हिन्दी का आदिकाल इसी प्रभाव की तात्कालिक परिणति है, बल्कि कही कही तो विभाजन करना भी कठिन

हो जाता है।

इसी कठिनाई के कारण जहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा0 रामकुमार वर्मा ने क्रमश "हिन्दी साहित्य का इतिहास" और "हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" मे अपभ्रश साहित्य का हिन्दी साहित्य से सम्बन्ध भाषा की दृष्टि से माना है, वही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास' मे इस सम्बन्ध को 'साहित्यिक परम्परा' के रूप मे देखा है। जहाँ आचार्य शुक्ल और डा0 वर्मा के अनुसार अपभ्रश की रचनाएँ 'हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की छाप लिए हुए है और इसीलिए आदिकाल मे लिए जाने की अधिकारी है', वहाँ द्विवेदीजी के लिए यह सम्बन्ध 'प्राणधारा' का सम्बन्ध रहा है। यही प्राणधारा वाले सम्बन्ध की ऐतिहासिकता उल्लेखनीय है क्योकि इसी से साहित्य के विकास का पता चलता है। तब यह ठीक ही है कि अपभ्रश और हिन्दी के सम्बन्ध की मौलिक समस्या यह नही है कि हिन्दी के कुछ काव्य रूपो, काव्य रुढियो, उपमानो और छदो पर अपभ्रश का प्रभाव दिखा दिया जाय। यह सब तो ऊपरी बाते है। अपभ्रश से हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध इससे भी कही आतरिक और गहरा है।[3]

इस पृष्ठभूमि मे इसका मूल्याकन जरूरी हो जाता है कि वह 'प्राणधारा' कौन सी है जिसका विकास आदिकाल से होता अब तक चला आ रहा है और जाहिर है वह 'लोकधर्मी चेतना' ही है, किन्तु यह तो एक व्यापक, बहु अर्थगामी शब्द है। जरूरी है इसके ठीक ठीक रूप की पडताल करना कि कैसे अपभ्रश और आदिकाल मे प्रवृत्तिगत समानताएँ रही है और कैसे इसने आगे भक्ति पक्ष से लेकर आधुनिक काल तक को प्रभावित किया है। हम यहाँ इसके स्वरूपगत विशेषताओ को न लेकर इसके आतरिक भावो को पकडने की चेष्टा करेगे, क्योकि इसी मे किसी परम्परा के विकास का पता चलता है।

आदिकाल मे वीरगाथा काव्य है और इसके दो रूप है- प्रबन्ध काव्य का साहित्यिक रूप जैसे 'पृथ्वीराज रासो' और वीर गीतो (वैलाड्स) के रूप जैसे 'बीसलदेव रास'- यह शुक्लजी ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' मे लिखा है। इसके साथ वे यह भी स्वीकारते है कि आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच डेढ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय ही नही होता-धर्म नीति, शृगार, वीर, सब प्रकार की रचनाएँ दोनो मे मिलती है और इसे ही शुक्लजी 'अनिर्दिष्ट लोकप्रवृत्ति' का नाम देते है। इससे यह तो स्पष्ट ही होता है कि आदिकाल मे पायी जाने वाली ये सभी प्रवृत्तियो 'लोक प्रवृत्ति' के अतर्गत ही आती है, यह तो शुक्लजी भी मानते है। हॉ, यह बात और है कि यह 'अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति' जब निर्दिष्ट होकर आगे बढती है, तब वह 'वीर काव्यो' से ही जुडी होती है और बाकी प्रवृत्तियॉ जैसे नीति, धर्म आदि गौण हो जाती है। यह शुक्लजी के अनुसार निष्कर्ष निकलता है। ऐसी प्रवृत्ति विशेष का उभार शुक्लजी मुसलमानो की चढाइयो के कारण मानते है। स्थिति जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि शुक्लजी के अनुसार वीर गाथात्मक 'चरित काव्य' ही आदिकाल की प्रवृत्ति का निर्धारण करते है और यह लोकोन्मुखी है। शुक्लजी के इस तर्क को थोडा आगे बढाया जाय तो पता चलेगा कि आगे भक्तिकाल मे यही 'नायकत्व' प्रधान विशेषता हतदर्प जनता के हाथो, ईश्वर के रूप मे अपना नायक ढूढने लगी। शुक्लजी ने ठीक ठीक यह नही कहा है, किन्तु जो कहा है (भक्तिकाल के उद्भव के सदर्भ मे) उससे यह निष्कर्ष लिया जा सकता है। मतलब यह भी कि आदिकालीन अपभ्रश काव्य मे जिस धर्म, नीति को उपेक्षित माना गया, वह अब 'नायक' मे घुसकर 'हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने का कारण बना।' अर्थ यह कि नायक की लोकधर्मी विशेषता, उत्तरोत्तर निर्दिष्ट होती गयी और अत मे धर्म का, बल्कि कहे भक्ति का (धर्म की भावात्मक अनुभूति-भक्ति) भाव

ओढकर भगवद् भक्ति का कारण बनी। तो यह यह है चरित प्रधानता, जो अपभ्रश और आदिकाल हिन्दी साहित्य से होती, कभी दबती, कही उभरती भक्तिकाल तक चली आई है और बिल्कुल लोक परम्परा का निर्वाह करती रही है। इससे इस बात की पुष्टि भी होती है कि आदिकाल मे चरित प्रधान वीर काव्यो के अलावा, जो अन्य प्रवृत्तियॉ सिद्धो-नाथो, जैन मुनियो, लोक काव्यो के माध्यम से अभिव्यक्त हो रही थी, उनका भी अपना महत्व है।

दूसरी तरफ *आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी* है। जिस धर्म, नीति को शुक्लजी ने साम्प्रदायिक काव्य कहकर चलता किया, वे द्विवेदी जी के लिए महत्वपूर्ण रही। जैन धर्म के अपभ्रश काव्यो को, जो पश्चिम प्रात मे लिखे गये थे उन्हे शुक्लजी ने बहुत महत्व का नही माना था। ऐसा ही सिद्धो-नाथो के साहित्य के साथ किया, जो पूर्व मे लिखे गये थे। तब पहला सवाल यही है कि जिस शौर्य प्रधान वीर काव्यो को शुक्लजी ने 'आदिकाल' मे प्रमुख माना, वे स्वय कहॉ से आये थे? जाहिर बात है कि इसकी पृष्ठभूमि मे अपभ्रश के काव्य 'नागकुमार चरिउ' और 'जसहर चरिउ' (पुष्पदत कृत लोकप्रिय व्यक्तियो पर लिखे काव्य) ही रहे है। तब स्वय लोक प्रसिद्ध चरित काव्यो के आधार पर अपभ्रश और आदिकाल से परस्पर निकटता स्थापित हो जाती है और इसके द्वारा भक्तिकाल से भी। परोक्ष रूप से भक्तिकाल के बीज भी स्वयभू के 'पउमचरिउ' मे देखे जा सकते है, यद्यपि कि सस्कृत साहित्य व ब्राह्मण ग्रथो का प्रभाव व्यापक मात्रा मे रहा है। पौराणिक चरित, लोक प्रसिद्ध चरित या फिर कल्पित जन सामान्य चरित, तीनो अपभ्रशकाल मिलते है जिसने आगे का विकास सम्भव बनाया है। इसमे लोक प्रसिद्ध काव्य आदिकाल मे, पौराणिक चरित भक्तिकाल मे और लोक जीवन के सामान्य चरित आधुनिक काल मे विकसित होते देखे जा सकते है। चरित्रो की बदलती विशेषता परिस्थितिजन्य रही है जिसमे एक ओर वर्तमान का

दबाव रहा है, तो दूसरी ओर परम्परा का। *यूँ यह भी कहा जा सकता है कि घटनाओ के बदलते परिप्रेक्ष्य मे चरित्रो के प्रकृति मे परिवर्तन होता रहा है।*

इन चरित्रो की प्रकृति के विकास मे धर्म, नीति के साथ सिद्धो-नाथो की रचनाओ का अपना विशेष योगदान होता आया है, जिनके अन्तर्गत आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के 'प्राणधारा' की खोज की। भक्तिकाल के धार्मिक, भक्तिप्रधान काव्यो के बीज भी इन्ही जैन-मुनियो की रचनाओ मे दिखाई पडते है। आशय यह कि आदिकाल मे वीरगाथा के साथ धार्मिक रचनाओ को नकारा नही जा सकता। इसी से द्विवेदीजी ने इसे 'स्वतो-व्याघातो' का युग कहा है, क्योकि यहॉ अतर्विरोध था। इस अन्तर्विरोध की भी एक व्यवस्था थी, इसकी भी अपनी एक गति थी। यहाँ (आदिकाल) प्रवृत्तियो की अराजकता नही थी, बल्कि विविधता थी जिसकी एक व्यवस्था थी। एक प्रवृत्ति, वीरगाथात्मक, क्षीणमाण थी और दूसरी वर्धमान थी। पहली का सम्बन्ध राजस्तुति, सामतो के चरित्र वर्णन, युद्धवर्णन, केलि विलास, बहु विवाह के लिए विजयोन्माद से था और दूसरा का सम्बन्ध नीची समझी जाने वाली जातियो के धार्मिक असतोष, रूढि विरोध, वाह्याडम्बर, खण्डन, जातिभेद की आलोचना, उच्चतर आचार-विचार, व्यापक भगवत्प्रेम, मानवीय आत्म गौरव आदि से था। एक का नाम तथाकथित वीर गाथा है, दूसरी का योगधारा'[4]। अत स्पष्ट है कि दोनो लोक प्रवृत्तियाँ आदिकाल मे एक साथ विद्यमान थी। हाँ, एक बात जरूर है, कि ये दोनो प्रवृत्तियाँ अतर्विरोधी न होकर (जैसा कि डा0 नामवर सिह कहते है) परस्पर अतरावलबित (Inter dependent) रही है, क्योकि ऐसा नही है कि वीर गाथा की प्रवृत्ति बिल्कुल ही बन्द हो गयी जैसा कि कहा जाता है और भक्तिकाल का उदय सिद्धो-नाथो की रचनाओ से ही हुआ। वस्तुत असल बात तो यह है कि वीरगाथाकाल की चरित प्रधानता जैसा कि हमने पहले कहा है, आगे भक्तिकाल मे बढी है। हाँ स्वर बदल गया क्योकि समय के

दबाव मे उस पर धार्मिकता का दबाव बढता गया है पहले इसने निर्गुण का रूप लिया, तो सिद्ध-नाथ प्रधानता पाये। फिर जब 'सगुण' का रूप धारण किया, तब इसके बाद की स्थिति मे लोक प्रसिद्ध चरित ही पौराणिकता की धरातल पर ऊपर उठ गये और ईश्वर की सत्ता के रूप मे प्रतिष्ठित हुए। ध्यान देने की बात है और स्वय डा0 नामवर सिह इससे सहमत है कि स्वयभू के काव्य मे राम-कृष्ण ऐतिहासिक लोक प्रसिद्ध चरित्र के रूप मे ही आते है, उसमे भक्तिभाव जैसी कोई बात नही थी। भक्ति का जो सोता सिद्धो-नाथो से होता आया है, उसी ने सगुण कवियो के हाथ मे पुराने चरित काव्यो की ईश्वर की महिमा से मण्डित किया। इन दोनो प्रवृत्तियो मे यदि सचमुच का अतर्विरोध होता, तो चरित की इस प्रवृत्ति का आगे प्रस्फुटन कदापि न होता क्योकि एक दूसरे को खारिज करके विकास सभव ही नही था। अत दोनो एक दूसरे के पूरक रहे है। जाहिर बात है इसके लिए (भक्ति काव्य) सस्कृत व अपभ्रश मे पहले से ही पृष्ठभूमि तैयार की। (आगे रीतिकाल मे भी यही नायकत्व बोध प्रवहमान रहा, किन्तु यहाँ तक यह रूढ हो चुका था। अब धर्म ठढा पड गया था, जिस कारण से नायक की उदात्त भावना, विराट सत्ता, उसके शौर्यबल से हटकर सौन्दर्य पक्ष पर आ टिकी जिसने नायक को शृगारी बना डाला। यह एक प्रकार से धार्मिक भावना के तनूकरण (Dilution) का परिणाम रहा है, वही भावना जिसके प्रबल प्रभाव से आदिकाल का वीर नायक, भक्तिकाल मे ईश्वर बना था। आधुनिक काल मे यह नायक शृगार से भी हाथ धो बैठा और पहले 'मनुष्य मात्र' के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ, फिर साधारण मानव के रूप मे जिसको लेकर निराला जैसा कवि शताब्दी महान कवि बना।)

तब यह स्पष्ट है कि अपभ्रश और आदिकाल दोनो ही साहित्य मे प्रवृत्ति को लेकर लगभग समानताएँ रही है। जैसे अपभ्रश मे रूढि-पोषक और रूढि-विरोधी दो प्रवृत्तियाँ मिलती है, वैसे ही आदिकाल मे। इन्ही रूढिविरोधी प्रवृत्तियो को डा0

नामवर सिह ने 'नवोन्मेष शालिनी' प्रवृत्ति कहा है। तब यह ठीक ही है कि अपभ्रश की इसी प्रवृत्ति ने हिन्दी के आदिकाल को गति दी है। इसी से लोक प्रवृत्ति का विकास होता गया है। अपभ्रश की यही जीवत परम्परा कुछ तो 'सदेश रासक' जैसे प्रेम मुग्ध लोक गीतो मे व्यक्त हुई, कुछ 'भविसयत्त कहा' 'जसहर चरिउ', 'णयकुमार चरिउ' और 'करकड चरिउ' जैसे आख्यान काव्यो मे, कुछ जैन मुनि व बौद्ध सिद्धो के दोहो मे और कुछ स्वयभू एव पुष्पदत के पौराणिक काव्यो मे। हिन्दी साहित्य मे इस प्राणधारा का विकास कही प्रत्यक्ष और कही परोक्ष रूप मे हुआ।[5] इसमे से तो आदिकाल मे 'सदेश रासक' के आधार पर 'वीसल देव रास' (14वी शताब्दी) का विकास माना जा सकता है। इन दोनो मे लोक जीवन के विविध रूप दिखलाई पडते है। 'बीसलदेव रास' पर तो लोक जीवन का प्रभाव इतना गहरा है कि इसका छद भी लोक गीतो का है। इसमे "भावो की तीव्रता और अभिव्यक्ति की सादगी" (डा0 नामवर सिह) द्रष्टव्य है। इसी प्रकार 'ढोला मारु-रा-दूहा' भी (15वी शताब्दी) भी इसी लोक धर्मी परम्परा मे अपना स्वरूप ग्रहण करता है। यहॉ यह ध्यातव्य है कि दोनो ही विरह काव्य 'वीसलदेवरास' और 'दोला मारू-रा-दूहा' मारवाड देश मे लिखे गये है, जहाँ चारणो की राजस्तुतियो की प्रधानता रही है। अत पश्चिमी भारत की लोकधर्मी परम्परा के ये स्वय ही प्रमाण है। इसमे कोई सदेह नही।

इसी प्रकार चारण कवियो के 'चरितकाव्य', अपभ्रश के आख्यामूलक काव्यो से सम्बन्धित माने जा सकते है। यद्यपि आचार्य द्विवेदी इन्हे वीर दर्पोक्तियाँ कहते है, किन्तु 'पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, हम्मीर रासो जैसी कृतियो की जो लोक प्रसिद्धि रही है, उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रासो ग्रथ वीरगाथात्मक होने के कारण लोक प्रसिद्ध थे और मुस्लिम आक्रमणो से निरतर जूझते रहने वाले राजाओ- साभर (अजमेर) का चौहान, राजा दुर्लभराज (द्वितीय), अजयदेव (अजमेर बसाने वाला),

अर्णोराज (अजयदेव के पुत्र), वीसलदेव (अर्णोराज का पुत्र), पृथ्वीराज, हम्मीरदेव आदि- के प्रति जनता मे जो विश्वास बना था, वह चारण कवियो की अतिशयोक्तिपूर्ण रचनाओ मे व्यक्त होता था[6]। स्वय आचार्य द्विवेदी जी पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो जैसे ग्रथो को असदिग्ध मानते हुए भी इन्हे लोक परम्परा मे बहती आने वाली और मूल रूप से अत्यत भिन्न बनी हुई लोक भाषा की रचनाएँ माना है (हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 37) इसी के साथ इस काल के सिद्धो की स्पष्टवादिता, नाथ पथियो का हठयोग, जैनो की अहिसा, खुसरो की लोकानुरजकता, राउल वेल की शृगारिकता आदि कितनी ही कृतियाँ है जिनसे कविता के लोकधर्मी स्वरूप का दोनो स्तरो पर पता चलता है- चाहे वह अपने समय मे सहज जीवन की स्वत स्फूर्त अभिव्यक्ति की बात हो या फिर बाद के भक्तिकाल को प्रभावित करने की दृष्टि से हो। चूँकि आदिकालीन साहित्य, जनजीवन की अनुभूतियो से प्रकट हुआ था, अत इसी कारण से उसमे पर्याप्त विविधता के लक्षण पाये जाते है। कुछ कुछ आधुनिक समय के भारतेन्दु काल की तरह। यह एक आरोपित भाव निबद्ध रचना नही बल्कि सहज जीवन से उद्भूत साहित्य है। यही वह समय है जहाँ नारी के सहज शृगार से लेकर उसके मानसिक सौन्दर्य तक पहुँचने की प्रवृत्ति दिखलाई पडती है। नख-शिख वर्णन, विरह के विविध रूप, विरहिणी नायिका द्वारा प्रियतम के पास सदेश प्रेषण आदि यहाँ मिलते है। किन्तु ये सब सहजता के धरातल पर ही आगे बढते है। रीतिकाल की तरह रूढिबद्ध नही होते।

वस्तुत हिन्दी साहित्य के जन्मकाल की परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी थी कि बौद्ध, ब्राह्मण व जैन साहित्य के उच्च स्तूप धराशाही होकर लोक भूमि मे धूल धूसरित होते मिलते है और सामान्य भूमि पर एक नई लोक वार्तापरक दार्शनिकता, धार्मिकता एव आध्यात्मिकता का निर्माण करते पाये जाते है। बौद्ध-सिद्ध एव नाथो का साहित्य इसे

प्रमाणित करता है। उत्तर भारत मे हर्ष (7वी शताब्दी) के बाद बौद्धो को कोई सहारा न मिला। अत अपनी रक्षा हेतु इसे या तो मठो का सहारा लेना पडा या फिर निचली जातियो का। ईसा की पहली शताब्दी तक बौद्ध सप्रदाय दो टुकडो मे बँट गया था- हीनयान व महायान। महायान शाखा वाले उदार थे जो छोटे बडे सभी को निर्वाण तक पहुँचा सकते थे। अत महायान लोक मन के अधिक निकट था। इसी के बज्रयान और सहजयान दो टुकडे हुए जिनसे बौद्ध सिद्धो का विकास हुआ। इसने पाण्डित्य या कृच्छ साधना का कोई नियम नही बनाया। आठवी नवी शताब्दी तक यह महायान, तन्त्र, मन्त्र, जादू, टोना, ध्यान, धारणा आदि से लोगो को बडी तेजी से आकृष्ट करने लगा। इन सब का मुसलमानी ससर्ग से कोई सम्पर्क न था और ये महायानी बौद्ध हीनयान की अपेक्षा अधिक मानवीय, लोकगम्य, सहज और समन्वयमूलक थे।[7] वज्रयान के अनुसार इन सिद्धो की सख्या 84 है जिसमे सरहपाद (आठवी शती), शबरपा (नवी शती), भूसुकपा (नवी शती), लुइया (नवी शती), विरूपा (नवी शती), डोबिपा (नवी शती), कुकुरिपा (नवी शती), कण्हपा (नवी शती) जैसे प्रसिद्ध सिद्ध है जिनमे रूढियो के विरोध की प्रवृत्ति (जिसका विकास आगे कबीर मे हुआ), सहज शून्य की साधना, आदि भिन्न प्रकार की अवस्थाओ का वर्णन मिलता है।

इसी प्रकार नाथ पन्थ, जिसे राहुल साकृत्यायन ने सिद्धो की परम्परा का ही विकसित रूप माना है, ने 'हठयोग' की साधना आरम्भ की और वाम मार्गी सिद्धो की भोग प्रधानता से अपने को अलग किया। इसमे गोरखनाथ, जो मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य माने जाते है। प्रमुख है, जिनका काल डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नवी शती माना है, शुक्ल जी ने तेरहवी शती। डा0 रामकुमार वर्मा शुक्लजी से सहमत है। समय जो भी हो किन्तु यह सच है कि इन नाथपथियो ने आगे के साहित्य को काफी हद तक प्रभावित किया है। इनके पदो मे ब्रह्मचर्य, वाकसयम, शारीरिक, मानसिक पवित्रता,

ज्ञान के प्रति निष्ठा, वाह्य आचरणों के प्रति अनादर आदि जो कुछ भी मिलता है, उसने परवर्ती साहित्य को गहरे प्रभावित किया, क्योंकि बाद के साहित्य में चरित्रगत दृढ़ता, आचरण शुद्धि व मानसिक पवित्रता का जो स्वर सुनाई पड़ता है, उसका श्रेय इसी साहित्य को है।[8] यह जरूर है कि गृहस्थ के प्रति अनादर भाव ने इसे रुक्ष और कमजोर बनाया है जिससे संत साहित्य के बाद इनका विकास न हो पाया। इनका योगमत संतों को गहरे प्रभावित करता है। नाथ संप्रदाय ने गोरखनाथ के नेतृत्व में समग्र उत्तर भारत को एक सामान्य लोकधर्म के आधार पर, जिसमें लोक परिकर के धर्म भी थे, एक संगठन सूत्र में बाँधने की कोशिश की थी। इसी संगठन के आधार पर इसमें दो प्रवृत्तियों का उदय हुआ। एक ब्राह्मण, दूसरी लोक। लोक प्रवृत्ति समस्त अब्राह्मण प्रवृत्ति का पर्याय थी। ब्राह्मण प्रवृत्ति भेद व भिन्नता के भावभूमि पर खड़ी थी, जबकि लोक प्रवृत्ति सर्वग्रासिणी थी।... लोक वार्ता की इसी सर्वग्रासिणी प्रवृत्ति के कारण उसमें कभी कभी परस्पर विरोधी बातों का समन्वय हो जाता है।[9] तब यह सर्वग्रासिणी प्रवृत्ति, लोक धर्मिता की एक अनिवार्य विशेषता ठहरती है क्योंकि इसी कारण से नाथ-संप्रदाय ने योग को लिया और बाद के साहित्य को प्रभावित किया, अन्यथा तो यह स्वयं ही (योग) एक लोकेतर वस्तु है। 'योग' भले ही लोकेतर वस्तु हो किन्तु जीवन को अलौकिक स्वरूप प्रदान करने का भाव अपने आप में लोक प्रवृत्ति का आधार रहा है, जिसको कबीर लेकर आगे बढ़े। इसी 'योग' ने सूफियों तक को प्रभावित किया। लोक भूमि का वह भाग जिसमें योग के चमत्कारों ने लोक कहानियों में परिणति पायी, अपनी पृथक सत्ता बना ली। इसे सूफियों ने ग्रहण किया। सूफियों की प्रेम कहानियों में एक ओर जहाँ जैन कहानियों के विद्याधरों के चमत्कारों का किंचित उपयोग हुआ है, वही प्रत्येक कहानी में किसी न किसी रूप में जोगी भी आता है। यह जोगी नाथ संप्रदाय का ही अवशेष है। नायक ने बहुधा योगी बनकर अपने प्रियतम

को पाने की चेष्टा की है।[10] अत नाथ सम्प्रदाय की लोकधर्मिता स्वय सिद्ध है।

अत यह कहना ठीक है अपभ्रश ने भारतीय साहित्य को जिस गति से लोक जीवन से दूर जाता देखकर फिर से उसके साथ कर दिया, उसी के प्रयत्न के फलस्वरूप हिन्दी के समूचे साहित्य का निर्माण हुआ। यूँ अपभ्रश का आदिकाल पर और इन दोनो का भक्तिकाल तथा परवर्तीकालो पर प्रभाव परोक्ष ही रहा है, क्योकि स्वय भक्तिकाल की भक्ति धारा का अपभ्रश साहित्य मे अभाव रहा है। यह जरूर है कि उन सब ने और उनके बावजूद, मध्यकाल को प्रभावित किया है।

ऊपर के विवेचन मे मैने 'चरित काव्यो' के महत्व को रेखाकित करते इस बात का सकेत किया है कि 'घटनाओ के सकोच से चरित्रो का प्रस्फुरण और मिथको का निर्माण होता है।' दरअसल मैने यह बार बार महसूस किया है कि हिन्दी साहित्य के सभी युगो मे विविध साहित्यिक प्रवृत्तियो मे चरित्रगत विशेषता एक प्रकार से अतर्भुक्त रही है और इसके स्वरूप को बदलना, उस समय की घटनाओ से निर्धारित होता रहा है। यही बात हमे आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल से आधुनिक काल तक चली आती लगती है। यूँ घटनाओ (परिस्थिति-सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक) और चरित्रो के बीच एक प्रकार का अ-समानुपाती (Inversely proportional) सबध रहा है जिससे जब जब घटनाओ मे स्थिरता आई है, तब चरित्रो की उदात्तता का विकास अपनी चरम सीमा मे दिखाई पडता है। आदिकाल मे मुसलमानो का आक्रमण होता रहा था जिससे घटनाएँ लगातार घटित होती रही थी, जिससे चरित्रो का उभार तो मिलता है (वीरगाथात्मक), किन्तु यह स्थानीय (localized) ही रहा है। लोक प्रसिद्ध चरित्रो को आधार बनाकर अपनी अपनी तरह से गाथाकाव्य लिखे गये है, क्योकि घटनाओ की बहुलता और एक प्रकार 'आशावादिता' ने हिन्दी क्षेत्र मे इन्ही चरित्रो को जन्म दिया। आगे भक्तिकाल तक आते आते (14वी शताब्दी तक) मुसलमानो का आधिपत्य

लगभग स्थापित हो चुका था जिससे एक प्रकार से घटनाओ का (राजनैतिक) सकोच दिखाई पडता है। ऐसी स्थिति मे चरित्रो का उभार देखने लायक है और ध्यान देने की बात यह है कि इसका महत्व उत्तरोत्तर बढता गया है जिसका परिणाम सगुण भक्तिकाव्य है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है आदिकाल की चरित विशेषता मौका पाकर और तेजी से आगे बढी है, क्योकि सिद्धो-नाथो का साहित्य सत काव्य एव सूफी काव्य (अशत) तक ही अपना प्रभाव बनाये रख रका। फिर सगुण काव्य की तात्कालिक पृष्ठभूमि कहाँ से मिलती है? इसका जवाब भी आदिकालीन चरितकाव्य प्रदान करता है। इसके साथ ही जहॉ एक ओर चरित काव्यो की प्रधानता होते जाने से धर्म व नीतिगत आदिकालीन विशेषताओ ने इसका सहयोग दिया, वही इसकी उदात्तता के लिए अपभ्रश व सस्कृत काव्यो की परम्परा ने भी साथ दिया। अब यहाँ आकर चरित स्थानीय न होकर स्थायी हो जाते है। सर्वशक्तिमान व सर्वगुण सम्पन्न हो जाते है और इसीलिए लोकधर्मी काव्य का सामान्य के धरातल पर और भी अधिक सृजन होता है। **आदिकाल की लोकधर्मी प्रवृत्ति (नायक के सन्दर्भ से) का उभार भक्तिकाल में यूँ देखा जा सकता है जहॉ चरित औदात्य गुणों से सम्पन्न होकर सार्वकालिक हो जाते है और सबकी श्रद्धा (भक्ति) का पात्र होते है। घटनाओ की स्थिरता ने इस तरह चरित्रो के विकास में सहयोग किया है कि मनुष्य का आदिकालीन वीरत्व, ईश्वर की अलौकिक सत्ता से सम्पन्न होकर दैदीप्यमान हो उठा।** इसी चरितगत विशेषता के कारण आदिकाल का भक्तिकाल से योग बन जाता है, अन्यथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'प्राणधारा' सत कवियो के आगे बढ ही नही पाती। तब इस प्राणधारा का विकास इन चरित महत्ताओ से दिखाना तर्क सम्मत लगता ही है और इसमे स्वय द्विवेदी जी ने अपनी सम्मति जाहिर की है, क्योकि वीर गाथात्मक काव्यो को कही भी उन्होने उपेक्षा के भाव से नही देखा

है। स्वय आचार्य शुक्ल की 'नैराश्य भावना' सम्बन्धी बात को मान लेने से भक्तिवाद के विकास का तो पता चलता है (तुलसी के सन्दर्भ से) किन्तु आगे 'रीतिकाल' के श्रृगार प्रधान चरित विशेषताओ की पृष्ठभूमि का पता नही चलता। अब यदि इन 'चरित व घटनाओ' को भक्तिकाल के बाद 'रीतिकाल' मे रूपातरित किया जाय, तो रीतिकाल का भी पता चल जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि 17वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे शाहजहाँ के बाद से मुस्लिम का पतन शुरु होता है। 1658 ई0 मे शाहजहॉ के पुत्रो के बीच सत्ता का सघर्ष आरम्भ होता है और यही रीतिकाल के आरम्भ का भी समय है। आगे दो दो आक्रमण भी हुए (1738 मे नादिरशाह द्वारा तथा 1761 मे अहमदशाह अब्दाली द्वारा)। इसी के साथ सामत शाही की प्रवृत्ति का उभार बना और अपनी सारी विकृत अवस्थाओ से यह समय गुजरने लगा। मदिर तक मे ऐश्वर्य व विलासिता की प्रवृत्ति बढ गई। केन्द्रीय सत्ता के उत्तरोत्तर टूटते जाने से इस समय कई सामाजिक राजनैतिक बुराइयाँ आरम्भ हो चुकी थी। घटनाओ के इस बाहुल्यजन्य अध पतनशीलता के कारण चरित्रो के विकास का अवसर तो रहा ही नही, बल्कि प्रक्रिया उल्टी हो गई। ऐसी स्थिति मे नायको का जो सार्वकालिक उदात्त चरित्र था, वह अब जनता के श्रद्धा का कारण नही रहा, क्योकि शोषण के दमन को झेलते जनता भी यह सोचने लगी कि 'ईश्वर' कुछ नही कर सकता। ईश्वर की सार्वकालिक सत्ता व उसकी अलौकिक सामर्थ्य से लोगो का विश्वास डगमगाने लगा। उधर सामतशाही ने दरबारी कवियो को प्रोत्साहित किया। बस क्या था? पूरा रीतिकाल रसमय हो गया। चरित्रो की स्वरूपगत विशेषता, उसकी लावण्यमयता, उसके बाहरी सौन्दर्य का वर्णन केन्द्र मे आ गया। मतलब यह कि अब रूप ही अलौकिक हो गया, जोकि था ही, इसमे से शक्ति गायब हो गई। कवियो ने शक्ति को निकालकर रूपपक्ष पर जोर देकर रीतिकाल की श्रृगार प्रधानता को यूँ प्रभावित किया। इसके लिए कुछ

सामग्री अपभ्रश काव्यो से मिली, तो कुछ आदिकाल से। इसीलिए आप देखेगे कि रीतिकाल के शृगार प्रधान काव्य के नायको का सौन्दर्य काफी बढा चढाकर, विलक्षणता की हद तक किया गया है, क्योकि भक्तिकाल ने पृष्ठभूमि ही कुछ ऐसी तैयार की थी। यह शृगार प्रधानता आदिकाल से इस मायने मे भी भिन्न है कि यहाँ रसिक नायको के केन्द्र मे पौराणिक चरित है, जबकि आदिकाल मे या तो लोक प्रसिद्ध चरित्र थे या फिर कल्पित। अत यह पुष्ट होता है कि "घटनाओ के विस्तार से नायको का सकोच हुआ।" आगे घटनाएँ विस्तार पाती रही। चरित की भावना क्षीण होती गई और 1843 तक आते आते अग्रेजो आधिपत्य हो गया। 1857 का सग्राम इसको पुष्ट करता है और आधुनिक काव्य का यही समय भी है। अब जनता के भीतर से क्या लौकिक, क्या अलौकिक, 'चरितमात्र' के प्रति विश्वास भी जाता रहा। इसमे पश्चिमी सभ्यता की मानववादी वैज्ञानिक सस्कृति ने भी मदद की। अब मनुष्य मात्र ही साहित्य व सभ्यता के केन्द्र मे आ गया। 'नायकत्व' की भावना का लोप यूँ होता है और घटनाओ एक के बाद एक यूँ घटित होती है। यही 'मनुष्य' घटनाओ के और विस्तार पाने से बीसवी शताब्दी मे 'निराला' जैसे कवियो के हाथो और भी पूर्ण हो गया और अब साधारण मनुष्य, जन-सामान्य, उपेक्षित मनुष्य, साहित्य चितन के केन्द्र मे आ गया। आदिकाल व अपभ्रशकाल के पौराणिक व लोक प्रसिद्ध चरित्रो का इतिहास यहाँ तक आते आते यूँ रुक जाता है और बलई, मसुरिया जैसे सामान्य जनता के भीतरसे ढेर सारे सामान्य चरित फूट पडते है। सभव है कि धनपाल के 'भविसयत्तकहा' का सामान्य लोक जीवन से उभरा 'वणिक' चरित्र आधुनिक काल मे निराला के हाथो बलई, मसुरिया, कुल्लीभाट, बिल्लेसुर आदि के द्वारा यूँ अभिव्यक्ति पाता है। **समूचे हिन्दी साहित्य मे, इसकी कविता में आख्यानमूलक चरितों का यह 'विकेन्द्रीकरण' बड़ा ही रोचक है और इससे भी अधिक रोचक है**

चरित व घटना का यह सबंध जिसका विश्लेषण ऊपर हो चुका है। हमारी हिन्दी कविता की लोकधर्मी परम्परा का यह सर्वोत्तम उदाहरण है।

ऊपर के विवेचन मे मैने 'चरित' प्रधान काव्यो के रूपान्तरित होते जाने वाली प्रवृत्ति के आधार पर पूरे हिन्दी कविता की विकास की विविध अवस्थाओ का सकेत किया है। ऐसा मैने इसलिए किया क्योकि हिन्दी कविता का प्राणधारा मूलत 'नायकत्व' प्रधान रही है। हर समय मे हमारी जनता, अपनी आशा-आकाक्षाओ के लिए किसी नायक (लौकिक, पौराणिक, पारम्परिक आदि) की ओर ताकती रहती है। इसे ही आधुनिक समय का एक प्रखर समाजशास्त्री 'मैक्सवेबर' पारम्परिक (Traditional), ऐश्वर्य प्रधान (Charismatic) सत्ता के नाम से पुकारता है। वह एक और Rational-Legal Authority की बात करता है किन्तु उसका सन्दर्भ राजनैतिक व्यवस्थाओ से है, जिस कारण से आधुनिक प्रजातन्त्र मे शासन तन्त्र के महत्व का पता चलता है। अत हिन्दी कविता की यह नायकत्व प्रधानता, इसकी लोकधर्मी चेतना का एक सबल प्रमाण प्रस्तुत करता है। आधुनिक काल मे यह नायक, अब सामान्य से सामान्य जनता के रूप मे फैलकर अपने अधिकारो के लिए सघर्ष कर रहा है, तो यह और भी सुखद बात है क्योकि इससे जनता की चित्तवृत्ति का पता चलता है। अब सघर्ष उसके लिए अनिवार्य हो उठा है। वह बाहर न 'ताककर' अपने भीतर झॉकता है और लडाई लडने को तैयार है। इसी सघर्ष प्रधानता ने आज 'सौन्दर्य' को बहिरगो से अलग करते जनता के सघर्ष पक्ष, उसकी आतरिक स्थिति, उसके आत्म विश्वास से जोड दिया है। इसी की अभिव्यक्ति आज की हिन्दी कविता मे यदि हो रही है तो हमारी सार्थकता है। इसी को मै 'लोक सौन्दर्य' कहता हूँ। यही लोक जीवन का सौन्दर्य भी है, अन्यथा तो बडी से बडी लोक जीवन की अभिव्यक्तियाँ भी हिन्दी कविता का उद्धार नही कर सकती।

2- भक्तिकालीन सन्दर्भ-

भक्तिकाल के उदय की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि 14वी शताब्दी तक आते आते मुस्लिम शासन का आधिपत्य स्थापित हो चुका था और सम्पूर्ण उत्तर भारत मे राजाओ-महाराजाओ के बीच का आपसी सघर्ष लगभग समाप्त हो चुका था। इस समय जो इस्लाम धर्म भारत मे आया, वह एक मजहबी धर्म था जिससे उत्तर भारत की जनता के लिए बिल्कुल ही वह नया था और यही वजह रही कि उसके साथ इनका सामजस्य बैठ पाना कठिन हो रहा था। इसी के साथ, उत्तर भारत की जनता के बीच, अपनी मजबूत स्थिति के विचार स्वरूप हिन्दू शब्द उत्पन्न हुआ और स्थिति यह रही कि इस्लाम की प्रतिक्रिया मे 'जातिगत कठोरता और धर्मगत सकीर्णता" पूरे हिन्दू धर्म की मुख्य विशेषता बन गई। यह तात्कालिक प्रतिक्रिया थी जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू धर्म मे नीच समझी जाने वाली जातियो के लिए मुस्लिम धर्म सबसे उपयुक्त लगा क्योकि वहाॅ जातिगत बधन नही था और व्यक्ति से अधिक समुदाय का महत्व हुआ करता था। तब यह स्पष्ट होता है कि भक्तिकाल के आरम्भ मे ही समाज सकीर्णताओ से ग्रस्त हो गया और ऐसी स्थिति मे समझदार लोगो की जिम्मेदारी बनती थी कि समाज को इससे मुक्त कराये। **अतः पूरा भक्तिकाल इन्ही संकीर्णताओं से मुक्ति का प्रयास है और इस मुक्ति के प्रयास में पूरा काव्य संघर्ष से समन्वय की ओर प्रवहमान होता रहा है जिससे लोकधर्मी चेतना का जितना स्पष्ट और तीव्र स्वर आरम्भ के सत कवियो में दिखाई पड़ता है उतना बाद के कवियों में (तुलसी आदि सगुण कवियों में) दिखाई नही पड़ता।** शायद इसका कारण यह भी रहा है कि समय के उत्तरोत्तर विकास मे हिन्दू धर्म, शास्त्र सवलित होता गया है और अपने स्वभाव के अनुरूप लोक चेतना के प्रभाव मे यह अपने को बदलता रहा है जिससे आगे हिन्दू

धर्म मे जैसे जैसे ऊपरी स्तर पर सकीर्णताएँ शास्त्रानुमोदित होकर वैधता प्राप्त करती गई, लोकधर्म की सघर्षधर्मी चेतना भी क्षीण होती गयी। कबीर से तुलसी तक के काव्य मे इसे यूँ देखा जा सकता है।

दरअसल आदिकाल का अत और भक्तिकाल का आरम्भ, ऐसे सन्धिस्थल को जन्म देता है जहाँ एक ओर वीरगाथात्मक चरित्रो की तीव्रता मदहोती है और सिद्धो-नाथो की लोकधर्मी चेतना तीव्र होती है जो परम्परा से ही चली आ रही थी और यह सयोग ही कहना चाहिए कि कबीर जैसा व्यक्तित्व 1400 ई0 के आस पास, उस नाथपथियो की परम्परा मे उत्पन्न होता है जो हठयोग के मार्ग से जन सामान्य की रुचियो के अनुरूप रही है, जिसमे वर्ण व्यवस्था, जातिगत विषमताओ, धर्मगत सकीर्णताओ के प्रति तीव्र आक्रोश रहा था। ठीक इसी समय इस्लाम धर्म के आगमन से जब हिन्दू धर्म और भी कठोर होता जाता है तो ऐसे समय मे ऐसे प्रतिभाशाली कवि, समाजसेवी, व्यक्ति (जो भी कहेगे) की जरूरत होती है जो उन सिद्ध-नाथपथी योगियो के स्वर को ऊँची आवाज मे कह सके। कबीर ने ठीक यही काम किया और उनके साथ सारे सत कवियो ने। इन कवियो के हाथो उस समय की दो प्रमुख समस्याओ-जातिभेद और धर्म भेद पर तीखा हमला किया गया और चूँकि हिन्दू धर्म ने, इन दोनो के औचित्य को "शास्त्र के आधार पर सिद्ध करने की कोशिश की थी इसलिए शास्त्र भी सत कवियो के 'आक्रोश' का कारण बना। तब यह ठीक ही है कि भक्तिकाव्य का मुख्य अतर्विरोध शास्त्र और लोक का ही था जिससे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी सहमत है। इसी समय सूफियो के द्वारा 'प्रेम' भाव का प्रभाव भी सत कवि कबीर पर पडा और रामानन्द के द्वारा 'राम राम' का महत्व बताये जाने पर 'भक्ति' का रूप ले लिया। इसी को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर के बारे मे 'योग के थाले मे भक्ति का बीज' कहते है। वस्तुत यह 'भक्ति ही प्रेम भगति है और यह प्रेम भाव

भगति है।' इसी 'प्रेम' के आधार पर कबीर ने 'मनुष्यता' की बात उठाई और अपने ईश्वर को 'सर्व निरपेक्ष परम तत्व' कहा है जिससे उनका 'ब्रह्म' मुस्लिम के एकेश्वरवादसे अलग हो जाता है क्योकि इस्लाम के अनुसार उसके ईश्वर के समान कोई दूसरी सत्ता नही, जबकि कबीर के अनुसार 'उसके राम के अलावा कोई है ही नही"। इसी 'राम' के आधार पर कबीर ने सामाजिक विषगतियो पर जमकर हमला किया और लोकधर्म के प्राणधारा की रक्षा की। कबीर की यह आह्वान परकता, यद्यपि प्रतिक्रिया स्वरूप सबोधनात्मक ही रही, किन्तु इसने 'लोकधर्म' को विवेक सम्मत भी बनाया और नाथो-सिद्धो की परम्परा से चली आ रही सूक्ष्म वृत्तियो का जमकर प्रयोग किया। यहाँ तक आते आते ऐतिहासिक पौराणिक, लोक प्रधान सारे के सारे चरित अपनी नि सारता को प्रमाणित कर रहे थे और वर्षो से दबी उपेक्षित जनता की आवाज अपनी बुलदियो पर थी। अत इस्लाम धर्म के सम्पर्क की तात्कालिक प्रतिक्रिया "भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने वाले" (आचार्यशुक्ल) पौराणिक चरित नायको रूप मे 'शास्त्र सवलित तात्विक दृष्टिसम्पन्न' न होकर परम्परा से चली आ रही सिद्धो-नाथो मे "लोकधर्म" के 'ऐतिहासिक' सघर्ष धर्मी चेतना के रूप मे प्रतिफलित हुई जिसने कबीर के रूप मे निर्गुण 'राम' को आधार बनाया, जो किसी साम्प्रदायिक शिक्षा का आधार न होकर एक अदृश्य शक्ति की कल्पना थी, जिससे सम्पूर्ण मनुष्यता की भावना की रक्षा हो सके। हाँ, यह अवश्य है कि इसके कुछ समय बाद जब हिन्दू धर्म मे भी कुछ लचीलापन आया, तब इस सघर्षधर्मी चेतना का प्रभाव कम हुआ और समन्वयवादी विचार प्रणाली का विकास होने लगा। इसी समन्वयवादी विचार के परिणाम स्वरूप एक ऐसे "महानायक" की जरूरत महसूस हुई जो समाज के विविध वर्गों जातियो, वर्णो, धर्मो के बीच सम्पर्क सूत्र स्थापित कर समरस की भावना का सचार करे। ठीक इसी समय पौराणिक शास्त्रो की ओर ध्यान गया और सगुण भक्ति की भावना का उदय

हुआ। तुलसी का काव्य इसी समन्वयवादी, लोक चेतना का परिणाम रहा है, जिसमे 'सघर्ष' की भावना की जगह 'सामजस्य' की भावना का सचार मिलता है। **नायक प्रधान काव्य की इससे अधिक कल्पना और क्या हो भी सकती थी। तब यह ठीक ही है कि भक्तिकाल में जैसे जैसे 'नायकत्व' की भावना का संचार होता गया, वैसे वैसे शास्त्र सवलित होकर 'काव्य सौन्दर्य' की मात्रा में विकास होता गया, किन्तु लोक सौन्दर्य (सघर्ष धर्मी चेतना) का भाव कम होता गया है।** कबीर जायसी, सूर, तुलसी मे इसे देखा जा सकता है कबीर मे जहॉ सामाजिक व्यवस्था के भीतरी विषगतियो पर सीधे चोट की गई है, रूढिवाद का विरोध किया गया है, वहाँ तुलसी मे सामाजिक व्यवस्था (लोकपक्ष) का चित्रण भर मिलता है। कबीर सब कुछ को छोडकर मनुष्यमात्र को केन्द्र मे रखकर चले थे, तुलसी सब कुछ को मानकर 'अलौकिक सत्ता' मे विश्वास व्यक्त किये थे। कबीर भेद-भाव को ही नष्ट करना चाहते थे, तुलसी इनके रहते इनके बीच किसी समन्वय के मार्ग को ढूढ रहे थे। (तब कबीर जहॉ आधुनिक समय मे अम्बेदकर के निकट होते हैं, वही तुलसी गॉधी के)। स्पष्ट है पहला पूरे समाज को बदलना चाहता था जबकि दूसरा समाज जैसा है, उसी के भीतर से मार्ग तलाश रहा था। इस कारण पहला जहाँ प्रगतिशील था दूसरा अपनी मूल चेतना मे यथाचित्रणवादी। इस सन्दर्भ मे आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "उनकी प्रतिभा (तुलसी की) अधिकतर उपलब्ध प्रसगो को लेकर चलने वाली थी, नये नये प्रसगो की उद्भावना करने वाली नही। उनकी कल्पना वस्तु स्थिति को ज्यो की त्यो लेकर उसके मार्मिक स्वरूपो के उद्घाटन मे प्रवृत्त होती थी "[11] इससे स्पष्ट है कि तुलसी मे जैसा है, प्रसग वैसा ही होता है, यह बात और है कि उसके भीतर घुसकर उसके और 'जैसे तैसे' स्वरूपो का उद्घाटन किया जाता है। मतलब कि प्रत्यक्ष को और भी अधिक पारदर्शी बनाना। विषम की विषगति को और भी

उद्घाषित करना। इसी कारण आचार्य शुक्ल तुलसी के जिस लोक धर्म की तारीफ करते नही थकते और इनके "प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य के क्षेत्र मे चमत्कार समझते भारतीय जनता का प्रतिष्ठित कवि कहते हुए इनके भीतर व्यक्तिगत साधना के साथ लोकधर्म (लोकपक्ष) की उज्ज्वल छटा देखते काफी मुग्ध होते है", (हिन्दी साहित्य का इतिहास) वह काव्य सौन्दर्य के कारण चाहे जितनी महान हो, किन्तु लोक धर्म की सघर्ष धर्मी चेतना की क्षीण प्रवृत्ति के कारण बाद के समय के लिए बहुत महत्वपूर्ण नही लगती। ध्यान देने की बात है कि मैने यहाँ पर उनके 'सौन्दर्यपक्ष' को नकारा नही है। केवल लोक प्रसूत सर्जनात्मक परिवर्तन की बात को उठाया है। तब तुलसी एक कुशल 'लोक व्यवस्थापक' ही है और अधिक से अधिक यही हो सकते थे। कारण फिर वही, कि लोक धर्म, उनके लिए आर्य धर्म वर्णाश्रम धर्म ही था, जिसका मूल उद्देश्य ही 'वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वेद विहित कर्म, शास्त्र प्रतिपादित ज्ञान इत्यादि के साथ सामजस्य स्थापित करके आर्य धर्म को छिन्न भिन्न होने से बचाना है" (तुलसी, रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 19)। तुलसी के बारे मे आचार्य शुक्ल लिखते है कि "ससार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक कोने को स्पर्श करता जो धर्म निकलेगा वही धर्म लोकधर्म होगा" (तुलसी, पृ0 19) तब यह ठीक ही है कि तुलसी मे यथा चित्रण का आग्रह अधिक था। **दरअसल तुलसीदास पौराणिक चरित्रों के माध्यम से सामाजिक सरचना को देख सकते थे, जबकि सामाजिक संरचना के भीतर से चरित्रों (लोक) का विकास किया जाना चाहिए। यही कार्य आगे आधुनिक समय में निराला ने किया। इस रूप में निराला, तुलसी के क्रम को यूँ उलटते हैं।** बहरहाल इन दोनो के बीच सूफी कवि जायसी और सगुण कृष्णभक्त सूरदास का काव्य मिलता है। इन दोनो ने 'प्रेम' भाव के आधार पर लोक चेतना को जिलाये रखने की कोशिश की है। जायसी के सामने सबसे बडी समस्या हिन्दू-मुस्लिम एकता

की थी जिसके लिए उन्होने 'हिन्दू' समाज मे परम्परा से चली आ रही 'लोकप्रिय कथाओ' को आधार बनाया, जिसमे 'ह्रदय पक्ष' पर बल देकर प्रेम की भावना का सचार कराया और ह्रदय की समान अवस्था के आधार पर मनुष्यता के भाव की रक्षा की। जायसी के समक्ष न तो जातिगत भेद प्रमुख थे और न ही शास्त्रगत कसौटी। इनके सामने धर्मगत सकीर्णताएँ प्रमुख थी जिसको दूर करना इन्होने जरूरी समझा, क्योकि समाज मे बँटे इन दो धर्मो के बीच भावना का सचार होना, इनके लिए लोकहित मे जान पडा। तब यह भी ठीक है जायसी ने जहॉ सयत भाव का परिचय देते, बगैर किसी प्रतिक्रिया व खीझ के हिन्दू मुस्लिम के बीच एकता का भाव प्रदर्शित किया, वही कबीर ने झाड-फटकार, अक्खडता, फक्कडता के माध्यम से इसे अर्जित करने की कोशिश की, जिससे प्रतिक्रियाजन्य निषेधात्मक प्रतिरूप ही जन्म ले सके और जितनी तेजी से ये भाव व्यक्त हुए, उतनी ही तेजी से इनका प्रभाव भी जाता रहा। शायद ये अपने प्रभाव मे लोकधर्मी होते हुए भी अपनी परिणति मे सयत होकर बहुत दूरगामी न हो सके, क्योकि वर्षो से चली आती व्यवस्था को क्षणिक भावोन्माद से बदलना न तो उचित था और न ही सभव। उसके लिए जिस सयम धैर्य व प्रतीक्षा की जरूरत होती है वह कबीर मे निश्चय ही न थी। (जबकि तुलसी मे यह धैर्य था, किन्तु उनमे उपेक्षित जनता के द्वारा सघर्ष को प्रत्यक्ष करने की ताकत न थी। लोकोन्मुखता थी लेकिन उसमे लोकचित्रण अधिक था, निर्णयात्मक कम। चित्र से अधिक चित्रण था और भाव से अधिक भावना थी। जाहिर है चित्रण व भावना के द्वारा केवल चीजो को सलीके से रखा ही जा सकता था, उनके बीच एक व्यवस्था दिखाई जा सकती थी। उनके बीच समन्वय से अधिक समानता स्थापित कर पाना सभव न था)। इसी को देखते आचार्य शुक्ल ने कबीर व जायसी की तुलना करते कहा है कि "कबीर ने अपनी झाड फटकार से हिन्दुओ और मुसलमानो के कट्टरपन को दूर करने का

जो प्रयास किया है वह अधिकतर चिढाने वाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करने वाला नही। मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक सबध है, ~~यह उसकी कभी किया करता है~~, उसकी अभिव्यजना उससे न हुई। कुतुबन, जायसी आदि इस प्रेम कहानी के कवियो ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओ को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव पडता है। हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने सामने करके अजनबीपन मिटाने वालो मे इन्ही का नाम लेना पडेगा। इन्होने मुसलमान होकर हिन्दुओ की कहानियॉ हिन्दुओ की ही बोली मे पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओ के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हूई।"[12]

दूसरी ओर जब हम *सगुण कृष्णभक्त कवि सूरदास* पर विचार करते है तो स्पष्ट होता है कि इनके सामने हिन्दू-मुस्लिम धर्म के विभाजन जैसी समस्या न थी। उस समय तक समाज स्थिर हो चुका था और ऐसी स्थिति मे जातिगत विद्वेष, धर्मगत सकीर्णता की भावना भी न थी। ऐसा नही कि समाज मे यह सब प्रवृत्तियॉ उपस्थित न थी किन्तु इनके लिए (सूरदास) यह सब महत्व की न थी। शायद इसका कारण यह भी था कि उस समय तक निर्गुण सम्प्रदाय का इतना जोर था कि यही समस्या सूरदास के लिए प्रमुख हो गई थी। प्रेम की नीरस उक्तियो के आधार पर, कपोल कल्पित कहानियो के आधार पर मनुष्य के हृदय मे भावना का सचार करना इन भक्त कवियो को अच्छा न लगा। सूरदास तक आते आते एक घटना यह भी हुई कि कबीर मे व्यक्त नाथ-सिद्ध योगियो की लोकधर्मी चेतना समाप्त हो चुकी थी, जिससे आगे इसके विकास का अवकाश न रहा। तब ऐसी स्थिति मे आदिकाल की 'चरित भावना' को

प्रस्फुटित होने का अवसर मिला जो अब इतिहास प्रसिद्ध, लोक चरित्रो से ऊपर उठकर पौराणिक ऊँचाई को छूने लगी, क्योकि मनुष्य-मनुष्य के बीच सरस भावना का सचार करने के लिए नायक के रजक पक्ष की कल्पना की गई जिसकी सहायता तुरत ही शास्त्रो ने की। (आगे यह चरित्र तुलसी मे और भी उदात्त हो गया, जहॉ लोक रजक के साथ रक्षक के नायक की भी बात उठी) परम्परा से चली आ रही ऐतिहासिक घटनाओ (सिद्धो नाथो की हठवादिता, हिन्दू मुस्लिम धर्म भेद आदि) का सकोच, यूँ चरित्रो के उभार मे सहायक होता है और लोक रजक की भूमिका तैयार करता है। सूर के समय मे निर्गुण सत सप्रदाय की बाते जोर शोर से चल रही थी[13] जिससे 'भ्रमरगीत' मे सूरदास ने सगुणोपासक का निरूपण बडे ही मार्मिक ढग से किया है, यद्यपि भागवत मे यह (सगुण-निर्गुण प्रसग) प्रसग नही है। इसी रजक रूप के कारण परम्परा से चले आते जयदेव, विद्यापति व चण्डीदास के गीत इनको तैयार शुदा माल के रूप मे मिलते है। कृष्ण चरित के गान मे गीतकाव्य की जो धारा पूरब मे जयदेव व विद्यापति ने बहाई उसी का अवलम्ब ब्रज के भक्त कवियो ने भी किया, ऐसा आचार्य शुक्ल ने कहा है।[14] यद्यपि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सूरदास की ब्रजभाषा (पश्चिमी) पर इन पूर्वी भक्त कवियो का प्रभाव नही स्वीकारते और कहते है कि पश्चिमी भारत मे कृष्ण लीला परम्परा पहले से ही वर्तमान थी और दीर्घकाल से इस प्रकार के पद (तानसेन और बैजू बावरा के पद) जनता मे प्रचलित थे जिनमे श्रृगार और धर्म की प्रधानता थी। श्रृगार व धर्म के लिए रचे जाने वाले इन पदो को सूरदास ने नया स्वर दिया जिसमे भगवान की लीला की प्रमुखता हो गई और ऐकातिक भक्ति का प्राधान्य प्रतिष्ठित हुआ[15] पर एक बात तो निश्चित ही है कि शुक्लजी और द्विवेदी जी दोनो ही लोग कृष्ण काव्य की पूर्ववर्ती परम्परा को स्वीकारते है। डा0 रामविलास शर्मा के अनुसार जयदेव-विद्यापति से भिन्न द्विवेदीजी सूरदास का सम्बन्ध वामाचारी

सिद्धो के पदो से जोडते है। द्विवेदीजी का मत है कि ऐसे पदो का प्रयोग निर्गुण उपासक करते आ रहे थे, इन्हे सगुण रस से सरस करना सूरदास का ही काम था[16] और डा0 शर्मा इस मत का जबरदस्त प्रत्याख्यान करते शुक्लजी के साथ ही खडे होते है, फिर भी स्थिति इतनी तो स्पष्ट ही है कि सूरदास को गीत परम्परा से ही प्राप्त थे जिसमे इन्होने भगवान के लीलामय रूप की विविध रूप मे प्राण प्रतिष्ठा कर लोक जीवन को सरस बनाने की कोशिश की। इसी के साथ, इन्होने लोक रूढियो से भी विद्रोह किया और प्रेम के सहज उच्छवास की अभिव्यक्ति की। तन्मयता के आधार पर हृदय को जोडा जिससे जाति-भेद, धर्म आदि की सकीर्ण मान्यताओ से काव्य ऊपर उठा। 'नवीन प्रसगो की उद्भावना' द्वारा प्रेमलीन नाना अनुभूतियो की व्यजना की (शुक्लजी)। **अत: वस्तु के धरातल पर 'मिथक का सहारा लेकर भी लोक उपमानों के माध्यम से इन्होने जो रचनाएँ दी उनका लोकधर्म (विद्रोह) अप्रतिम है और इसी से लोक सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है।** इनका लोक जीवन, अपने सीमित दायरे मे क्रियाशील है और क्रियाशीलता की ऐसी ही अभिव्यक्ति कविता मे लोक सौन्दर्य का कारण हुआ करती है। इनकी कविता लोक जीवन से गृहीत अनुभूतियो की कविता है। इस कविता के सारे आध्यात्मिक सकेतो को निकाल दिया जाय, उसके साम्प्रदायिक आशयो तथा धार्मिक-दार्शनिक निरूपणो को भी तरजीह न दी जाय, उसे महज ससार सागर की रूप तरगोसे प्रभावित होनेवाली, उसी से प्रेरणा लेने वाली, विशुद्ध मानवीय और विशुद्ध लौकिक अनुभूतियो की कविता के रूप मे स्वीकार किया जाय तो भी लोक जीवन के बहु आयामी सौन्दर्य का जो अक्षयकोष उसमे है, मानवीय जीवन के हर्ष विषाद का जो आख्यान उसमे है, लोक की पीडा और उल्लास के जोर स्वर उसमे है, मात्र इन सबके बल पर ही किसी भी सहृदय के मन पर अमिट छाप छोडने मे समर्थ है[17]। तब यह ठीक ही है कि 'मनुष्यता

के सौन्दर्यपूर्ण एव माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक भक्त कवियो ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी[18]। यह दूसरी बात है कि प्रेमलक्षणा भक्ति ने अश्लीलता का प्रवृत्ति भी जगाई (आचार्य शुक्ल)।

इन विशेषताओ के बावजूद यह कहना ठीक ही है कि सूरदास और कृष्णोपासक कवियो मे प्रेम का ऐकातिक पक्ष ही अपनी पूरी गहराई मे उद्भूत हो पाता है। ये (सूरदास) अपने भाव मे मगन रहने वाले व्यक्ति थे। ससार मे क्या हो रहा, लोक की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है, इन बातो की ओर इन्होने अधिक ध्यान न दिया।[19] लोकपक्ष (सामाजिक-पारिवारिक स्थिति) भी इनके यहाँ नही मिलता। लोक रक्षक (नायक की विशेषता) का भाव भी अनुपस्थित है। जिस समय मे लोगो मे 'झूठी शान, थोथी मानप्रियता और उद्देश्यहीन धर्माचार का बोलबाला था, (उस समय) भावुक सूरदास विरक्ति का अनुभव कर रहे थे[20]। यही इनका दोष है क्योकि मनुष्य को पूर्ण रूप से सजग बनाने के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता होती है, जो उसे कर्त्तव्यपथ पर चालित करे और जीवन के प्रत्येक सघर्ष मे विजयी होने के लिए उमग सचारित करे। (यह काव्य) वर्तमान काल के सघर्ष सकुल जीवन मे नई प्रेरणा नही दे सका।[21]

तब इस पृष्ठभूमि मे 'नायक' को लेकर सगुण भक्ति के लोक रक्षक स्वरूप का उदय तत्कालीन समय की जरूरत रही थी। तुलसी के उदय की यही पृष्ठभूति है। इस समय के (16वी शताब्दी 1575 से रामचरित मानस लिखा जा रहा था) समाज मे नाना भाँति के परस्पर विरोधी सस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार-विचार, पण्डित-पाखण्डता, मिथ्या आत्मविश्वास, ऊँच-नीच भाव आदि स्थिरता प्राप्त कर चुके थे और मुस्लिम प्रभाव से हिन्दू धर्म भी आत्म रक्षा के भाव से अनावश्यक रूप से कठोर हो चुका था। यूँ कबीर के समय से जो प्रक्रिया आरम्भ हुई थी, वह तुलसी तक

आते आते स्थिरता प्राप्त कर चुकी थी और इसे अब और भी विषम होते जाने की कोई सभावना नही बची थी। इसके साथ निर्गुण-सगुण रूप मे बटे धर्म की स्थिति तो थी ही, साथ साथ शास्त्र-लोक के बीच के विभेद भी स्थिरता प्राप्त कर चुके थे। ऐसी स्थिति मे किसी ऐसे 'नायक' की कल्पना करना ही सभव था, जो इन सभी विभाजित स्थितियो मे 'समन्वय' स्थापित कर सके और जाहिर है इसके लिए जरूरी था शास्त्र व लोक, दोनो का पूर्व ज्ञान। तुलसीदास मे यह प्रतिभा थी और रामानन्द की परम्परा मे बाबा नरहरिदास से जो राम की कथा सुनी थी, उसे अपनी प्रतिभा के आधार पर उदात्त सगुण स्वरूप प्रदान किया जिससे 'नायक' का उभार देखते ही बनता है। मनुष्य के रूप मे ईश्वर का अवतार ही उन विषम परिस्थितियो की मॉग थी जिसे 'कथा' के आधार वर्तमान की परिस्थितियो से जोड दिया। ऐसी स्थिति मे व्यक्तिगत साधना के साथ लोकपक्ष (पारिवारिक व सामाजिक स्थितियो) का भी विषद चित्रण इनके काव्य मे हुआ, जो कि सूरदास मे उपेक्षित रह गया था। कबीर की 'गलदश्रु भावुकता' (हजारी प्रसाद द्विवेदी) इनमे न थी, जिससे इनमे अभिव्यक्ति का सयम भी दिखाई देता है। अपने समय मे प्रचलित सभी काव्य पद्धतियो को पचाकर इन्होने अद्भुत 'ग्राहिका शक्ति' का परिचय दिया था। इतनी बडी पहचान दृष्टि व सूक्ष्म अतर्दृष्टि के साथ तुलसी का आविर्भाव एक ऐतिहासिक घटना थी जिसके द्वारा उनमे केवल लोक और शास्त्र का समन्वय नही है, वैराग्य व गार्हस्थ का, भोक्ता और ज्ञान का, भाषा और सस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण एव काव्य का, भावावेग और अनाशक्त चितन का, ब्राह्मण और चाण्डाल का भी समन्वय है[22]। इसके साथ यह भी ध्यान देने की बात है कि तुलसी मे कथाकाव्य के सम्पूर्ण अवयवो, प्रसगानुकूल भाषा के साथ साथ 'कथा के मार्मिक' स्थलो की पहचान के लक्षण भी मिलते है और 'तुलसी' की लोकप्रियता के लिए यही 'मार्मिक स्थल' ज्यादे उत्तरदायी है क्योकि ये

सम्बन्धो व स्थितियो के सहज भाव से उद्भूत होते है। इतने आदर के बावजूद यह तो कहना ही पडता है कि 'कथा' से इतर वर्तमान समय की स्थितियो के प्रसग मे वे 'चित्रण' पर अधिक बल देते है जिससे लोक जीवन मे उपेक्षित जनता के सघर्ष का पक्ष दब सा जाता है। केवल उनकी कारुणिक अवस्था का बोध भर होता है। मध्यकाल की सकीर्णताओ से मुक्ति के प्रयास मे तुलसी का काव्य यूँ सकीर्णताओ का चित्रण भर बनकर रह जाता है। यह तुलसी के समन्वयवादी दृष्टिकोण की अतनिर्हित (ınherent) कमजोरी है। अपनी मूल चेतना मे यह लोकोन्मुखी होने के कारण भी लोक जीवन के ठोस यथार्थ को देखते उसे निर्णायक भूमिका नही दे पाता। अपने चरितनायक को अलौकिक सत्ता से अभिमडित करने का परिणाम यही रहा कि सामान्य आदमी के द्वारा नायकत्व (सघर्षधर्मी) स्वीकार करने का विकल्प ही बन्द हो गया। सब कुछ का निदान उसी अलौकिक सत्ता के द्वारा ढूँढा जाने लगा जिससे लौकिक सत्ता की सभावनाएँ क्षीण हो गई। तब यह ठीक ही है कि सूरदास मे अनुपस्थित "लोकपक्ष" तो तुलसी मे मिलता है, किन्तु सूरदास का प्रेम आधारिक रूढि विरोधी (सघर्ष) पक्ष तुलसी मे अनुपस्थित है। यूँ सूरदास का नायक जहाँ ऐकातिक प्रेम से उद्भूत है, वही तुलसी का नायक लोकपक्ष का विराट स्वरूप है। यही 'नायक' आगे रीतिकाल मे शक्तिमान तो रहता ही है, शृगारिका भी बन जाता है और प्रेम का व्यापार उसकी समस्त अलौकिक सत्ता मे दरबारो मे कैद हो जाता है। समाज के सम्पूर्ण जीवन को आलोकित करने वाली यह विराट चरित्र आगे दरबारो को ही आलोकित करने वाला बन जाता है और ऐसा 17वी शताब्दी मे घटनाओ के बाहुल्य के कारण होता है जहाँ मुस्लिम साम्राज्य का पतन शुरु हो जाता है जिसकी चर्चा मैने पीछे की है। *लोक नायक से दरबार नायक बनने की यह प्रक्रिया शोध का एक अलग विषय है।*

ऊपर के विवेचन की पृष्ठभूमि मे अब यदि हम निर्गुण सत भक्तो (कबीर) से

लेकर सगुण राम भक्तो (तुलसी) तक के भक्तिकालीन विकास प्रक्रिया का सूक्ष्म पर्यालोचन करते है, तो यह पता चलता है कि सत कवि का लोक जहाँ विशेष (तात्कालीन, समय सापेक्ष, अनुभव जन्य) था, वहाँ सगुण भक्त कवि का कुछ कुछ सामान्य था। तब सबल और निर्बल दोनो ही थे। कबीर का 'लोक' जहाँ 'विशेष' (तत्कालीन) होने से अपेक्षाकृत गतिशील था, वही यह भी था कि 'लोक' की किसी सर्जनात्मक सत्ता का पता नही चल पाता था, क्योकि ये कवि 'लोक' के भीतरी मर्म (सामान्य) तक पहुँच ही न सके थे। दूसरी तरफ तुलसी का लोक जैसा है, वैसा न होकर जैसा होना चाहिए कुछ कुछ इस भावना सचालित था और ऐसा उनकी शास्त्रीय दृष्टि के कारण था, जिससे वर्तमान को भी वे उसकी परम्परा और ऐतिहासिकता मे देखते थे। *तब यह ठीक ही है कि तुलसी का लोक कबीर की तुलना मे 'आत्मानुभूत' से अधिक 'आत्म-शास्त्रानुभूत' हो जाता है जिससे लोक की अनगढता उसकी प्रवहमानता से अधिक उसका व्यवस्थागत चित्रण अधिक होने लगा।* इस रूप मे वे लोक 'सामान्य' सत्ता तक पहुँचकर उसके भीतरी मर्म को पहचानकर इसके निषेधात्मक रूपो को बताते तो रहे थे किन्तु लोक की विशेष सत्ता का पक्ष उपेक्षित रह गया जिससे उसका गतिशील पक्ष (स्वानुभूत, वैविध्यपूर्ण, सघर्ष) पहचानने का सकट भी छा गया। जाहिर है 'लोक' की वह 'गतिशीलता', जिसमे वस्तु के भीतरी ही दृष्टि का विधान मिलता है, तुलसी मे कम हो जाती है। शायद यही कारण है कि कबीर का यही लोक आधुनिक काल मे निराला की सवेदना के अधिक निकट होता है जहाँ बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा से अपने अनुभवो को व्यक्त किया गया है। प्रगतिवाद का वह (शास्त्र निरपेक्ष) विद्रोह भी, यही से प्रभावित है जो पुन साठोत्तरी कविता मे फूट पडता है। अब निराला सवेदना के धरातल पर कबीर के निकट होते हुए भी, कबीर की चर्चा कही नही करते, यह एक अलग से अध्ययन का विषय हो सकता है, किन्तु इतना तो मानना ही पडेगा

वे अपनी छोटी कविताओ मे सवेदना के धरातल पर कबीर के निकट है और सप्रेषण के धरातल पर तुलसी के। सभव है काव्य की उत्कृष्टता निराला को सप्रेषण के धरातल पर अधिक महत्वपूर्ण लगी हो, जिससे तुलसी की प्रशसा करते नही थकते जहॉ सप्रेषण की काव्य क्षमता निश्चय ही अचूक है। किन्तु जहॉ तक लोकधर्मी चेतना की बात है, तो इसका प्रतिनिधित्व उनकी छोटी कविताएँ ही करती है। **यह भी एक अंतर्विरोध है कि निराला स्वयं कबीर की चेतना के निकट होकर भी खड़े तुलसी के साथ ही है।** क्या यह नही है कि निराला का व्यक्तिगत जीवन (ब्राह्मण, बावजूद इसके दर-ब-दर ठोकरे खाया, आर्थिक कठिनाई से गुजरना) तुलसी के निकट होता है जबकि चितन (आक्रोश) कबीर के। जीवन व चितन के द्वन्द निराला मे यूँ देखा जा सकता है। बहुत इच्छा रखते हुए भी इसका अध्ययन प्रस्तुत विषय के अन्तर्गत नही हो सकता। *सभव है निराला मे किसी 'तीसरे प्रतिमान' की सभावना हो।*

इसी पृष्ठभूमि मे भक्तिकालीन साहित्य के बारे मे यह स्पष्ट ही है कि लोकोन्मुखी होते हुए भी यह लोक साहित्य नही है, क्योकि रचनात्मक सतर्कता, कलात्मक सौष्ठव और भक्तिभावना की व्यक्तिगत अभिव्यक्तियो से यह काल पटा पडा है। वास्तव मे आदिकाल का लोक जीवन जहाँ व्यक्तिगत अनुभूतियो एव प्रेम प्रसगो तक ही सीमित था, भक्तिकाल मे इसमे पारिवारिक और सामुदायिक भावना के 'लोकपक्ष' का भी समावेश हो जाता है और आधुनिक काल तक आते आते इसमे सामाजिक हित चितन और सर्जनात्मक कार्य कौशल की भावना प्रवेश करती है, क्योकि आधुनिक काल मे 'नवजागरण साहित्य को सबसे पहले लोक से जोडता है, फिर लोक को राष्ट्रीयता' (डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी) से जिसमे सघर्ष प्रधानता पाता जाता है। यह हम आसानी से देख सकते है कि समाज जैसे जैसे आधुनिक काल की ओर बढता जाता है, वैसे वैसे लोक मानस

आध्यात्मिकता के गाढे रग से हल्का होता जाता है और 20वी शताब्दी मे निरा मनुष्य हमारे चितन के केन्द्र मे आ जाता है, यद्यपि लोक मानस का सघर्ष अभी शुरु होना बाकी था और वह हिन्दी कविता के मुक्त छद के साथ आरम्भ होता है, क्योकि लोक की मुक्ति मे ही छद मुक्ति का सकेत मिलता है। लोक मानस को जड बनाती जब 'बाहरी आस्था डगमगाई, तब कविता मे छद का बधन भी शिथिल हो गया और सघर्ष के माध्यम से लोक मानस जिस रास्ते पर बढा, कविता की आतरिक लय मे भी वह अभिव्यक्ति पाता रहा। आधुनिक कविता का सौन्दर्य बाहरी लय मे नही, बल्कि आतरिक मे फूट पडा। तब जाहिर बात है इस आतरिक सगति मे उपेक्षित जनता, सामान्य जीवन की वाणी का स्वर भी मुखरित हुआ और 'यूनिटो' का हित चितन, होने लगा। कविता की इस आतरिक सगति ने सामाजिक जीवन को लोकोन्मुखी बनाया, या फिर समय के दबाव से प्रसूत लोकोन्मुखता ने आतरिक सगति को कविता का मुख्य स्वर बनाया, बात एक ही है कि समाज व कविता मे अजब ढग से समन्वयकारी सम्वन्ध (harmonical relation) स्थापित हुआ। यूँ पूरे हिन्दी कविता के इतिहास मे जिस एक आदमी के द्वारा यह सम्बन्ध पहली बार लोकधर्मिता के सच्चे अर्थो मे स्थापित हुआ, वह महाकवि निराला ही है। इन्ही की कविता सच्चे 'लोक सौन्दर्य' का प्रतिनिधित्व करती है। **धन्य है वह कवि जिसके अकेले के अध्ययन से उसके पूर्ववर्ती समूची काव्य प्रक्रिया का ठीक ठीक पता चल जाता है और धन्य है वे लोग, जिनको इतनी बड़ी प्रतिभा विरासत में मिली (परवर्ती काव्य के सन्दर्भ में)। हम तो ऐसे कवि के अध्ययन से धन्य है और धिक्कार है उन्हे जिन्होने हिन्दी कविता के सम्पूर्ण वाङ्गमय को मथा और निराला को नही पढ़ा।**

भक्तिकाल के बारे मे सोचते यह हमने पहले लिखा है कि पूरा भक्तिकाव्य सकीर्णताओ से मुक्ति की इच्छा का परिणाम रहा है। साथ मे यह भी कहा है कि जैसे जैसे ये

सकीर्णताएँ स्थिरता को प्राप्त होती गयी, इनसे मुक्ति की छटपटाहट का सघर्षधर्मी स्वरूप हल्का पडता गया। यह भी विचित्र लगता है कि पूरे "भक्तिकाल की मूल समस्या मनुष्य को मनुष्य के धरातल पर प्रतिष्ठित करने की भावना से सचालित है। एक प्रकार से उसकी मनुष्यता का उद्‌घोष है।" बावजूद इसके जाति, धर्म, वर्ण आदि मे विभाजित उस समाज मे उस सामान्य आदमी का मूर्त रूप स्पष्ट होना बाकी रह गया था जो आधुनिक काल के शिष्ट समाज मे पहचाना गया, जहॉ 'वर्ग' ने पिछले सारे शब्दो को आत्मसात कर लिया। सच्चे मनुष्य की खोज तो भक्तिकाल मे न हो सकी। हॉ कवियो को उसकी 'कामना' मात्र से सतोष करना पडा। 'नायको' के ऐश्वर्य, बल, शक्ति के माध्यम से सामाजिक विषगतियो को दूर करने की कोशिश तो रही, किन्तु उस नायक के माध्यम से जन-सामान्य के बीच उस आम-आदमी की प्राण-प्रतिष्ठा का भाव शेष रह गया। यूँ भी यह तो ठीक ही है कि भक्तिकाल का लोक शास्त्र की तुलना मे और उसके समानान्तर भी अपना विकास कर रहा था, जिससे उसमे मडन से अधिक खडन का भाव ही प्रधान रहा। **शास्त्र की सापेक्षता मे लोक का यह 'प्रवाह' केवल छीजती मनुष्यता के ऊपरी मर्म तक ही चोट कर पाया। मनुष्य की वास्तविक पहचान और मनुष्यता का भीतरी सच्चा मर्म अभी तक स्पष्ट नही पाया था जो आधुनिक काल में ही हुआ जहॉ शास्त्र की जगह अब शिष्ट का बोध व्याप्त हो गया।** यूँ भी आधुनिक काल मे 'वर्ग' के स्थान लेने से ऊपरी ढॉचा कुछ कुछ सभ्य व शिष्ट होने का भाव सप्रेषित करने लगा, जिससे शास्त्र की पुरानी प्रतिक्रियावादी धारा क्षीण तो अवश्य हुई, किन्तु इस शिष्ट ने लोक से भी बहुत ग्रहण करना शुरु किया। 'शास्त्र' का 'शिष्ट' मे यूँ रूपातरण चकित तो करता है किन्तु दिग्भ्रमित नही। इसके रूपातरण की बारीक प्रक्रिया का सकेत *आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी* ने किया है कि 'लोक के दबाव मे शास्त्र ने कभी कभी अपने

आपको इतना लचीला बनाकर लोक की बहुत सी विशेषताओ को अतर्भुक्त कर लिया' जिसपर डा0 नामवर सिह ने बहुत ही सटीक टिप्पणी की है 'भारतवर्ष मे उच्च वर्ग के इस वैचारिक लचीलेपन और समझौतावादी रुख का ही यह परिणाम रहा है कि हिसात्मक विद्रोह की स्थितियाँ बहुत कम उत्पन्न हुई [23]। तब यह कहना शायद बहुत अनुपयुक्त न लगे कि आधुनिक समय मे वर्ग विभाजन की तीव्रगामी प्रक्रिया के फलस्वरूप जैसे जैसे उपेक्षित मनुष्य की पहचान 'मूर्त' होती गई है, वैसे वैसे ऊपरी स्तर पर बैठे शिष्ट मनुष्य के खोखलेपन व बेहयाई की पोल भी खुलती रही है। तब यह ठीक ही है कि शिष्ट के लगातार बदलते जाने के पश्चात भी सामान्य आदमी की सघर्षधर्मी चेतना और उसके परिवेश मे हस्तक्षेप की पहचान की भावना कम नही होती गई है। मध्यकाल व आधुनिक समय की सवेदना का यह एक मौलिक फर्क है।

उपर्युक्त विश्लेषण के पश्चात अत मे यह बतला देना जरूरी है कि यहाँ हमने भक्तिकाल के मूल मिजाज (temper) का ही विश्लेषण किया है जिससे इसकी 'प्राणधारा' का पता चल सके। जाहिर है इसके लिए हमने केवल प्रतिनिधि कवियो को ही चुना है और उन्हे उनके 'ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य' मे देखने समझने की कोशिश की है। अन्य कवियो तथा पूरे भक्तिकाल के तात्विक स्वरूपो का अलग-अलग अध्ययन न तो सभव था और न ही विषय के अनुरूप।

3- रीतिकालीन सन्दर्भ-

जैसाकि हम जानते है, भक्तिकाल के ठीक पहले का साहित्य आश्रयदाता राजाओ के गुण कीर्तन, काव्यगत रूढियो पर आधारित साहित्य था जिसका प्रधान लक्ष्य था राज सरक्षण कवि यश, वाक्सिद्धि आदि। भक्तिकाल मे यह लक्ष्य बदला और सकीर्णता से मुक्त होते जाने की प्रक्रिया मे भक्ति साहित्य का विकास हुआ जिसके फलस्वरूप एक ओर निर्गुण भक्त कवियो का उदय होता है तो दूसरी ओर सगुण भक्त कवियो का। तब ठीक ही है कि 'इस काल का हिन्दी साहित्य उर्ध्व बाहु होकर घोषणा करता है कि लक्ष्य बडा होने से साहित्य बडा होता है। जिस दिन हिन्दी साहित्य इस तथ्य को भूल गया और सूक्तियो को लेकर खिलवाड करने के चक्कर मे पड गया, इसी दिन से साहित्य की अध पतन शुरु हो गया।[24] इसी बडे लक्ष्य से भटकने का परिणाम रहा हैकि रीतिकालीन कविता मे हिन्दी कविता की प्राणदारा ही सूख सी गई। जिससे सप्रेषण का माधुर्य तो रहा, किन्तु 'भाव' मे वह दीप्ति, प्रखरता व जीवतता नही रही जो भावी समय को प्रेरित कर सके। यूॅ भी जब कोई काल, अपनी मूल प्राणधारा से कटकर अपना राग अलापता है, तब वह कैसे आगे के साहित्य के लिए किसी प्राणधारा को दे सकेगा। जाहिर बात है जब 'भाव' की प्रधानता ही नही रहेगी तब काव्य से अधिक सूक्तियो का सृजन होगा। इसी को लक्ष्य करके शुक्लजी ने लिखा है कि बहुत से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझा करते है। पर इन दोनो का भेद सदा ही रखना चाहिए। जो उक्ति हृदय मे कोई भाव जागृत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना मे लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति कथन के ढग के अनूठेपन, रचना, वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार मे ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति'[25] इसी आधार पर बिहारी के बारे मे आप लिखते है कि विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त बिहारी ने सूक्तियाँ भी बहुत सी कही है

"(इतिहास) इससे यह पता तो चलता ही है कि भक्तिकाल मे वास्तविक काव्य का सृजन सभव हो सका जो अपनी मूल चेतना मे लोकोन्मुखी ही रहा। यह बात दूसरी है कि निर्गुण भक्त कवियो के हाथो लोक का भाव जिस खीझ व बेचैनी के साथ व्यक्त हुआ, उसे एक सतुलित आवाज देकर चरित नायको को आधार बनाकर लोकबद्ध करने का कार्य सगुण भक्त कवियो ने किया। यह दूसरी बात रही कि लोक को जनता से ऊपर उठाकर सीधे अध्यात्म से जोड दिया, जिसका क्रम आधुनिक काल मे बदल जाता है।

दरअसल आधुनिक काल के पूर्व सम्पूर्ण हिन्दी कविता का विकास 'शास्त्र व लोक' परस्पर अर्तक्रिया के रूप मे विकसित होता आया है। इस प्रक्रिया मे 'लोक के दबाव मे शास्त्र ने कभी कभी अपने को लचीला बनाकर लोक की बहुत रही विशेषताओ को अतर्भुक्त कर दिया है (डा0 नामवर सिह दूसरी परम्परा की खोज- पृ0 79) ध्यान देने की बात है कि लोक के दबाव मे शास्त्र बदलने की क्रिया का लक्षण दो बार स्पष्ट दिखाई देता है। *पहला* आदिकाल के अत मे, *दूसरा* भक्तिकाल के अत मे। जाहिर बात है लोक के इस दबाव का परिणाम यही रहा कि 'लोक' मे परम्परा से चली आ रही प्रवृत्तियो को ग्रहण किया जाय। आदिकाल के अत व भक्तिकाल के आरम्भ मे 'लोक' के सामने सिद्धो-नाथो की ही लोकधर्मी परम्परा थी जो लोक विश्वास (प्रचलित टोना, टोटका, तन्त्र-मन्त्र, मिथक आदि विश्वास) पर आधारित थी और जिसमे एक दबा आक्रोश धधक रहा था। जाहिर है इसका प्राणधर्म विद्रोह ही था और यह भी कि यह लोक धर्म अनुभव सम्मत (प्रत्यक्ष) व विवेक आश्रित था। ऐसे समय मे कबीर जैसे निर्गुण भक्तो का उदय यदि होता है तो निश्चय ही उनमे भी लोकधर्म के इसी भावना की प्राणप्रतिष्ठा हो सकती थी और हुई भी। दूसरी तरफ भक्तिकाल के अत मे और रीतिकाल के आरम्भ मे जब शास्त्र को लोक के परिप्रेक्ष्य मे बदलने की

जरूरत महसूस हुई तब उसके सामने 'सूरदास' की लोकधर्मी परम्परा थी, जिसमे श्रृगार का प्राधान्य था और राधा-कृष्ण के आलम्बन के कारण उसमे अश्लीलता नही आने पाई थी। किन्तु जब यह लोक अपनी पूर्ववर्ती परम्परा मे पैठ किया, तो उसमे हाल की 'सतसई' जैसी प्राचीन कृतियो की परम्परा मिली जिसमे राधा-कृष्ण के माध्यम से विलासिता की प्रवृत्ति जगाई। 'राम' का सगुणवादी ईश्वरी चरित, रीतिकाल मे यूँ बल जाता है। *दरअसल इसे उस समय मे नायकत्व की भावना का लोप ही समझा जाना चाहिए जिससे लोकधर्मी चेतना के परखचे ही उड गये क्योकि 'नायक' की भावना की पूर्ण उभार की अवस्था मे जब मुगल साम्राज्य का पतन शुरु होने लगा, तो मन मे इसके प्रति एक खिचाव की भावना भी उत्पन्न हुई।* जाहिर बात है, जैसा कि हुआ, लोक चिता का भाव पुन केन्द्र मे आ गया, क्योकि घटनाओ के विस्तार से नायक का सकोच हुआ। इस समय खास बात यह हुई कि इसने एक ओर चरित को उसके औदात्य, ऐश्वर्य शक्ति स्वरूप से हटाकर श्रृगार प्रधान रसमय बना डाला, दूसरे ओर पूरे काव्य ससार को लोक चिता के धरातल पर अवरुद्ध सा कर दिया। स्वय हाल की सतसई मे "प्रेम व करुणा के भाव, प्रेमिको की रसमयी क्रीडाएँ और उनका घात प्रतिघात, अतिशय जीवत रूप मे प्रस्फुटित हुआ है। अहीर-अहीरियो की प्रेम गाथाएँ, ग्राम बधूटियो की श्रृगार चेष्टाएँ, चक्की पीसती या पौधो को सीचती सुन्दरियो के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओ का भावोत्तेजन करने वाली बाते बडी जीवत, सरस और हृदय स्पर्शी है"[26]। आगे चलते चलते यही गोपी-गोपिकाएँ राधा-कृष्ण का रूप धारण कर लिया, जो सूरदास से भक्ति के धरातल पर चित्राकन होता है। बस रीतिकाल को लोक की परम्परा से यही मिला, जिसमे से भक्ति का तत्व जाता रहा और बच रहे राधा कृष्ण, जो रसिक कवियो के आलबन का कारण बने। जाहिर बात है लगभग 1700 वर्षो के बीच और भी प्रवृत्तियाँ रही है जो 'सतसई' के आगे व रीतिकाव्य

के पहले रही है। रीतिकाल के उदय की मोटी मोटी पृष्ठभूमि यही है और यदि इसकी पूर्व साहित्यिक पृष्ठभूमि का मूल्याकन करे तो क्रम कुछ यूँ बनता है हाल की 'सतसई' (प्राकृत मे), अमरूक का 'अमरूक शतक' और गोवर्धन की आर्यासप्तशती (सस्कृत), वात्स्यायन का 'कामसूत्र' (सस्कृत), चन्दवरदाई (हिन्दी), विद्यापति, कृपाराम 'हिततरगिणी' (1541), सूर 'साहित्य लहरी, तुलसी 'बरवै रामायण', रहीम 'बरवै नायिका भेद', नद दास रसमजरी, केशवदास-रसिकप्रिया, कविप्रिया और चितामणि (परम्परा को बढाने के विचार से)।[27]

इसी के साथ यह भी हुआ कि जिस तुलसी मे शास्त्र को आधार बनाया गया, उससे वह भी प्रवृत्ति जगी कि हर कोई सस्कृत के काव्य शास्त्रो की ओर कूच करने लगा। जब भक्तिकाल मे और विकास की सभावनाएँ नही रही, तब इन्ही सस्कृत ग्रथो को आधार बनाकर काव्य रचना की जाने लगी, जिससे व्यक्तिगत विशेषता के आधार की मौलिक उद्भावनाओ की सभावना ही न बची। भानुदत्त की रसमजरी, जयदेव के चद्रालोक से केशव और देव ने तथा मम्मट के काव्य प्रकाश और विश्वनाथ के साहित्य दर्पण से भिखारीदास ने इतना कुछ लिया कि सब कुछ नकली माल बन गया। मुगल साम्राज्य की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति ने भी इसमे मदद की, जहाँ शाहजहाँ के शासन काल से ही गृहकलह आरम्भ हो गया था और केन्द्रीय शक्ति के पडने से छोटे-छोटे रजवाडे और नवाब स्वतत्र हो गये। जिसने बाद मे विलासित का खूब फैलाव किया। बस क्या था, कवि गण, बाहरी जनजीवन की मार्मिक प्रस्तुतियो को छोडकर दरबारी क्रिया कलापो मे उलझ गये। स्वच्छन्दता की जगह एक भाषाई अराजकता ने ले ली। काव्य की मूल शक्ति का स्रोत लोक मन ठूँठ होता गया और कविगण अपने भीतर की रागात्मक कुठा के गीत गाने लगे। कही असफल प्रेम था तो कही प्रेमी का विदक जाना। कुछ विचित्र स्थिति यह थी कि कवियो की आतरिक लय, राजाओ से की

आतरिक लय से जा मिली। बस क्या था? आश्रयदाताओ को उनके भावो के विरेचन हेतु कवि मिले और कवि को उनकी अभिव्यक्ति के लिए आश्रयदाता मिले। तब लोकपक्ष धूमिल हो गया। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चित्य बातो तथा जगह के नाना रहस्यो की ओर कवियो की दृष्टि नही जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध एव परिमित सी हो गई।[28] इस बात का प्रत्याख्यान करते डा0 राम कुमार वर्मा ने कहा कि "प्रकृति की विविधता के लिए यह काल महत्वपूर्ण है (रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्याकन-227)[29] कितु डा0 वर्मा ने शुक्लजी के एक पक्ष को समझकर ही ऐसा कहा है। शुक्लजी ने यदि प्रकृति की अनेकरूपता की मॉग की है, तो वह जीवन से जुडी लोक के चित्त भावभूमि की उपज है, केवल प्रकृति के ऋतु वर्णन मे नही, जिस पर डा0 वर्मा अभिभूत है। ऐसे रूप जिन्हे देखने हो, तो निराला को पढे जहॉ प्रकृति लोक जीवन को गति प्रदान करती है। जहाँ तक डा0 वर्मा ने हेय या कलुषित दृष्टि की बात उठाई है, तो ऐसा कहता कौन है? बात यहॉ हेय-प्रेय की नही, बात है 'प्राणधारा' के विकास मे योगदान की और वह नही है। स्वय डा0 वर्मा ने कहा है- " भक्तिकाल हीन अवश्य है, उपेक्षणीय नही" (पृ0 228) इसी प्रसग मे 'अज्ञेय' को देख सकते है "प्रकृति काव्य के विवेचन मे वास्तव मे समूचे रीतिकाल को छोड ही देना चाहिए क्योकि रीतिकालीन कवियो मे से कुछ ने यद्यपि सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचय दिया है तथापि उनके निकट प्रकृति, काव्य-चमत्कार के लिए उपयोज्य साधन मात्र है। प्रकृति के मानवीकरण की बात तो दूर, रीतिकाल के कवि स्वतन्त्र इयत्ता के प्रति भी उदासीन है- उनके निकट वह केवल अभिप्राय है जो अलकृति के काम आ सकता है"[30]। तब बात यह भी हुई कि 'व्यक्तिगत विशेषता के द्वारा जो नवीन प्रसगो की उद्भावना (सूरदास) होती थी या फिर कथा के मार्मिक स्थलो की पकड" (तुलसी मे) सभव होती आई थी, एकाएक क्षीण हो गई। स्वय

काव्य सौन्दर्य, काव्य चमत्कार बनकर रह गया। जो चमत्कार किसी समय मे सिद्ध-नाथ योगी अपने 'योग' से दिखाया करते थे, अब ये कवि 'कविता' मे दिखाने लगे। कला के पुजारी इन काव्य रसिको ने 'चमत्कार' की प्रेरणा वही से पाई है तो क्या आश्चर्य। यूँ भी पूर्ववर्ती काल के साधुओ की सिद्धियाँ और चारण कवियो की कल्पित प्रशसावाली काव्य वृत्ति शिथिल तो हुई, नि शेष नही।[31]

इसी मे शृगार भावना का विकास भी होता रहा है। कबीर, सूर, जायसी तीनो मे प्रेम भाव था, किन्तु उसमे भक्तिभाव का प्राधान्य होने के कारण अश्लीलता नही आने पाई थी। यदि पिउ-बहुरिया जैसा रागात्मक सम्बन्ध था भी, तो उसका मुँह भगवान की ओर था। सगुण भाव के भक्तो ने तो शृगार रस को सम्पूर्ण भाव से अपना लिया, केवल उसका मुँह जड जगत की ओर से फिराकर चिदानद भगवान की ओर कर दिया (पृ0 157 डा0 द्विवेदी उद्भव और विकास)। रीतिकालीन कवियो ने इसी को सीधा खडाकर प्रेम के मुँह को जगत की ओर फेर दिया। फिर क्या था 'जैसे जैसे भक्तिकाव्य के आरम्भिक उन्मेष का लोकधर्मी स्वरूप शिथिल पडता गया भक्तो मे भी गतानुगतिक की मात्रा बढती गई, वैसे वैसे लौकिक रस की कविता भी तेजी से सिर उठाती गई। 17वी शताब्दी के बाद प्रत्येक कवि की कविता मे श्रीकृष्ण और गोपियो के नाम तो अवश्य आते है पर प्रधानता ऐहिकतापरक शृगार रस की ही रही[32]। भक्तिकाल की मूल भावना, सकीर्णताओ से मुक्ति की भावना, यहाँ आकर अलकार, रस, नायिका भेद की सकीर्णताओ मे धँस सी गई। वर्षो से चली आ रही लोकधर्मी चेतना, यूँ सकीर्ण होती जाती पूरे 200 वर्षो तक (1643-1843) पडने के बाद आधुनिक युग के आरम्भ होने के पहले अतिम बार 'पद्माकर' मे चुहचुहाई'

अत पूरे रीतिकाल (रीतिग्रथकारो) की कविताओ के मूल्याकन से इतना स्पष्ट होता है कि उनकी दृष्टि जीवन के मार्मिक व गम्भीर पक्षो पर न होकर राजसी ठाठबाट,

तैयारी, नगरो की सजावट, चहल-पहल, युवतियो के उभरती यौवन के प्रति ही थी और यह आश्चर्य का विषय भी नही है क्योकि इनके रचयिता कवि उस समय की (17वी शताब्दी) उस साहित्यिक पृष्ठभूमि पर कार्य कर रहे थे जहा आर्थिक दृष्टि से समाज मे दो श्रेणियॉ उभरने लगी थी- एक ओर उत्पादक वर्ग था जिसमे किसान व इससे सम्बन्ध रखने वाली जातियॉ बढई, लोहार-बहार-जुलाहा इत्यादि थी, तो दूसरी ओर भोक्ता वर्ग था जिसमे राजा, रईस, नवाब आदि थे।[33] इनके बीच झूलते से लगते कवि, चित्रकार कलाकार थे जो उपज तो उत्पादक वर्ग की होते थे, किन्तु बदन भोक्ता का करते थे? क्यो? क्योकि इस समय तक यह कलाकार वर्ग भी लगभग मानसिक चिताओ से ग्रस्त होकर थक सा गया था और इसी से मुक्त होने की कोशिश मे सौदा करता सा नजर आने लगा था। चूँकि जाति, वर्ग, धर्म, भेद अब धीरे धीरे वर्ग मे बदलने लगे थे जिससे इन्हे अपनी आर्थिक जरूरतो की मजबूरी भी दिखाई देने लगी थी जिसकी पूर्ति मे आश्रयदाता आगे आये। क्यो ऐसा वे करने लगे थे? क्योकि उन्हे सामाजिक स्थितियो का कारण अब न तो धर्म मे आस्था रह गई थी और न ही व्यक्ति मे विश्वास। *भक्ति का भावजन्य ईश्वरी विश्वास जाता रहा और अपने पर बहुत विश्वास भी नही रहा।* तब ऐसी स्थिति मे उनके चचल मन को शात करने के लिए इन रसिक कवियो के अलावा दूसरा उपाय भी क्या था। उधर कवि-कलाकार भी थे जिन्हे नैतिक मूल्यो के आधार पर कविता कर्म की सार्थकता ही निरर्थक लगने लगी थी और इससे उत्पन्न निराशा और अवसाद की पहचान भी होने लगी थी, जिससे कवि कर्म उनके लिए सिर्फ कवि धर्म बनकर रह गया। परम्परा से चली आ रही लोक चिता की उच्च भावभूमि से हटकर उनके लिए आश्रयदाताओ की प्रसन्नता ही उद्देश्य बन गई। तब ऐसी स्थिति मे दोनो वर्ग आपस की जरूरतो को पूरा करने लगे और कविता महलो के मुडेर पर बैठकर झूलने लगी। **इसी झूलने में कवि**

ने सारे ससार को झूलते देखा और महलो के ठीक नीचे की सड़क पर झुलसते चेहरो की तरफ से ऑखे फेर लिया। आखो का इस तरह से फिरना ही वस्तुत: कविता की लोकधर्मी प्राणधारा का सूखने का कारण हुआ और जैसे जैसे यह सूखती गई है, इस समय के कवि का पेट वैसे वैसे फूलता गया है। पूरे हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के कवियो की सम्पन्नता इसको प्रमाणित करती है।

तब तो इस काव्य को शृगार प्रधान होना ही था, जहाँ नारी केवल टाइप रह गई, व्यक्ति नही और यह सामती प्रवृत्ति का परिणाम ही है जिसकी ओर डा0 बच्चन सिह ने बहुत ठीक सकेत किया है- "सामती व्यवस्था के एकात्म होने से रीतिबद्ध कवियो ने मूलत नारी के शरीर के प्रति बुभुक्षा प्रकट की" (पृ0 346)[34]। सस्कृत के अलकारशास्त्रो की ओर ठीक इसी समय ध्यान जाने से नायिका भेद पर जबरदस्त चर्चा होने लगी और इसकी पृष्ठभूमि भी भक्तिकाल का शास्त्रवादी रुझान ही तैयार करता है क्योकि इस समय तक शास्त्र को अपने अपने ढग से देखने की प्रवृत्ति उठने लगी थी। रीतिकाल के कवियो ने अपने अनुरूप 'अलकार शास्त्र' को कविता में घसीटा जिससे कही भामह, उद्‌भट, दडी (केशवदास मे) के अलकार शास्त्रो का प्रभाव रहा, तो कही मम्मट, आनन्दवर्धन और विश्वनाथ का (चितामणि, बिहारी, आदि मे) जहॉ अलकार-अलकार्य मे भेद किया जाने लगा। हिन्दी के रीतिग्रथकारो ने सस्कृत के इन्ही परवर्ती (मम्मट आदि) ग्रथो का मत ग्रहण किया। तब जैसे सब ओर से चोट खाकर, किसी की ओर रास्ता न पाकर, बुद्धि घर के भीतर सिमट सी गई, जैसे जीवन के व्यापक क्षेत्रो मे मनो निवेश का अवसर न मिलने के कारण मनोरजन का एक मात्र साधन नारी देह की शोभाओ व चेष्टाओ के अवलोकन-कीर्तन तक ही सीमाबद्ध हो गया हो। इस शृगार मे न तो प्रिया का व्यक्तित्व ही उभर पाया है-उनका साधारण

नारीत्व ही आकर्षण का एकमात्र हेतु है- न प्रिया की प्रीति जीतने के लिए रुमानी ढग के किसी असीम साहसिक कार्य की योजना ही बन पाई है यह प्रेम शुरु से अत तक महात्वाकाक्षा से शून्य, सामाजिक मगल के मनोभावो से प्राय अस्पृष्ट, पिड नारी के आकर्षण से हततेज और स्थूल प्रेम व्यजना से परिलक्षित है वह वास्तविक जीवन की कठोरता पर आधारित नही है जीवन की वास्तविक, जटिलताओ के साथ सामना करने के लिए जिस प्रकार वैयक्तिक साहस और सामाजिक मगल का मनोभाव आवश्यक है, वह इसमे नही और न श्रृगार भावना को जीवन का सबसे बडा लक्ष्य घोषित करने का साहस ही है।[35] इसी के साथ यह भी ध्यान देने की बात है कि नखशिख, नायिका भेद, षट्ऋतु वर्णन के अतर्गत कवियो की दृष्टि बार बार लक्षण ग्रथो पर लगी रही है जिस कारण से कवि के चित्त मे रईसी की धाक है। नायिकाओ के "चित्त को मादक बनाने के लिए उसने आडबरपूर्ण वातावरण और महार्घ वेशभूषा का सहारा लिया है। उनकी नायिकाएँ विशाल प्रासादो मे रहती है, उनके सेज की चादरे चॉदनी और दूध की उज्ज्ववलता को लज्जित करती है, उनके पायदान मे बहुमूल्य मखमल का उपयोग होता है, उनकी सेवा मे नियुक्त दासियाँ जिन पायदानो, इत्रदानो व फूलदानो का व्यवहार करती है, उनमे सोने-चॉदी की बहार रहती है। नायिकाओ के परिधान मे कीमखाब, साहस, मलमल एव अतलस के वस्त्र प्रयुक्त होते है।"[36] अत रीतिकाल का कवि अपनी नायिकाओ को गरीबी के वातावरण मे नही देख सकता। बिहारी (1600 ई0) से लेकर ग्वाल व पजनेस (1843 ई0) तक सभी कवियो के चित्त मे नायिका की ऐसी ही ऐश्वर्यशक्ति शोभा का भान था। जिसमे कटाक्ष विक्षेप की क्षमता न हो, ऐसी गोबर पाथती, खेत निराती, गृहकर्म मे उलझी हुई स्त्रियाँ उनके काव्य का विषय नही हो सकती थी क्योकि उनमे वक्तव्य को मादक बनाने की क्षमता नही होती।[37] तब यह ठीक ही है कि यह काव्य उन पारखियो के लिए अधिक उपयोगी

था "जो किसी हाथी दाँत के टुकडे पर महीन बेल-बूटे देख घटो वाह वाह किया करते है"[38] जिन्हे हृदय के अतस्थल पर मार्मिक प्रभाव की जरूरत हो, किसी प्राणधारा से जुडने व विकास करने की इच्छा हो, उन्हे इसमे यह सब ढूढने मे असफलता ही मिलेगी। दरअसल डा0 सत्यप्रकाश मिश्र ठीक कहते है कि "काव्य मे प्रक्रिया जब पूर्णत चेतन होती है तो कलात्मकता को प्रश्रय अधिक मिलता है और अनुभव की सहजता कम होती है। रीतिकाव्य पूर्णत चेतन काव्य है बल्कि अतिचेतनता का काव्य है।"[39] तब ठीक ही है कि इसी चेतनता मे इसे लोक की चेतना से असपृक्त कर दिया। यह भी विचारणीय है कि तुलसी मे यह चेतनता है, किन्तु वे आत्ममुग्ध नही है। दूसरी ओर ये रीतिकार इतने आत्ममुग्ध है कि पूरी परम्परा से विच्छिन्न होकर इतनी मौलिक व नवीन कविता देने लगे कि छिन्नमूल हो गये। दरअसल इसके लिए जिस गहरी जीवन दृष्टि की जरूरत होती है, इन कवियो मे न थी। यह "सुदीर्घ अनुभव, गहरे आत्म बधन, प्रौढ़ चितन की परिणाम होती (डा0 जगदीश गुप्त)।[40]

अब हम थोडा इस काल के रीतिबद्ध लोक प्रिय कवियो की कविताओ पर विचार कर ले। सबसे पहले तो हम यह स्पष्ट कर दे कि इस समय के कवियो की लोकप्रियता, लोकबद्धता के आधार पर न होकर या कि लोक जीवन की सम्बद्धता को आधार न बनाकर बद्धलोकता(!) की तात्कालिक भावो को उद्भूत करने वाली कविता थी जिसका प्रभाव पढने के साथ ही समाप्त हो जाता है। प्राय ही ये कविताएँ ऐसे किसी भाव को उद्दीप्त नही करती जिनसे उनका प्रभाव दूरगामी हो सके। ये ठहरे चित्त को चचल करने वाली कविताएँ है, किसी मन को गति प्रदान करने वाली कविताएँ नही। ये उस समय की याद मूलक कविताएँ है जब मन चारो तरफ से शिथिल हो जाय, बिस्तर पर सोते हुए नीद न आये और छत को निहारते रहा जाय, आसपास कोई न हो और फिर भी किसी के होने का अहसास हो। सच्ची लोकप्रिय कविता तो लोकबद्ध होती

है जो अपने समाज व जनता की इच्छाओ, भावनाओ, जीवन उद्देश्यो व सॅघर्ष की अभिव्यक्ति करती है।[41] **अत: रीतिकाल की अधिकाश कविताएँ एकांत मनुष्य या कि मनुष्य के एकातिक रूप को प्रभावित करने वाली कविताएँ है। शायद वे इन्ही अर्थो में लोकप्रिय भी है क्योकि हर मनुष्य अपने एकांत में एक "सार्वजनिक रुचि" छिपाये हुए है, जो बहिरंग अवस्थितियो में, उसकी सम्बन्धगत सामाजिकता मे प्राय: दिखाई नही पड़ती। चूँकि मनुष्य, मनुष्य है ही इसलिए कि वह किसी दूसरे प्राणी की सामाजिक सापेक्षता में जीता है, अत: वास्तविक प्रवृत्ति का आभास तो इन्ही से मिलता है और यही रीतिकाल फेल हो जाता है। यूँ जब जब मनुष्य के आपसी सम्बन्धों का सकोच होता रहा है, कविता में ऐसी ही प्रवृत्तियॉ उभरती रही है।** क्या रीतिकाल का उत्तर पक्ष इसको प्रमाणित नही करता?

रीतिकाल के प्रमुख कवियो की काव्यगत विशेषताओ की भी सक्षेप मे चर्चा की जाय तो क्रम कुछ यूँ बनता है- केशवदास, सेनापति, बिहारी, भूषण, मतिराम, देव, भिखारीदास, पद्माकर। इसमे वीर रस मे विश्वास करने वाले राज्याश्रयी कवियो के बारे मे डा0 राम कुमारवर्मा ने "रीतिकाव्य के पुनर्मूल्याकन" मे बडा अच्छा रूपक बाँधा है- "यदि एक रूपक मे कहा जाय तो इस काल का साहित्य मानव शरीर के मुख मडल का शृगार करते उस पर मुकुट सुसज्जित करता था, जवकि शेष शरीर स्नेह रहित होकर रूखा-सूखा ही पडा रहता था, (पृ0-205) दूसरी तरफ जो राज्याश्रय से विहीन कवि थे, वे राजाओ की भर्त्सना मे ही अपना समय बिता देते थे जिससे उनकी भी लोक जीवन मे रुचि न हो पाती थी। इससे अलग, कुल के बावजूद रीतिकाल के जो प्रतिनिधि कवि, अपनी लोक प्रियता के आधार पर, माने जाते हैं उसमे बिहारी, मतिराम, देव व पद्माकर ही है। बल्कि कह सकते है कि इस धारा के प्रतिनिधि कवि।

यहॉ हम इन प्रतिनिधि कवियो की मूल प्रवृत्तियो का सकेत करना चाहेगे और यह बताना चाहेगे कि इनकी लोकप्रियता का आधार लोक बद्धता न होकर, बद्ध लोक की आत्माभिव्यक्ति ही है, जिससे कही कही नैतिक पदो का परिधान दिखाई देता है जो आत्मीयता तो प्रदान करता है किन्तु उस आत्मीय भाव का परिपाक नही करता जिसे हम आत्मोत्सर्ग कहना चाहेगे। जो किसी उपेक्षित के लिए छज्जे का कार्य कर सके। (यद्यपि रीतिमुक्त कवियो मे कुछ दिखाई अवश्य पडता है जहाँ रूढिभजन, तन्मयता, जैसी सहजता है हालॉकि ये सब भी प्रेम के विविध प्रपच ही है। इसकी चर्चा हम आगे करेगे।)

क- बिहारीदास- 1603 - प्रमुख कृति 'बिहारी सतसई'। ये मथुरा के चौबे थे। जयपुर के मिर्जा राजा जयसिह के दरबारी थे। इनके कवि मे कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समाहार शक्ति भी है (शुक्लजी)। भाव, रस के साथ वस्तु व्यजना की मिलती है। वाग्वैदग्धता भी है। इन सबके बावजूद इनके मूल्याकन मे शुक्लजी ने बहुत ठीक लिखा है और यह कमोवेश समूचे रीति ग्रथकारो पर लागू होता है- बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक ऑका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यागो के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यत दृष्टि रखने वाले पारखियो के पक्ष से समझना चाहिए- उनके पक्षो से जो किसी हाथी दाँत के टुकडे पर महीने बेलबूटे देख घटो वाह वाह किया करते है (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 139) ध्यान देने की बात है कि यह वह आलोचक कह रहा है जो बिहारी सतसई को बडी कीर्ति का आधार मानता है। (पृ0 136 उपर्युक्त) स्वय निराला ने रचनावली-5/153 मे कहा कि इनके दोहे की समाप्ति के साथ उसका भाव भी समाप्त हो जाता है, सोचने के लिए कुछ नही बचता।

ख- मतिराम- 1617- कानपुर- प्रमुख कृति 'रसराज' और 'ललित-कलाम'। बूँदी

के महाराजा भाव सिह के यहाँ बहुत काल तक रहे। जहाँ तक सहज व सरल भाषा मे हृदय के अनुराग को नायिका तक पहुँचाने की बात है, मतिराम मर्मस्पर्शी कवि है। ये भाषा की नाडी पहचानते है। (हजारी प्रसाद द्विवेदी)। "केलि के रात अधाने नही दिन ही मे लला पुनि घात लगाई" वाला प्रसिद्ध कवित्त इन्ही का है।

ग- देव- 1673- इटावा- कई आश्रयदाताओ के दरबार मे रहे। कई ग्रथो की रचना की जिसमे जातिविलास, भावविलास, अष्टयाम प्रमुख है। अर्थ गाम्भीर्य, सरल वाग्विन्यास, प्रगल्भता इनके यहाॅ काफी है। गार्हस्थ प्रेम के अत्यत मर्मस्पर्शी चित्रण मे कुशल है। "बेगि ही बूडि गयी पॅखियाँ, अखिया मधु की मॅखिया भई मेरी" वाला प्रसिद्ध सवैया इन्ही का है। दरअसल रीतिकाव्य का कृत्रिम भावबोध ही इसके लोक मन से दूर हटने का कारण बना। प्रेम का तत्व तो स्वय सूरदास मे भी था, किन्तु वह विलास की वस्तु नही था। इसी आधार पर आचार्य शुक्ल ने 'देव' के बारे मे लिखा है कि 'पीछे देव कवि ने एक 'अष्टयाम' रचकर प्रेम चर्चा दिखाने प्रयत्न किया किन्तु वह अधिकतर एक घर के भीतर के भोग विलास का कृत्रिम दिनचर्या के रूप मे ही है। उसमे न तो वह अनेकरूपता है और न ही प्राकृतिक जीवन की वह उमग (जो सूरदास मे है)" (सूरदास-176) स्वय देव ने कहा है- "कौन गनै पुर नगर कामिनि एकै रीति देखत हरै विवेक को चित्त हरे करि प्रीति"। डा0 राम कुमार वर्मा ने इनके बारे मे उदाहरणो के द्वारा सिद्ध किया है कि "इन उदाहरणो मे कवि ने वर्ण वैचित्र्य मे जो सूक्ति-चमत्कार उपस्थित किया है, वह लोक जीवन की स्वाभाविक भगिमा की अपेक्षा कवि की काव्य कला का ही परिचायक है" (90-217)

घ- पद्माकर- 1753- बाँदा - जयपुर के राजा प्रताप सिह के यहाँ काफी समय तक रहे। सिधिया के दरबार मे भी काफी मान मिला। रचना मे अनाडबर, भाव-योजना, सहज भाषा प्रवाह, इन्हे मतिराम के निकट ले जाता है। इनमे देव का मौजीपन,

मतिराम की सहृदयता एव बिहारी की वाग्वैदग्धता है (डा0 द्विदेदी उद्भव और विकास)।

उपर्युक्त विशेषताओ के बावजूद यद्यपि 'देव' जैसे कवियो ने भिन्न भिन्न देशो के और जातियो की स्त्रियो के वर्णन मे 'जातिविलास' लिखा जिसमे नाइन, धोबिन सब आ गई, जिन्हे बाद मे भिखारीदास ने रसाभास या मर्यादा के भय से आलबन के रूप मे न रखकर दूती के रूप मे ही रखा और "रस साराश' लिखा जिसमे नाइन, धोबिन, कुम्हारिन, बराइन सब प्रकार के चरित्र मौजूद है जो लोक जीवन से लिए गये है किन्तु यह सब लोक चेतना की प्राणधारा के बजाय कवि की अपनी 'निकट जरूरत' के प्रतिफल ही रहे है। अब कोई इसी आधार पर इन्हे भक्तिकालीन प्राणधारा से जोडने पर अमादा हो तब हम तो इसे पुष्ट यौवन के फूले मस्तिष्क मे भरे तरल पदार्थ का प्रवाह ही कहना चाहेगे जिससे अपनी रीढ की मालिस करके भले ही खडा रह लिया जाय, किन्तु यह झुकी रीढ को ठीक करने के किसी काम का नही।

इसके साथ यह बडा महत्वपूर्ण है कि सबके सब कवि किसी न किसी राजा के दरबार मे थे। सबमे नायिका का श्रृगार प्रधान वर्णन है या फिर ऊँचे स्तर की नैतिकता के सूत्र है। सबमे एक घर के भीतर का वर्णन है। भाषा के चमत्कार द्वारा सबने अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कराने की चेष्टा की है। तब यह भी स्पष्ट है कि सौन्दर्य प्रसाधन की सहायता से ढका गया इनका खोखलापन निकटता के बढने की स्थिति मे उजागर होने लगता है। दरअसल ये आकर्षित तो करते है, किन्तु प्रेरणा नही देते। जाहिर है, आकर्षण की अपनी लोकप्रियता होती है और इसी अर्थ मे ये लोकप्रिय हो सके है। सच्चा लोकबद्ध काव्य तो प्रेरणादायी होता है, उद्भावक होता है जो ये नही है। इनके यहाँ न तो कबीर, सूर की उद्भावक शक्ति है और न ही तुलसी की सूक्ष्म पहचान परक दृष्टि। दरअसल इन कवियो मे involvement नही होता है। डूबना नही होता, एक प्रकार की तटस्थता होती है। भला हो ऐसी तटस्थता

की। इन कवियो की एक सीमा यह भी हुई कि दूसरे की सवेदना को तराशते हुए खुद की सवेदना नष्ट हो गई और जैसे आधुनिक समय मे कई सभावनाशील कवि, आलोचक बन गये। करीब करीब इनके साथ भी यही हुआ। अब उस समय आलोचना तो थी नही क्योकि गद्य नही था, अत सब कुछ कविता मे ही सभव था। सो वे आलोचक कवि होकर शास्त्रकार हो गये। सभव है कि हमारे समय के प्रतिभा शाली लोग अपने कविनपन से हाथ धो देने के डर से ही ढेर सारी शोध-आलोचनाएॅ न लिखते हो। इन सबके बावजूद रीतिकाव्य को लोकधर्मिता से पूर्णत असपृक्त मानना भी अनुचित होता, क्योकि इसी समय मे रीतिमुक्त कवि जैसे घनानद, बोधा, आलम ठाकुर आदि कविताएँ लिख रहे थे। यूँ भी जैसा कि शुक्लजी ने कहा है, " यह न समझना चाहिए कि किसी विशेष काल मे और प्रकार की रचनाएॅ होती ही नही थी। डा0 रामविलास शर्मा तो रीतिमुक्त कवियो का अध्ययन 'लोकजागरण' के सन्दर्भ मे करते है (लोकजागरण और हिन्दी साहित्य) और इसका आधार 'तन्मयता' को बताते है, जहॉ घनानन्द को सूर-तुलसी से जुडा हुआ बताते है। इन कवियो की सबसे बडी विशेषता है कि इनमे दरबारी मजमून नही है, काव्य चमत्कार की कोशिश नही, हृदय के सहज उद्गार है, पैसे की भूख नही है, नायिकाये किसी उच्च वर्ण से नही आती (घनानद ने तो सुजान वेश्या से ही प्यार कर डाला)। भाव अपने ही है वाह्य सचालित न होकर अन्त सचालित व स्वत स्फूर्त है। प्रेम के लोकधर्मी रूढि भजकता के स्तर पर जो बात सूरदास मे मिलती है वह इनके यहॉ भी है। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि आलम कवि रहे तो औरगजेब के दूसरे बेटे मुअज्जम के आश्रय मे, जो बाद मे बहादुरशाह के नाम प्रसिद्ध हुआ, किन्तु शेख नाम की रगरेजिन के प्रेम मे फँस गये। घनानद जाति से कायस्थ और दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीरमुशी थे, कितु 'सुजान' नामक वेश्या से प्रेम कर बैठे जो शृगार मे नायक के लिए और

भक्तिभाव में भगवान श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त होता है। बोधा बाँदा के सरयूपारी ब्राह्मण थे जो पन्ना के राजदरबार में रहते 'सुभान' नाम की वेश्या से प्रेम कर बैठे। तब जाहिर है कि रीतिबद्ध कवियों का प्रेम जहाँ कपोल कल्पित था, वहीं रीतिमुक्त कवि पहले प्यार करते हैं फिर कविता लिखते हैं। प्यार भी सबके सब वेश्या से ही करते हैं। मतलब कि उन दरबारों में वेश्याएँ आती थीं। ये वेश्याएँ कवियों पर रीझती थीं या कवि इन वेश्याओं पर किन्तु इतना तय है कि वह प्रेम टिकाऊ नहीं होता था और उनके 'विरह' की पीड़ा में कवि कविता करते थे। अब इसी 'प्रेम' को यदि थोड़ा ऊपर उठाया जाय, तो यह तो लगता ही है कि यदि इन कवियों को प्रेम ही करना था, तो क्यों नहीं गली-कूचे में पड़ी वेश्याओं (यदि उस समय थीं) से प्रेम करने का साहस बटोर पाये? क्यों इनको दरबार की वेश्याएँ ही प्रिय लगीं? क्या उनका भी 'स्तर' ऊँचा था या फिर और कोई कारण था? यह एक विचारणीय प्रश्न तो है ही। यह भी कि यदि इन प्रेम-प्रसंगों को कविता में उतारकर उसे परकीया नायिका जन्य लोक उपमानों से जोड़ दिया जाय या फिर उसे राधा कृष्ण का रूप देकर 'उदात्त' बना दिया जाय, बात वही की वही है कि विशुद्ध आदमी की पहचान कहाँ संभव हो सका। ***हाँ इतना जरूर है कि जहाँ रीतिबद्ध कवि पहले कविता लिखते थे, फिर प्रेम करते थे, वहीं रीतिमुक्त कवि पहले प्रेम करते थे, फिर कविता लिखते थे।*** **यह क्रम आधुनिक समय के साठोत्तरी कविता में भी दिखाई देता है जहाँ प्रेम के कुछ प्रवीण पोषक कभी रीतिबद्ध ढंग को अपनाते हैं तो कभी रीतिमुक्त। दरअसल इन सारे कवियों का आत्म त्याग आत्मोसर्ग से होकर आत्म-बलिदान तक की यात्रा नहीं करता। यह इनके आत्म विस्तार का कारण बना और जहाँ कहीं इनको झपकी से जगाया गया, ये तुरंत तोता रटंत की तरह लोक लोक चिल्लाने लगे। ज्यादातर इन लोगों ने 'झपकी-**

काव्य' ही लिखा है।

रीतिकाल की इसी पृष्ठभूमि मे आधुनिक काल का उदय होता है जहॉ मिथक चरित्रो के तनूकरण (dılutıon) की जो प्रक्रिया रीतिकाल से आरम्भ होती है उसकी पूर्णता का आभास मिलता है। हमने आदिकाल व भक्तिकाल के मूल्याकन मे यह कहा है कि घटनाओ के सकोच से चरित्रो का विस्फोट हुआ है और vıce-versa। तब रीतिकाल से घटनाओ का जो विस्तार होता दिखाई देता है, मुस्लिम राज्य का पतन और अग्रेजी राज्य का जो आधिपत्य बढता जाता है, उससे उदात्त चरितो की उदात्तता ही खतरे मे पड गई, क्योकि अब यह स्पष्ट हो गया था कि 'मनुष्य' स्वय ही अपनी समूची समस्याओ के लिए जिम्मेदार है और उसका समाधान भी वह इसी धरातल पर कर सकता है। उसका आधुनिक मन, किसी प्रकार के नियतिवाद से विद्रोह करने लगा और वह 'कार्यरत' होकर आत्म-सृजन हो गया। शास्त्र-लोक का द्वन्द भी जाता रहा और विभिन्न वर्गो की बढती जागरुकता से वह शिष्ट लोक का द्वन्द हो गया जिससे अब दोनो अपनी स्थिति मे वर्तमान कालिक हो गये।

तब एक बडी घटना ने जन्म लिया और रीतिकाल की सूखती जमीन पर जब नवजागरण का पहला पानी बरसा, वह भरभराकर उठ गई और बाद के कवियो ने इस पर अपनी खेती आरम्भ की। यहाँ अब वह मनुष्य था, वह लोक मानस था जिसे स्वय अपनी स्वतत्रता, स्वच्छन्दता, व्यक्तित्व का आभास था। उपेक्षित के प्रति भावना उद्दीप्त हुई जो पहले परम्परा से चले आते मिथक चरित्रो-मेघनाथ, कैकेई, उर्मिला आदि के द्वारा व्यक्त हुई। फिर बाद मे मिथक भी जाते रहे और बिल्कुल ही सामान्य आदमी, सामान्य धरातल पर ही कविता के केन्द्र मे आ गया जिसके बडे सूत्रधार 'निराला' बने। जैसे पूरे हिन्दी कविता के विकास मे आदिकाल से आधुनिक काल के आरम्भ तक मिथक चरितो के तनूकरण की प्रक्रिया आरम्भ होकर 'मनुष्य' मात्र की प्रतिष्ठा

हुई, वैसे ही आधुनिक काल के बिल्कुल आरम्भ से उपेक्षित चरित नायको से आरम्भ हुई सरलीकरण की प्रक्रिया महाकवि निराला मे उपेक्षित लोक चरित्रो मे पर्यवासित हुई। **जैसे पूरे हिन्दी कविता मे लोक मन की अभिव्यक्ति के सदर्भ मे आधुनिक काल का महत्व सबसे बड़ा है। वैसे पूरे आधुनिक काल में महाकवि निराला का। निराला यूँ पूरे एक युग का प्रतिनिधित्व करते देखे जा सकते है। कैसे कोई 'युग', एक 'कवि' में अभिव्यक्त होता है और कैसे कोई 'कवि', एक 'युग' में सचरित होता है, इसे निराला मे देखा जा सकता है।**

आधुनिक काल के पूर्व का लोक अधिकाँशत सस्कार व विश्वास पर आधारित हुआ करता था जहाँ वह 'व्यवस्था' के बाहरी ढॉचे से पहचाना जाता था। उसके पहचान का कारण कोई न कोई पारपरिक व निष्ठा या गुण ही हुआ करता था। आधुनिक काल मे पहली बार 'लोक' का प्रत्यक्ष गत गुण स्पष्ट हुआ, जिससे लोक जीवन के वैविध्य का पता चलता है। अब यह सामान्य आदमी के जीवन से जुडी 'रोजमर्रा' की गतिविधि के रूप मे आता है, जबकि पहले 'रूढिगत' गतिविधि से लोक की पहचान सभव होती थी। *क्रम का यह उलट जाना, मनुष्य का सीधे पॉव पर खडे हो जाना ही है। इसे भारतेन्दु से लेकर अब तक देखा जा सकता है जिसको हमने अपने अगले लेख मे हिन्दी कविता का लोकधर्मी स्वरूप- आधुनिक सदर्भ मे विवेचित किया है,* जहॉ इसे बता गया है कि आगे लोक सामान्य का सघर्ष, लोक विशेष का सघर्ष होता जाता है, मतलब कि अब हर 'सामान्य' आदमी अपने 'विशेष' अर्थ मे सामान्य है। मानव की यही विशेषगत विशेषता हमारे आधुनिक जीवन की सच्ची तसवीर प्रस्तुत करती है, क्योकि इसी विशेष पर भी बल देने से विधवा, भिक्षुक के बाद बलई, मसुरिया, चपा आदि चरित आते है जो गतिशील है, सघर्षरत है, जिनमे गहरा जीवनबोध आ गया है। इसी विशेष के कारण अब कुछ भी तिरस्कृत व बहिस्कृत करने की वस्तु

नही रह गया है। कुकुरमुत्ता से लेकर कुत्ता व बिल्ली तक, इस रचना के विषय है। **सड़क पर की कुतिया भी अपने भावी जीवन की क्रिया में कुत्ते पर पाषाण प्रहार से विचलित व रोती हुई यदि दिखाई जाती है, तो यह उस शिष्ट मनुष्यता पर कठोर प्रहार है जिन्हे बंद घरों का 'बेडरूम' सुलभ है। संभव है ढँके घरो के नंगे लोग, सड़क पर के नंगे जीवन को अश्लील कहें, किंतु यदि अपने भीतर थोड़ा भी झॉक सकेगे, तो उनके कार्य व्यापारो से 'नग्नता' की शरमा जायेगी।**

अत मे इतना बता देना जरूरी है कि यहाँ हमने केवल रीतिकाल के सदर्भ से हिन्दी कविता की लोकधर्मी प्राणधारा की बात उठाई है, इसके तात्विक विवेचन पर जोर न देकर इसको ऐतिहासिक प्रवाह मे देखने की कोशिश की है। तात्विक विवेचन के आधार पर कुछ न कुछ मिल ही जायेगा मसलन यह कि नारी के शृगार वर्णन मे लोक उपमानो का सहारा लिया गया है, प्रकृति के मनोहारी रूप भी मिल जाते है। जैसे कि डा0 किशोरी लाल ने कहा है कि "रीति कवियो की मौलिकता का सच्चा और प्रकृत दर्शन उनके द्वारा विवेचित नायक-नायिकाभेद मे होता है और इस सदर्भ मे इन्होने देव, भिखारीदास, रसलीन आदि का उल्लेख भी किया है। आगे समस्त नायिका भेद का विश्लेषण लोक तात्विक दृष्टि से करते हुए और उसे बडा महत्वपूर्ण मानते कहते है कि "उसमे वैवाहिक जीवन, नैहर-ससुराल, स्वकीया का आदर्श, ननद-भाभी, देवर-भाभी, साल-बधू, सामाजिक रूढियो व अधविश्वास का वर्णन विशद है।[42] सवाल फिर वही कि क्या ये चित्रण से अधिक 'लोकचित्त' को कुछ दे भी सके है? *स्थूलता से ऊपर जा भी सके है। वैसे भी हम तो उस आदमी की, उस चरित की तलाश मे निकले है जो सडक पर कराह रहा है, भूख से बिलबिला रहा है, चेहरा पथरा गया है, प्रकृति से आँख-मिचौनी (प्रेम के धरातल पर नही, जीवन*

के धरातल पर) कर रहा है, कभी हॅसता है, कभी रोता है, कभी हॅसने मे ही दुखी है, कभी दुख मे भी हॅसता है, जो थोडा बहुत दिखाता है या कि ऐसी कोशिश करता है, जो भीतर से निष्कपट है, लेकिन कुछ कुछ काइयॉ है । अन्यथा तो हमे यह पता है कि रीतिकाल का योगदान कविता को कविता के रूप मे प्रतिष्ठित करने का है उसे तमाम नैतिक, धार्मिक, आदर्शवादी आग्रहो से मुक्त करने का है। इसके द्वारा secularization की प्रक्रिया के आरम्भ होने से कम से कम मिथक चरितो को आकाश से धरती पर लाने मे सुविधा हुई जिससे 'नायकत्व' की भावना का लोप हुआ और आकाश से जो खड खड गिरा, वह धरती के हर आदमी मे नायक की भावना को प्रतिष्ठापित किया। यही से "आत्म सजगता" का भाव आरम्भ होता है।

इसके बावजूद हम इसे लोकधर्मी प्राणधारा का साहित्य नही मानते, क्योकि 'लोक की चित्त भूमि पर उसका सम्पूर्ण अधिकार भी न था' (द्विवेदीजी-'उद्भव व विकास')। यूॅ भी केवल ढूॅढने के लिए हम नही ढूँढना चाहते, अन्यथा तो कुछ न कुछ मिलेगा ही, जैसा कि प्रयोगवादियो तक मे मिलता है और देह मुक्ति मे कविता की मुक्ति ढूढने वाले तमाम परवर्ती कवियो मे। इनके बारे मे फिलहाल इतनी ही "They are artificial to the exent of absurdity" (निरर्थकता की हद तक बनावटी है)।

4- आधुनिक कालीन संदर्भ-

आधुनिक काल की लोकधर्मी चेतना का विश्लेषण काफी रोचक है क्योकि भक्तिकाल के बाद यह धारा थोडी अवरुद्ध सी हो गई थी, यद्यपि कि कुछ रीतिमुक्त कवियो के स्वच्छन्दतावाद व प्रेम के माध्यम से यह अभी भी आगे बढ रही थी। आधुनिक काल के नव-जागरण के प्रभाव से भक्तिकाल की आध्यात्मिकता और रीतिकाल की शास्त्रबद्धता को झटका लगा और लोकमानस पुन केन्द्र मे आ गया। डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी ने ठीक कहा है कि 'पुनर्जागरण ने अध्यात्म को लोक से जोडा। फिर लोक को राष्ट्रीयता से।[43] अब 'मनुष्य' ही साहित्य चितन के केन्द्र मे आ गया और उसके 'मुक्ति' की बात होने लगी जिससे एक 'सहजमानव' की परिकल्पना की जाने लगी। मनुष्य का यह विशेषीकरण ही लोक जीवन मे व्यापक रूप से फैले सामान्य व्यक्तिगत जीवन के साहित्य मे आने का कारण बना। यहाँ अब उस मनुष्य का जीवन था जिसे अपनी स्वतत्रता, समानता, स्वच्छन्दता और व्यक्तित्व का आभास था। *आधुनिक काल का पूरा साहित्य इसी मनुष्य और उसके परिवेश की क्रिया-प्रतिक्रिया मे विकसित होने वाला साहित्य है।*

यूँ यदि ध्यान से देखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक, साहित्य मे सामान्य जीवन का चित्रण उत्तरोत्तर बढता ही गया है। जहाँ आदिकाल और भक्तिकाल मे चरितनायको के उदात्त जीवन की अभिव्यक्ति का रूप दिखाई पडता है, वही आधुनिक काल मे चरित नायको की जगह सामान्य व उपेक्षित जनता का चित्रण मिलता है और आधुनिक काल मे जहाँ कही नायक चरित आये भी है, वहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से उपेक्षित नायकों को ही जगह व महत्व दिया गया है। यह बडा ही महत्वपूर्ण है कि यदि आधुनिक भारतीय साहित्य का आरम्भ माइकल मधुसूदन दत्त के बगला उपन्यास 'मेघनाद-वध' (1861) से माने, तब यह

स्पष्ट होता है कि परम्परा से उपेक्षित चरित्रो को कैसे उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ देखा समझा जाता है। इसे हम उपेक्षित के अपेक्षित का साहित्य भी कह सकते है जिसके परिणामस्वरूप ही हिन्दी मे कैकेई, जयद्रथ, एकलव्य आदि को जगह मिलती है।

दरअसल यह भी हमारे सोचने का विषय है कि आधुनिक काल के पहले का 'लोक', सस्कार व विश्वास पर आधारित हुआ करता था, जहॉ वह व्यवस्था के बाहरी ढॉचे से पहचाना जाता था। उसकी पहचान के लिए किसी न किसी पारपरिक निष्ठा या गुण की जरूरत महसूस होती थी। आधुनिक काल मे पहली बार ऐसा हुआ कि लोक, प्रत्यक्ष जीवन से जुड गया जिससे लोक वैविध्य का पता चलता है। *लोक यहॉ सामान्य आदमी के जीवन से जुडी गतिविधि के रूप मे आता है, जबकि पहले गतिविधि से लोक की पहचान सभव होती थी।* यूॅ यह लोक का जनता से निजत्व प्राप्त करने का परिणाम ही रहा है जो आधुनिक समय मे बढता ही गया है। इसीलिए 'सघर्ष' आधुनिक समय के मानस का एक विशेष गुण है।

इस सघर्ष के भी अपने ऐतिहासिक कारण रहे है क्योकि सामान्य मनुष्य का केन्द्र मे आना कोई अचानक घटित घटना नही रही है। *वस्तुत यह परिस्थितियो की मॉग ही रही थी कि बदली परिस्थितियो मे भारतीयो के सामने सामान्य मनुष्यकी प्रतिष्ठा के अलावा कोई दूसरा विकल्प भी नही था, क्योकि इसी आधार पर अग्रेजो के उच्च मनुष्यता के भाव को चुनौती दी जा सकती थी।* यूँ कबीर के सामने यदि तत्कालीन शास्त्र था, तो आधुनिक कवियो के सामने अग्रेजो का शास्त्र था, एक प्रकार कुलीनतावाद था जिस पर प्रहार करना जरूरी लगा। चूँकि अग्रेजो पर सीधा आक्रमण उस परिस्थिति मे सभव नही था, जिससे परम्परा से चले आते उपेक्षित चरित्रो को आधार बनाकर उसके महत्व की प्रतिष्ठा का कार्य सपन्न हुआ। इससे एक ओर परम्परा की रक्षा हुई,

तो दूसरी ओर नई परम्परा का सूत्रपात भी हुआ।

ठीक ऐसे ही समय पर **भारतेन्दु का उदय** होता है। हम कह सकते है कि रीतिकाल की सूखती जमीन पर जब नवजागरण का पहला पानी बरसा तो वह भरभरा कर उठ गई जिस पर उसके बाद के कवियो ने जोतने का कार्य किया। भारतेन्दु इस हल को पकडने वाले हिन्दी के पहले व्यक्ति रहे है जिनमे एक विद्रोही चेतना ने जन्म लिया। उनके पास पत्रकारिता, नाटक जैसे लौकिक हथियार थे, जो पूर्व के दिव्यास्त्रो से भिन्न थे। इन सबसे काव्य की एक सघर्षधर्मी चेतना का आभास मिलता है जो द्विवेदीकाल मे सस्कृत निष्ठता के प्रभाव से शास्त्रबद्ध सा हो गया लगता है। ठीक जैसे कबीर से आगे तुलसी मे होता है, फिर छायावाद मे 'निराला' के माध्यम से उस सघर्ष का सर्वतोमुखी आभास मिलता है, जो 'प्रगतिवाद' मे फिर थोडा ठहर सा जाता है, जो शास्त्र सवलित होकर (मार्क्सवाद के प्रभाव से) एक रीति को जन्म देता है, जहॉ व्यक्ति से अधिक व्यवस्था पर बल दिया जाता है। इसके पश्चात दो दशको के लगभग ठहराव व बचाव से होती साठोत्तरी हिन्दी कविता जब उदित होती है तब वह कबीर की परम्परा से सीधे जुडकर, भारतेन्दु, निराला से होते अबाध रूप से आगे बढती है जो लोक जीवन के विविध प्रभावो व प्रवृत्तियो को मुखर अभिव्यक्ति देती आई है।

दरअसल रीतिकाल, जैसा कि शुक्लजी ने लिखा है, अपनी ही माटी की उपज था, जिस कारण भारतेन्दु मण्डल के लिए इससे पूरी तरह से विच्छिन्नता सभव नही थी। साथ ही साथ भक्तिकाल से इनके जुडाव की इच्छा भी रही थी। इस कारण से भक्तिकाल और रीतिकाल की मिली-जुली विशेषताएँ इस समय मे देखी जा सकती है। ऐसी स्थिति मे एक द्वन्द का होना भी स्वाभाविक ही था। एक तरफ देशभक्ति, दूसरी तरफ राजभक्ति, मे फँसी इस समय की कविता का विश्लेषण बडा ही रोचक

है और उसमे भी रोचक है भारतेन्दु की भूमिका का मूल्याकन। जहाँ कविता की भाषा व्रज रही, तो गद्यकी भाषा खडी बोली। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस प्रकार गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर कर गद्य साहित्य को देशकाल के अनुसार नये नये विषयो की ओर लगाया, उसी प्रकार कविता की धारा को भी नये नये क्षेत्रो की ओर मोडा। इस नये रग मे सबसे ऊँचा स्वर देश भक्ति की वाणी का था और उसी से लगे विषय लोकहित, समाज सुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि थे।[44] इस प्रकार हम देख सकते है कि नये नये विषयोन्मुखता के कारण कविता मे लोक जीवन की सहज अभिव्यक्ति के विविध आयाम भी खुलने लगे। स्वय कविता के आलबन तक बदलने लगे थे। हास्य-व्यग्य के आलबन तक मे इस लोक-प्रवृत्ति के लक्षण दिखायी पड जाते है और आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "जहॉ रीतिकाल के कवियो की रूढि मे हास्य-रस के आलबन कजूस ही चलते आये थे, साहित्य के इस युग मे आरम्भ से ही कई प्रकार के आलबन सामने आने लगे थे जैसे पुरानी लकीर के फकीर, नए फैशन के गुलाम, अदालती अमले, मूर्ख व खुशामदी रईस, नाम या दाम के भूखे देशभक्त आदि।[45] इससे स्पष्ट है कि कविता अपनी प्रवृत्ति मे जमीन से जुडने लगी थी। इस नवीन धारा के अतर्गत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, अबिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, प्रेमधन आदि आते है।

खडी बोली के आरम्भ होने से इस समय के लेखको ने लोक साहित्य से काफी प्रेरणा ग्रहण की। कजरी, मुकरी, लावनी, चूरन के लटके जैसे लोक प्रचलित माध्यमो को इन लेखको ने शिष्ट साहित्य मे सक्रमित कराया। बाद मे पूँजीवादी व्यवस्था के बढते प्रभाव के कारण सामाजिक व्यवस्था कुछ छिन्न भिन्न होती गई, जिससे लोक साहित्य की रचना कम होती गयी और वे सवेदनाएँ खडी बोली के साहित्य मे दिखायी

देने लगी, जो आधुनिक साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इस समय के लेखको मे प्राय हर विधा मे अपने लोक जीवन से जुडे रहने की उत्कट लालसा दिखाई पडती है। तब डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है कि "यह लोक जीवन से जुडे रहने की चिता भारतेन्दु युगीन हिन्दी लेखको को पश्चिमी सस्कृति के प्रवाह मे बहने नही देती" (पृ0 108)। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसी को 'मूर्तिमान प्राणधारा का उच्छल-वेग'[47] (हिन्दी साहित्य उद्भव व विकास पृ0 210) कहा है जिसके फलस्वरूप उन्होने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मदाकिनी मे (भक्तिकाल का मनुष्य को देवता बनाने का भाव) स्नान कराया और दूसरी तरफ उसे दरबारीपन से निकालकर लोक जीवन के आमने-सामने खडा किया" (उप0) स्वय नाटको के माध्यम से भारतेन्दु ने जीवन की गतिहीनता और स्थूलता को तोडा और जीवन को गतिशील तथा नवीन की ओर बढने का सकेत किया। यही गतिशीलता, परवर्ती हिन्दी कविता मे लोक-सौन्दर्य का एक प्रमुख कारण भी बनती है।

हमारे लिए यह जानना बेहद महत्वपूर्ण है कि भारतेन्दु के समय से हिन्दी मानस मे 'आत्म चेतना' जागृत हुई और यह ध्यान देने की बात है कि यह पहली बार घटित हुआ क्योकि इसके पहले की लोकधर्मिता, लोक-मन मे रची बसी थी। लोक चेतना का महत्व इस कारण से है कि यहाँ अब लोक-जीवन सायास रूप मे उभरने लगा। (यह इस कारण से भी हुआ कि अब पूँजीवादी व्यवस्था (औद्योगिक पूँजीवाद) स्पष्ट होने लगी थी और उसमे भी पूँजीवाद व सर्वहारा के बीच का सघर्ष, जिसने जाति निर्माण की प्रक्रिया को तेज किया) यहाँ 'चेतना' शब्द अपने आप मे आधुनिकता बोध का सूचक है, जहाँ आपको किसी का सायास ज्ञान करना पडता है लेकिन यही पर यह भी समझना चाहिए कि भारतीय मानस मे सामतवाद अभी भी गहरे धँसा था जिससे 'लोक-धर्मिता', लोक चेतना से ओत-प्रोत होकर आगे तो बढी, किन्तु वर्गीय आधार

स्पष्ट नही था जिससे दुश्मनो की ठीक ठीक पहचान अभी सभव न थी। कभी सामतवाद प्रतिरोध का विषय होता था, तो कभी ब्रिटिश पूँजीवाद। इसीलिए इनके दबाव मे इस समय की लोक धर्मिता, या कि लोकभावभूमि प्रतिरोधी ही रही। अभी इसका 'रचनात्मक' होना शेष था। मतलब कि लोक-चेतना, लोक सघर्षी बनकर लोक-निर्माणकारी न बन सकी, जिससे इसे अपने *भीतरी बल* की पहचान न हो सकी। अभी तक यह दूसरे को रोकने तक (सामतवादी पूँजीवादी) ही सीमित रही थी। अपने बल को पहचान कर गतिशील होने की प्रवृत्ति अभी दिखाई नही दे रही थी। आगे यह कार्य द्विवेदी युग से होता निराला मे सम्पन्न होता आगे बढता है, क्योकि वहाँ लोक-चेतना का भारतेन्दु कालीन-प्रतिरोधी और रचनात्मक दोनो पक्ष मिलता है। मिथक, पुराण कथाओ का लौकिकीकरण भी आरम्भ हो गया था, यद्यपि इसकी गति अभी धीमी थी।

अत: हम यह भी कह सकते है किर आधुनिककाल में भारतेन्दुकाल से आरम्भ होकर हिन्दी कविता की लोकधर्मिता उत्तरोत्तर अभिकेन्द्रिक (Centripetal) होती गई है जिससे जहॉ एक ओर इसके भीतर के निर्माणकारी तत्वो की पहचान संभव हुई, वहीं दूसरी तरफ परम्परा के गतिशील तत्वों से इसका सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। हिन्दी कविता मे लोक के रचनात्मक पक्ष के उत्तरोत्तर उभरते जाने का यह एक महत्वपूर्ण कारण है और हम कह सकते हैं कि लोक जीवन का यह उभार भारतेन्दुकालीन साहित्य से शुरु हो जाता है यद्यपि कि इस समय मे स्थिति बहुत स्पष्ट नही थी। किन्तु इसका एक ऐतिहासिक कारण है।

दरअसल जब समय बदलता है, तो पिछले सस्कार बहुत धीरे-धीरे छूटते है। आप देख सकते है कि लोक-चेतना के बढने के बावजूद भारतेन्दुकाल मे रूढि व आधुनिकता, मिथक और लोक, सस्कार और व्यवहार के बीच यह द्वन्द बराबर मिलता है। यह दूसरी वस्तु है कि धीरे धीरे पूर्व पक्ष कम होता जाता है। द्विवेदी युग मे भी यह द्वन्द

मिलता है जहॉ यह मिथको के बीच लडा जाता है (भारतेन्दुकालीन सस्कार व व्यवहार के बीच था।) जहॉ महत्वपूर्ण मिथको के समानान्तर उपेक्षित मिथको को (जयद्रथ, कैकेई आदि) महत्ता प्रदान की जाती है। मतलब यह कि कविता सामान्योन्मुख तो हो रही थी, किन्तु धरातल अभी भी मिथकीय था। उसे जमीन पर उतरना शेष था जिससे लोक के आतरिक तत्वो की पहचान सभव हो सके। यह कार्य निराला के द्वारा सम्पन्न होता है। **इसका एक प्रमुखकारण यह रहा है कि आधुनिक समय में निरतर घटनाओं का विस्फोट होता जाता है, जिससे मिथकीय आधार टूटता जाता है और नायकत्व की भावना का लोप होता है। कबीर की प्रासंगिकता यूँ हमारे लिए बढ़ती जाती है।**

यहॉ पर यह भी ध्यान देने की बात है कि आधुनिक काल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' बहुत कुछ के टूटने का इतिहास रहा है। जब भाषा टूटी, छद टूटा तो भाव भी टूटे। भाव के इन्ही टूटने के साथ नये भाव भी फूटे और कविता व्यापक जन-जीवन से जुडी। इस रूप मे टूटना, वस्तुत एक वृहत्तर सन्दर्भ से जुडना ही है। भारतेन्दु से यह कार्य आरम्भ होता है जहाँ रूढि टूटी, अधविश्वास टूटा, तो आधुनिकता आई और लोकधर्मिता नये सन्दर्भो से जुड पाई।

इसी टूटने का परिणाम है कि भारतेन्दु कालीन साहित्य मे लोक-देशीय भावना का प्रबल रूप से सचार होता है। राजनीति मे जो स्वदेशी हैं, साहित्य मे वह लोकदेशी बना और भारतेन्दु इस स्वदेशी को बडा महत्व देते है। इस स्वदेशी के बारे मे डा0 रामविलास शर्मा लिखते हैं कि यह कहना अत्युक्ति न होगी कि हिन्दी प्रदेश मे स्वदेशी आदोलन के जन्मदाता और देश के लिए बलिदान का पाठ पढाने वाले भारतेन्दु ही थे।[48] बलिदान की इसी भावना के कारण उनके साहित्य मे भक्तिकाल का प्रभाव देखा जा सकता है क्योकि 'भक्तो के साहित्य मे जो जनवादी विचार थे उन्हे हरिश्चन्द्र

ने फिर से सॅवारा और नई सस्कृति मे विकसित किया। उनके समाज सुधार के मूल मे अक्सर भक्त कवियो की स्थापनाएँ मिलेगी[49]।' उनके भी लोकजीवन का आधार 'प्रेम' था, जो उन्हे कबीर से जोडता है। इसी को आधार बनाकर डा0 शर्मा आगे लिखते है कि प्रेम उनकी वाणी का मूल स्वर है। इसके आधार पर उन्होने जाति-पॉति, ऊँच-नीच, छुआ-छूत, सामाजिक विषमताएँ आदि का विरोध करना सीखा। इस प्रेम से उन्होने देश प्रेम का सम्बन्ध भी जोडा[50]। स्वय 'तदीय सर्वस्व' मे लिखा है कि 'बिना शुद्ध प्रेम न लोक है, न परलोक'।

यही प्रेम, जो कि शोषितो के प्रति भाव ही है, भारतेन्दु को रीतिकाल से अलग करता है और भक्तिकाल से जोडकर आधुनिक लोक चेतना के भाव का सचार करता है। यही लोक चेतना इनके यहाँ देश-प्रेम का भी स्रोत है। स्वय प्रकृति भी इनके यहॉ इसी लोक चेतना को गति को बढती है। डा0 रामविलास शर्मा ने ठीक लिखा है कि 'भारतेन्दु सामाजिक जीवन से उदास होकर प्रकृति मे राहत पाने वाले कवि नही है। अनेक अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मनुष्य है और प्रकृति उसका कार्य क्षेत्र है। इस कार्यक्षेत्र के रग-रूप, सगीत व सौन्दर्य को वे देखते सुनते है, लेकिन न तो उन्हे नक्षत्रो से मौन निमत्रण मिलता है और न ही सारी प्रकृति आध्यात्मिक रगो मे डूबी दिखायी देती है[55]। यूँ वे 'नरप्रकृति के कवि थे। वाह्य प्रकृति की अनेक रूपता के साथ उनके हृदय का सामजस्य नही बन पाता[52]।

'नर-प्रकृति' की इसी अनेकरूपता की पहचान का परिणाम रहा है कि भारतेन्दु मूलत सगीतात्मक लयो के कवि थे जो लोक रस से अपनी कविता को आप्लावित करना चाहते थे। इसी कारण इन्होने लोक चेतना युक्त काव्य के माध्यम से जन जागरण की बात उठाई। इसी कारण उनके कवि मे 'लोक-निर्माण' का भाव तो नही था, किन्तु 'लोक-उपयोग' की भावना प्रबल थी। ऐसा इस कारण से कि इनके यहाँ लोक

जीवन सस्कारो और व्यवहारो की सफाई से जुडता है, जो लोक उपयोग ही है। ऐसे साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए लिखा है- "जिन लोगो को ग्रामीणो से सम्बन्ध है, वे गॉव मे ऐसी पुस्तके (जातीय सगीत की छोटी छोटी पुस्तके) भेज दे। जहॉ कही भी ऐसे गीत सुने, उनका अभिनन्दन करे। इस हेतु ऐसे गीत बहुत छोटे छोटे छदो और साधारण भाषा मे हो। कजरी, ठुमरी, खेमका, कहरवा, चैती, होली, साझी, जाँते के गीत, विरहा, गजल इत्यादि ग्राम गीतो मे इसका प्रचार हो। [53] इस रूप मे भारतेन्दु की गीतात्मक चेतना, गीतो के माध्यम से भावनात्मक दूरी को कम करने का प्रयास करती रही।

दरअसल भारतेन्दु काल कई उथल-पुथल व दबावो से भरा समय था। हम देख सकते है कि इसी समय 1875 मे आर्य-समाज का आदोलन था जिसने इसके सस्थापक स्वामी दयानद सरस्वती के नेतृत्व मे 'रूढिवादी' सनातनियो से, हिन्दू धर्म पर आक्रमण करने वाले ईसाइयो से और देश मे फैल रहे अनेक धार्मिक सम्प्रदायो से एक साथ लोहा लिया। इन दिनो शास्त्रार्थो की धूम मचा गई[54] अत इस समय के वाद विवाद हिन्दी साहित्य को समृद्ध करते देखे जा सकते है जिस कारण से यह भी कहा जा सकता है कि इस समय की लोक चेतना आदोलन धर्मी होती जा रही थी जिससे लोकधर्म को रूढिवादियो से हटाकर उसे आधुनिक बनाने का प्रयास किया जाने लगा था। इसी से लोक के रचनात्मक पहलुओ की ओर कवियो की दृष्टि गई और 'राष्ट्रीयता' की भावना के सकेत मिलने लगे, यद्यपि कि अभी तक इसके व्यापक पहलू स्पष्ट नही हो सके थे।

यह गौरतलब है कि हमारे हिन्दी क्षेत्रो मे राष्ट्रीयता की भावना एक प्रकार से विदेशी प्रतिक्रिया के रूप मे आती है। 19वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे राष्ट्रीयता भारत के लिए एक नवीन भावना थी। अग्रेजो के सम्पर्क के कारण ऐसा हुआ। अग्रेज

इस बात को विश्वासपूर्वक मानते थे कि 'राष्ट्रीयता का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अश है और इस राष्ट्र की सेवा के लिए इसको धन-धान्य से समृद्ध करने के लिए, इसके प्रत्येक नागरिक को सुखी बनाने के लिए, प्रत्येक व्यक्ति को सब प्रकार से त्याग और कष्ट स्वीकार करने चाहिए।[55] डा0 द्विवेदी ने इसके खतरे की ओर सकेत किया है। इसकी सीमा व्यतिक्रम से इसका कुत्सित रूप सामने आने लगा और वह यह कि 'अपने देश को धन धान्य से समृद्ध करने के लिए दूसरे देशो का शोषण किया जा सकता है' (डा0 द्विवेदी उप0)। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप हमारे यहाॅ भारतेन्दु काल मे ही राष्ट्रीयता की भावना का उदय होता है जो कुछ और नही, अपनी राष्ट्रीयता को बचाने का उपक्रम मात्र था। ऐसे समय मे कवियो का ध्यान पुन मिथक-पुराणो की ओर गया जहाॅ मिथको के माध्यम से उपेक्षित चरित्रो के महत्व प्रतिपादन का कार्य आरम्भ हुआ। जाहिर बात है इसने अतीत के महिमामण्डन (glorificaiton) के द्वारा एकजुटता की भावना का सचार कराया। कोई नई राह आनी अभी शेष थी। *अत अभी तक की राष्ट्रीयता, विदेशी राष्ट्रीयता के शोषण से मुक्ति का प्रयास भर दी। खुद की राष्ट्रीयता के लिए जिस ताकत की जरूरत थी, वह अभी तक न आई थी।* उसका उभार छायावाद से दिखायी पडता है जो आगे बढता जाता है। **तब यह ठीक ही है कि भारतेन्दु से लेकर आगे की कविता मे राष्ट्रीयता का उत्तरोत्तर होता विकास एक प्रकार से अपनी कमजोरी से मुक्ति का प्रयास भी रहा है और जैसे जैसे हम इसमें सफल होते गये है, वैसे वैसे हम मिथक चरित्रों के लौकिकीकरण की प्रक्रिया में सफल होते गये है। निराला तक आते आते यह कार्य लगभग सम्पन्न हो जाता है। आधुनिक समय की घटना बहुलता, मिथको के लौकिकीकरण की प्रक्रिया में यूॅ प्रवेश करती है।**

इसी प्रकार से लोक चेतना भी रक्षात्मक से रचनात्मक, लोकोपयोग से लोक निर्माणकारी की तरफ मुडती है। जाहिर बात है पहले मे लोक चेतना प्रतिक्रियात्मक थी, तो दूसरे मे क्रियात्मक। पहली कुछ कुछ स्थूल थी, क्योकि बाहरी तत्र पर हमला के लिए अतीत का सहारा लेना था, पुराण-मिथक की काव्यात्मक उडाने भरना पडता था, जबकि दूसरी गतिशील थी क्योकि वह अपनी सार्थकता अपने समय के तत्वो मे ढूढती थी। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तब ठीक ही कहा है कि 19वी शताब्दी 'भारतीय गौरव के पुनरुद्धार' का समय है जिसमे स्मृतियो के आधार पर साहित्य सृजन होने लगा था। 20वी शताब्दी के आरम्भ तक यह चलता रहा, जो धीरे धीरे कम होता गया है। निराला के हाथो भारतीय गौरव का पुनरुद्धार स्मृति-जीवी न होकर जीवित-स्मृतियो मे मिलता है। दरअसल भारतेन्दु काल से द्विवेदी व छायावाद तक भारतीय गौरव गान, एक प्रकार की 'चेतन-चेतनता' का परिणाम था, क्योकि यह चेतन-चेतनता हिन्दी साहित्य मे पहली बार घटित होती है, क्योकि भक्तिकाल का काव्य भी लोक भावना से सपूरित होने के बावजूद किसी चेतन-चेतनता (लोक-चेतना) का परिणाम नही था। आधुनिक समय मे धीरे धीरे यह कम होता गया और चेतनता का विशेषीकृत रूप सामान्य हो गया। इसी सामान्य होने के कारण कविता मे राष्ट्रीयता की कुछ रचनात्मक गूँज भी सुनाई देने लगी और कविता पवित्र परिवार के दायरे बाहर आई। यहाँ ध्यान देने की बात है कि छायावाद के पहले तक, लोक चेतना का स्वरूप गार्हस्थिक हो रहा है। एक प्रकार से सब कुछ परिवार के भीतर ही घटित होता है। अयोध्या सिह उपाध्याय व मैथिली शरण गुप्त तक की कविताओ मे इसे देखा जा सकता है। यह जरूर है कि भक्तिकाल मे जहाँ परिवार के भीतर उपेक्षित चरित्रो की ओर ध्यान नही था, वहाँ आधुनिक काल मे इस ओर भी ध्यान दिया जाने लगा। मतलब इनकी दृष्टि परलोक निबद्ध न होकर लोक निबद्ध ही रही (डा0 द्विवेदी)। यह दूसरी बात

है कि अभी परिवार के बाहर, सामान्य के धरातल पर आदमी के जीवन को केन्द्र मे लाना शेष था। यह कार्य निराला मे सपन्न होता है। *यह कविता के लोकधर्मी स्वरूप का सहज और रचनात्मक पक्ष है जहॉ लोक-मानस मे एक ओर राष्ट्रीयता की भावना जगाने का भाव मिलता है, तो दूसरी ओर जागृत-लोक की कायर विधियो का खुलासा भी होता है।* यही जागृत लोक, लोक चेतना की रचनात्मकता का सवाहक भी है। यही से लोकधर्मिता का व्यवस्थित सघर्षधर्मी पक्ष का आरम्भ भी होता है, जिसे बाद मे प्रगतिवादियो ने वर्गबद्ध करके सीमित कर दिया। साठोत्तरी मे यह वर्ग निबद्धता जाती रही।

यूँ तो भारतेन्दु मण्डल मे भारतेन्दु के अलावा प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, चौधरी बद्रीनारायण प्रेमधन, ठाकुर जगमोहन सिह, प0 अबिकादत्त व्यास, श्रीनिवास दास आदि थे, किन्तु कविता के क्षेत्र मे इसके विविध विषयो की ओर उन्मुख करने मे, भारतेन्दु के अलावा इन लोगोने कोई खास रुचि नही दिखायी। इनके लिए कविता 'बाई प्रोडक्ट' ही रही। यूॅ भी इनकी रुचि गद्य की ओर थी, क्योकि भाषाई परिमार्जन इनके लिए मुख्य रहा। नाटको मे इन सभी ने गहरी दिलचस्पी दिखलाई, जिससे इनकी लोकोन्मुखता व गतिशीलता का प्रमाण तो अवश्य मिलता है। दरअसल इन सभी के सामने सबसे पहला सवाल हिन्दी जाति के निर्माण का सवाल ही था। पिछले समय का सारा अध्यात्म वस्तुत इसी 'जाति' रुचि के कारण धीरे धीरे जमीन पर उतरने लगा था, क्योकि गद्य के आगमन से जीवन के बहुतेरे पक्षो तक इनकी दृष्टि जाने लगी थी। इन 'मण्डल' के लोगो मे लोक जीवन का सन्दर्भ इसी जातीय चेतना के उभार के रूप मे देखा जाना चाहिए।

भारतेन्दुकाल के बाद जब **द्विवेदी काल का मूल्यांकन** होता है तो यह स्पष्ट होता है कि इसकी पृष्ठभूमि भारतेन्दुजी ने पहले ही तैयार कर दी थी। कविता को

नये विषयो की ओर भारतेन्दु जी मोड ही चुके थे, यह दूसरी बात है, जैसाकि आचार्य शुक्लजी ने लिखा है, कि उसके भीतर किसी नवीन विधान या प्रणाली का सूत्रपात न कर सके थे। द्विवेदी काल के कवियो ने इस कमी को भरसक पूरा करने की कोशिश की, फिर भी कविता के केन्द्र मे पवित्र परिवार ही रहा, जिसपर भक्तिकाल की छाप देखी जा सकती है। ऐसा 'प्रबन्ध' की अपनी सीमाओ के कारण ही था।

दरअसल यह भी गौरतलब है कि द्विवेदीकाल मे कविता अपने लोकधर्मी स्वरूप को लेकर जैसे ही किसी नवीन विधान या प्रणाली की ओर बढने लगी थीं, कि यह सस्कृतशास्त्रो की ओर मुड गई और भाषाई विधान के आग्रह मे भटक गई। *इस रूप मे भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग मे लगभग वैसी ही समानता है, जैसी आदिकाल व भक्तिकाल मे।* जैसे आदिकाल मे कथ्य के आधार पर विविध काव्यरूपो की अभिव्यक्ति हो सकी, वैसे भारतेन्दुकाल मे। जैसे आदिकाल के लोकधर्मी प्रवाह ने भक्तिकाल मे एक ओर कबीर पैदा किया, तो दूसरी ओर तुलसी, वैसे ही भारतेन्दुकाल ने द्विवेदी काल मे एक ओर श्रीधर पाठक (स्वच्छदतावादी) को दिया तो दूसरी ओर सस्कृत शास्त्रो के प्रभाव मे मैथिलीशरण गुप्त को। जैसे कबीर की विद्रोही व सघर्षधर्मी चेतना तुलसी तक आते आते समन्वयमूलक हो जाती है, वैसे श्रीधर पाठक (जन्म 1859-1928) की स्वच्छदवादी चेतना गुप्त मे (1886-1964) समन्वय को प्राप्त होर्त है। छायावाद के लोकधर्मी स्वरूप ने निराला के द्वारा अपना सम्बन्ध श्रीधर पाठक से जोडा और सामजस्यवादी प्रवृत्ति के प्रति विद्रोह करके लोकधर्म को सघर्षमूलक बनाया।

वास्तव मे द्विवेदीकाल तक आते आते 'लोक चेतना' धीरे धीरे 'रचनात्मकता' की दिशा मे बढती, लोक जीवन के आतरिक व गतिशील तत्वो की पहचान करने ही लगी थी कि यह अतीत की ओर मुडकर उद्‌बोधन परक हो गई जिससे भक्तिकाल

की परिवार प्रियता मे कैद हो गई। इससे प्रकृति की स्वतत्र सत्ता भी काव्य का विषय न बन सकी। वह 'चिर-साहचर्य' के लक्षणो से युक्त न हो सकी। चूँकि वह भाषाई निर्माण का समय भी था जिससे तरह तरह के भाषार्थ प्रयोग भी होते रहे। इस समय मे लिखा जाने वाला प्रिय प्रवास (1914) और साकेत (1932) इसके उदाहरण प्रस्तुत करते है, जिनमे सभी कुछ परिवार के भीतर घटित होता है। हॉ, यह जरूर है पुराण-आख्यानो के भक्तिकालीन परलोकप्रियता से कविता लोकबद्धता की ओर मुडी और परिवार के भीतर उपेक्षित चरित्रो को महत्व दिया जाने लगा। श्रीधर पाठक के 'गुनवत हेमत' की धारा भी, जिसमे उन्होने गॉव मे उपजने वाले मूली, मटर को सामने लाने की कोशिश की, अवरुद्ध हो गई। इसी को छायावाद ने आगे किया।

हम यह जानते है कि द्विवेदी युग मे दो तरह के रचनाकार थे। एक द्विवेदी मण्डल के बाहर जिनमे प्रमुख है श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, गगाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', रूप नारायण पाण्डे आदि जो स्वच्छदतावादी थे और द्विवेदी मण्डल के भीतर थे- हरिऔध, गुप्तजी आदि। द्विवेदी मण्डल के भीतर के लोगो पर सस्कृत साहित्य का गहरा असर होने से लोक चेतना के रचनात्मक पक्षो का बहुत विकास न हो सका।

वस्तुत द्विवेदी मण्डल एक सुनिश्चित व्यवस्था पर आधारित था, जिससे तत्सम प्रधान भाषा, भाषाई शुद्धता आदि का आग्रह इसे समकालीन चुनौतियो से काट दिया। इसके बारे मे आचार्य शुक्ल लिखते है- "उस समय पिछले सस्कृत काव्य के सस्कारो के साथ प0 महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे आये जिनका प्रभाव गद्य साहित्य और काव्य निर्माण दोनो पर पडा। भक्तिकाल और रीतिकाल की परिपाटी के स्थान पर पिछले सस्कृत साहित्य की पद्धति की ओर लोगो का ध्यान गया" (इतिहास पृ0 328)। इसने इतिवृत्त matter of fact- को जन्म दिया। जाहिर बात है इसमे अधिक से अधिक लोकोपयोग ही सभव हो सकता था, लोक-निर्माण नही। इसी

से यह काव्य ठहर सा गया। *परिवार के भीतर सिमटने का कारण शायद यही है। कर्म से अधिक कामना का भाव ही अधिक भास्वर हुआ।*

द्विवेदी मण्डल मे यूँ तो लोचन प्रसाद पाण्डे, रामचरित उपाध्याय आदि भी थे, किन्तु प्रमुख दो ही थे- हरिऔध व गुप्तजी। इन्ही दोनो ने ही खडी बोली मे काफी समृद्ध कविताएँ लिखी है। अयोध्या सिह उपाध्याय 'हरिऔध' (1865-1947) आजमगढ के रहने वाले थे जिन्होने 'प्रियप्रवास' (1914) जैसा महत्वपूर्ण काव्य ग्रथ लिखा। यह खडी बोली हिन्दी का पहला महाकाव्य बना। जिसमे निश्चय ही राधा व कृष्ण का एक समसामयिक बदला रूप मिलता है। स्वय 'हरिऔध' जी ने लिखा है कि "मैने इसमे श्रीकृष्ण को एक महापुरुष के रूप मे अकित किया है, ब्रह्म करके नही।" चलिए, कृष्ण कम से कम ब्रह्म से महापुरुष तक तो खिसके। फिर उसके आगे? यह उतरना अभी सभव नही था। राधा भी अब सामान्य नारी के रूप मे ही आती है। वह भक्तिकालीन व रीतिकालीन राधा की तरह कृष्ण से मिलने को बेचैन नही रहती, अपितु उद्वव से कहती है 'प्यारे जीवे, जग-हित करे, गेह चाहे न आवे'। अत नारी का लोक सेविका वाला रूप दिखायी तो देता है किन्तु फिर वही समस्या- 'कामना' के स्तर पर। 'राधा' क्या कोई कर्म करती है जो बाद मे 'स्वप्न' की सुमना या निराला की 'वह' करती ? यह विचारणीय बात है। कुल मिलाकर परिवार प्रियता यहाँ भी चालू। हाँ। पुराणकथा के प्रति कवि की दृष्टि मे यह पहला महत्वपूर्ण परिवर्तन है, जहाँ हिन्दी मानस अब विचार के साथ-साथ सस्कारो मे भी आधुनिक ऐहिकता की ओर अग्रसर होता है[56]।

पर यह जरूर है कि प0 रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न' (1929) के बसत व सुमना का आना अभी शेष था। मतलब लोक निर्माण की भावना की मुखर अभिव्यक्ति अभी न होने पाई थी। बावजूद इसके हरिऔध को इतना श्रेय तो जाता ही है कि जो चरित्र

अभी तक आध्यात्मिक प्रेम के बल खडा था, उसे थोडा झटका अवश्य दिया।

हरिऔध ने जहॉ आध्यात्मिक चरित्रो को झटका देकर सामान्य जीवन की ओर मोडने का सकेत छोडा, वही गुप्तजी ने पौराणिक कथाओ के उपेक्षित चरित्रो की ओर ध्यान दिलाया, जिससे उन्होने भी प्रकारातर से सामान्य मनुष्य के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। स्वय 'साकेत' मे (1932) कवि उर्मिला और कैकेयी के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करता है, तो 'यशोधरा' (1933) मे यशोधरा के साथ खडा होता है। यह दूसरी बात है कि ये दोनो ही अपने को लोकभावना के धरातल पर प्रिय प्रवास के 'राधा' से अधिक अपने को जोड नही सकी है। इनका विरही स्वरूप ही अधिक दिखलाई पडता है। **'रोना' भी महल के भीतर! काश, गुप्तजी इन्हें बाहर रुलाये होते, तो संभव था कि रूदन के कुछ भावों का परिष्कार हुआ होता।**

यह जरूर है कि जो आध्यात्म, पहले जाति (भारतेन्दु) फिर 'लोक' (द्विवेदीकाल) से जुडा, वह गुप्तजी के हाथो राष्ट्रीय भावो की अभिव्यक्ति मे सहायक हुआ। जो राष्ट्रीय भावना, भारतेन्दु के समय विदेशी शोषण से मुक्ति का प्रयास भर थी, वह 'गुप्त' के हाथो (भारत भारती -1912) अपने भीतर की ताकत को भी सर्जनात्मक ढग से चीन्हने लगी थी। यहाँ एक प्रकार से 'स्व-चेतनता' का भाव भी दिखायी पडता है। अध्यात्म यहाँ लोक से राष्ट्रीयता तक की यात्रा करता है क्योकि राष्ट्रीय निर्माण मे लोक मानस की ताकतवर व महत्वपूर्ण भूमिका की पहचान की जाने लगी। यही बाद मे निराला व प्रसाद मे विकसित होता है। लोक चेतना, यूँ यहाँ निर्माणकारी होने का सकेत छोडने लगती है। खुद 'साकेत' मे लोक-कल्याण, लोक-मन, लोक मत, लोक शिक्षण आदि का प्रचुर प्रयोग मिलता है।

बावजूद इसके गुप्तजी ही नही, आगे छायावाद के भीतर प्रसाद तक मे 'राष्ट्रीयता' की भावना को अतीत के गौरवशाली गान को आधार बनाकर ही अभिव्यक्त किया

है, जबकि एक मात्र 'निराला' ने राष्ट्रीयता को सीधे वर्तमान कालिक प्रसगो से जोडा है। यदि पीछे भी गये, तो सस्कृत शास्त्रो मे नही बल्कि तात्कालिक पृष्ठभूमि मे ही। राष्ट्रीयता के लिए भावना नही, जिस भाव की जरूरत थी, कामना नही, जिस कर्म की जरूरत थी वह निराला मे ही मिलता है। तब आचार्य शुक्ल की यह टिप्पणी, निराला के पहले कमोवेश सभी कवियो पर लागू होती है- "द्विवेदीकाल की देशभक्ति सबन्धी रचनाओ मे शासन पद्धति के प्रति असतोष तो व्यजित होता था, पर कर्म मे तत्पर कराने का आत्म त्याग,जोश और उत्साह न था। आदोलन भी कडी याचना के आगे न बढे थे"[57] भारतेन्दुकालीन काव्य मे, जैसाकि हम कह आये है, स्वदेश प्रेम व्यजित करने वाला भाव, प्रतिक्रियात्मक ही था।

तब इस स्थिति मे छायावाद का महत्व बढ जाता है। यहॉ आते आते शोषण से मुक्ति से अधिक स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की बात की जाने लगी जिसमे हर आदमी का समान अधिकार हो सके। एक प्रकार से अब शोषण से मुक्ति से अधिक शोषको से मुक्ति की बात की जाने लगी जिसके परिणामस्वरूप स्व-शासन की भावना जगी। इस स्व-शासन के परिणामस्वरूप ही स्वाधीनता की भावना 'मन और देह' दोनो से जा मिली। मन की स्वाधीनता ही *स्थानीयता, स्वाभिमान* और *स्वाभाविकता* की मॉग का कारण बनी (निराला मे)। देह की स्वाधीनता (मुक्ति) के लिए सत्ता के छद्म को एक तरफ उजागर किया गया तो दूसरी ओर स्व-शासन की स्थापना मे कर्म की तत्परता का भाव भी प्रत्यक्ष हुआ। यह सब निराला के काव्य मे सम्यक रूप से घटित होता है और 'लोकधर्म' यहाँ आते आते रक्षात्मक व रचनात्मक दोनो हो जाता है।

यही पर एक बात और भी महत्वपूर्ण है और यह भी निराला मे ही घटित होती है। हम भारतेन्दुकाल के विश्लेषण मे यह कह आये कि वहाँ नर-प्रकृत पर ही कवियो की दृष्टि अधिक रही, वाह्य प्रकृति पर कम ही। बाद मे द्विवेदी युग के कवियो ने

वाह्य प्रकृति पर नजर डाली जो छायावाद तक जारी रही। यह दूसरी बात है कि 'प्रकृति' वहाँ 'स्त्री' के सौन्दर्य के आरोपण रूप मे चित्रित की गयी। इस तरफ सकेत करते छायावाद के सदर्भ मे शुक्लजी ने लिखा है "सौन्दर्य की भावना सर्वत्र स्त्री का चित्र चिपकाकर करना खेल सा हो जाता है। उषा सुन्दरी के कपोलो की ललाई, रजनी के रत्नजडित केश कलाप, दीर्घ निश्वास और अश्रु बिदुता तो रूढ हो ही गये है, किरन, लहर, छाया, चद्रिका, तितली सी अप्सराये या परियॉ बनकर सामने आते है। इसी तरह प्रकृति के नाना व्यापार भी चुबन, आलिगन, मधुग्रहण, मधुदान, कामिनी की क्रीडा इत्यादि मे अधिकतर परिणत होते दिखायी देते है।[58] इस रूप मे प्रकृति के अपने नाना व्यापारो और वस्तुओ का अपना सौन्दर्य नष्ट होता जाता है। यही प्रवृत्ति गुप्त और हरिऔध मे भी दिखलाई पडती है। किन्तु श्रीधर पाठक जैसे स्वच्छद कवियो मे ऐसा कम होता है। वहाँ प्रकृति के नाना-व्यापारो की सहज अभिव्यक्ति मिलती है। आरोपण कम ही हुआ है। निराला का विकास भी इसी दिशा मे होता है जहाँ प्रकृति अपने नाना व्यापारो, कार्यकलापो मे आती है। उसका उग्र व सहज दोनो ही रूप मिलता है। इस रूप मे प्रकृति के जड जीवन को मुक्त कर उसके जीवत तत्वो का खुलासा करके निराला ने लोक-जीवन को व्यापक सार्थकता प्रदान की है। यहाँ नर प्रकृति और वाह्य प्रकृति दोनो का गतिशील क्रियाकलाप सहज देखा जा सकता है। लोकधर्मिता की लोक चेतना निराला मे यूँ अर्थ ग्रहण और अर्थ प्रसार पाती है। इसी कारण उनकी कविता मे मुक्ति का सघर्ष भी दिखलाई पडता है। इस रूप मे निराला ने प्रकृति को स्त्री-सुकुमारती से मुक्त करके उसे स्वतत्र व गौरवपूर्ण स्थान दिया है। छायावाद के लोकधर्मी स्वरूप की यही पृष्ठभूमि रही है।

हम यह कह सकते है कि **छायावाद** ने कविता को पवित्र परिवार के घेरे से मुक्त करके उसे खुले मैदान मे ला खडा किया जिससे इसके लोकधर्मी स्वरूप का

मूल्याकन काफी रोचक होता है। कविता के लोकधर्मिता की आतरिक यात्रा भारतेन्दु युग से आरम्भ होकर यहॉ तक अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति पा लेती है, जिससे उसका रक्षात्मक व रचनात्मक दोनो पक्ष स्पष्ट हो जाता है।

द्विवेदी काल के सदर्भ मे हम यह कह आये है कि श्रीधरपाठक जैसे कुछ कवि ही रहे जिन्होने खडी बोली मे कविता करते हुए भी, कविता को द्विवेदीकालीन पवित्र परिवार के बाहर निकालकर खुली प्रकृति मे ला खडा किया। यह एक प्रकार से उद्बोधनपरकता से मुक्ति का प्रयास है। उनकी कविता "एकातवासी योगी" इसका प्रमाण प्रस्तुत करती है जहॉं 'सीधी सादी खडी बोली मे अनुवाद करने के लिए ऐसी प्रेम कहानियॉ चुनना जिसकी मार्मिकता अपढ स्त्रियो के गीतो की मार्मिकता के मेल मे हो, पडितो की बढी हुई रूढि के बाहर निकलकर अनुभूति के स्वतन्त्र क्षेत्र मे आने की प्रवृत्ति का द्योतक है।'[59] इस रूप मे पाठक जी जैसे कवि ही छायावाद के लोकधर्मिता के प्रवर्तक माने जा सकते है। दरअसल इसकी प्रेरणा के पीछे परम्परा से चले आते लोकभावधारा के गीत ही माने जा सकते है जिनकी 'रचना' अभी गीतो मे सभव न हो सकी थी। चूँकि समय बदल रहा था, अत ये भी काव्य के आधार बनने लगे थे। भारतेन्दु मे यह प्रवृत्ति प्रच्छन्न अवस्था मे विद्यमान थी, किन्तु द्विवेदी युग की 'इतिवृत्तात्मकता' मे यह यह दब गई, क्योकि वहॉं 'अवधारणात्मक काव्य' (शिष्ट) का सृजन कुछ अधिक ही होने लगा। कविता एक ओर भाषा मे उलझी, तो दूसरी ओर भाव के स्तर पर 'परिवार' मे कैद हो गयी। यद्यपि कि विषय की लोकोन्मुखता की ओर श्रीधर पाठक जैसे लोगो ने ध्यान अवश्य दिया किन्तु मण्डली के बाहर होने से इनका बहुत महत्व न हो सका। छायावाद के निराला जैसे कवियो ने यहीं से रस ग्रहण किया। छायावाद की लोक विधायनी शक्ति का स्रोत इन्ही स्वच्छन्दतावादी कवियो मे ढूँढना चाहिए। यही आधुनिककाल के लोकधर्मी स्वरूप का सवाहक भी

है जिसमे लोक के उपयोग व निर्माण दोनो की भावना सन्निहित होती है। अतः हम यह कह सकते है कि जिस प्रकार से संस्कृत शास्त्रों की प्रियता ने आदिकाल की स्वच्छंद धारा को भक्तिकाल की आध्यात्मिकता प्रदान कर 'जड़' बना दिया, उसी प्रकार द्विवेदीकाल तक भारतेन्दुकालीन स्वच्छन्दधारा सस्कृतशास्त्रो के प्रभाव में परिवार में कैद हो गयी। किन्तु जिस तरह से आदिकालीन एक धारा भक्तिकाल के भीतर लगातार बहती रही और उसने भारतेन्दुकालीन लोक चेतना का निर्माण किया, उसी तरह से आधुनिककाल में भारतेन्दुकालीन एक धारा बहती रही थी जिसने छायावाद की लोक विधायी, लोक निमार्णकारी रचनात्मकता का निर्माण किया। किन्तु यहॉ यह भी कहना जरूरी है कि जिस प्रकार से उदात्तता की दृष्टि से भक्तिकालीन साहित्य का महत्व अक्षुण्ण है, उसी प्रकार से द्विवेदीकालीन साहित्य का भी।

तब यह समझना जरूरी होता है कि द्विवेदी मण्डल के बाहर जो धारा बह रही थी, वह ही लोक-चेतना के विकास मे सहायक हुई। उसमे ही जीवन की छोटी छोटी बाते और छोटे-छोटे जीवन की बडी-बडी बातो को सप्रेषित करने की सभावना शेष रही। इस धारा मे श्रीधर पाठक के अलावा राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', प0 नाथूराम शर्मा, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', लाला भगवानदीन, प0 रामनरेश त्रिपाठी, प0 रूप नारायण पाण्डे आदि थे। इसमे पाठक और त्रिपाठी जी ही प्रमुख रहे क्योकि इन कवियो की प्रमुख विशेषता ही यही रही कि वे किसी भी ऐतिहासिक वृत्त या पौराणिक कथानक मे आबद्ध न होकर, स्वतत्र रूप से नये-नये विषयो की ओर आकृष्ट होते थे। ये नर प्रकृति व वाह्य प्रकृति दोनो को एक साथ देखते थे। वाह्य प्रकृति मे रमने के कारण कल्पना का समावेश जमकर होता था जो आगे छायावादी प्रकृति विधान का प्रेरणा स्रोत बना। पाठकजी ने यदि एकातवासी योगी, श्रातपथिक जैसी कविताएँ दी

तो प0 रामनरेश त्रिपाठी ने मिलन (1918), पथिक (1921) और स्वप्न (1929) जैसे खण्ड काव्यो के माध्यम से नये नये विषयो की ओर ध्यान आकृष्ट किया। इसमे स्वप्न तो काफी महत्वपूर्ण है क्योकि इसमे ही लोक चेतना की वह विधायनी (लोक निर्माणकारी) शक्ति छिपी है, जिसपर बाद मे निराला अपना भवन खडा करते है। राष्ट्रीयता का क्रियमाण पक्ष, जीवन की विविधता, लोक का रचनात्मक स्वर आदि सभी कुछ यहॉ मिल जाते है। इसमे एक बसत नाम का युवक है जो अपनी प्रिया 'सुमना' के वियोग मे दुखी है। वह एक ओर तो प्रकृति के साहचर्य मे अपनी प्रेमिका का सानिध्य रखना चाहता है तो दूसरी ओर समाज के असख्य प्राणियो की पीडा भी उसे उद्धार के लिए पुकारती है। एक अजीब सा द्वन्द्व चलता है जिसमे 'जीवन' की विजय होती है। स्वय 'सुमना' उसे कर्मपथ पर अग्रसर होने को प्रेरित करती है- "सेवा है महिमा मनुष्य की, न कि अति उच्च विचार-द्रव्य बल"। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य को कामना नही 'कर्म' चाहिए। द्विवेदी कालीन 'उद्बोधनपरकता' से यह छुटकारा कितना प्रासगिक है। यह गौरतलब है कि इसके लिए इन कवियो को किसी ऐतिहासिक कथानको की जरूरत न पडी। अपने अथानक वे अपने ही 'समाज' चुनते है और उन्हे नया अर्थ प्रदान करते है। *यही है चरित्रो का लौकिकीकरण।*

यद्यपि कि छायावाद के निराला मे इन सबका सम्यक 'उन्मेष' देखा जा सकता है, किन्तु अन्य कवियो का सक्षेप मे मूल्याकन जरूरी होता है।

हम जानते है कि छायावाद मे रहस्यवाद व लोक चेतना के बीच एक प्रकार गैप बना रहा (निराला को छोडकर)। स्वय *जयशकर प्रसाद* इसके अपवाद न थे। नाटको के माध्यम से तो कुछ स्वतत्र कविताएँ लोक चेतना सपृक्त राष्ट्रीय उद्बोधन परकता से आप्लावित है, किन्तु काव्य मे उनका ध्यान इस ओर न गया। इसमे उनकी कल्पनात्मक उठाने निश्चय ही आडे आई जो और कुछ नही "जीवन के प्रेम विलासमय मधुर पक्ष

की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति" होने का परिणाम ही रहा है। प्रेम चर्चा के शारीरिक व्यापारो और चेष्टाओ (अश्रु, स्वेद, चुबन, परिरभण, लज्जा की दौडी हुई लाली), रगरेलियॉ, अठखेलियाँ, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जाती थी[60]। इन्ही मधुचर्याओ और रहस्यवाद के अतिरेक का परिणाम रहा है कि इनके प्रमुख काव्यो ऑसू, लहर, झरना और कामायनी तक मे लोक चेतना के पक्षो का कोई सकेत नही मिलता। दरअसल व्यक्तिवाद का परिणाम यही होता है, क्योकि यह काव्य मे एक ऐसे असीम को जन्म देता है जहॉ सामान्य जनजीवन लगभग विलुप्त सा हो जाता है। कवि को लगता तो है कि उसके सामने समूचा विश्व है किन्तु वह अपने ही पिण्ड मे कैद होता है। स्वय कामायनी की दार्शनिकता मे दृष्टि कही खो जाती है।

जहॉ तक पत की बात है, तो इनके आरभिक काव्यो मे छायावादी कल्पना की भावनात्मक (आतरिक) उठाने काफी मिलती है, जो और कुछ नही, छायावादी व्यक्तिवाद का प्रभाव ही है। उच्छवास से लेकर वीणा, ग्रथि, पल्लव (1926) और गुजन तक मे (1932) इसे देखा जा सकता है। यदि इसमे कही लोक मगल के भाव है भी, तो वे इसी आतरिक उठानो के शेड्स ही है। अपनी इसी उठान के कारण उनमे 'मूर्तिमती लाक्षणिकता' (शुक्लजी) के लक्षण भी मिलते है। पल्लव जो कि महत्वपूर्ण काव्यग्रथ है, उसकी बहुतेरी कविताओ मे प्रकृति के केवल सुदर, कोमल और मधुर भावो तक ही कवि की दृष्टि जाने पाई है और इसका एक प्रमुख कारण शायद यह है कि इसमे या कि इस इस समय की बहुतेरी कविताओ मे 'सबोधन' का भाव मिलता है जो 'आत्मीय सबोधन' न होकर 'आत्म सबोधन' ही है। जाहिर है, इसमे कवि प्रकृति के उसी रूप को देख सका है, जो उसे देखना है। मतलब कि एक सुन्दर स्त्री के भावो की विविधगामी प्रस्तुतियाँ। उसमे साधारण स्त्री की अनगढता, उसका

कर्म-रत-मन, फटे विवाई जैसी अभिव्यजनाएँ लगभग अनुपस्थित रही। स्त्री की सुकुमारिता जैसी प्रकृति भी सुकुमार लगती है। प्रकृति को उस जैसे देखने के लिए जिस आत्मीय सबोधन की जरूरत थी, वह पतजी मे अभी न आई थी। बाद मे युगात के बाद कुछ जरूर मिलती है। **इस कारण से प्रकृति के गतिशील चित्रों का आप में अभाव मिलता है। जाहिर बात है ऐसे कवि से लोक चेतना के संघर्षधर्मी पक्ष की अपेक्षा करना भी व्यर्थ है। यूँ इनका काव्य कौशल प्रकृति के हाल-चाल पूछने जैसा बन पड़ा है। वह भी उसी सीमा तक, जहाँ तक ये सहन कर सकते है!**

हाँ, यह जरूर है कि युगात (1937) तक आते पत के काव्य का स्वर बदलता है, जबकि निराला मे यह आरम्भ हो चुका था। यह युगात, युगवाणी से होता ग्राम्या (1940) तक मिलता है। बाद मे स्वर्ण किरण (1950), स्वर्णधूलि, अतिमा व वाणी मे भी आता है। युगात तक आते कविता 'आतरिक उठानो' की चाहदीवारी से बाहर उठती है। यहाँ कही परिवर्तन की प्रबल आकाक्षा है, कही श्रम जीवियो की दशा की झलक है, कही तर्क वितर्क छोडकर श्रद्धा विश्वास के साथ जीवन पक्ष पर साहस के साथ चलने की ललकार है।[61] इसमे पुरातन के नाश और नये के निर्माण का चित्रण एक साथ मिलता है। इसमे पतजी स्वय 'बौद्धिक अनास्था का अतिक्रमण' करते 'नये जीवन के मूल्यो के समोने' के प्रयास करते देखे जा सकते है। यह दोनो ही भाव कही कही एक ही कविता मे मिल जाता है पतझर गा कोकिल।

यूँ यह ठीक है कि 'युगात' मे कवि की लोक चेतना का भाव मुखर रूप से मिलता है किन्तु यह भी सत्य है कि 'प्रकृति' के विविधगामी मगलमय प्रस्तुतियो के माध्यम से ही लोक भावना का सचार होता दीखता है। 'कर्म' मे तत्परता के लिए जिस मानवीय आवेग और उद्रेक की जरूरत होती है, वह अभी तक न आने पाई

थी। मगल के साथ अमगल का सघर्ष, प्रकृति की कोख मे ही घटित होता है, न कि सामान्य व्यक्ति चरित्र के भीतर। अत वाह्य प्रकृति के विविधगामी गतिशील चित्रो की ओर ध्यान तो गया, किन्तु नर प्रकृति का सघर्षधर्मी कर्मरत रूप गौण हो गया। जहॉ कही नर प्रकृति के इस रूप की तरफ कवि का ध्यान गया है, वहॉ केवल 'यथा तथ्य चित्रण' ही उभरता है। कामना है तो जीर्णपत्रो के झरने की। चित्रण है तो बॉसो के झुरपुट का ही। दरअसल सच बात तो यह है कि चरित्रो के कर्मशील विकास की ओर कवि का ध्यान बहुत नही जाने का कारण शायद यही है कि उनकी 'गेय कविता' (निराला जैसी मुक्त नही) के भीतर इसकी सभावना भी नही थी। चरित्रो के लौकिकीकरणके लिए जिस छदबद्धता से बाहर आने की जरूरत थी, उसका आपमे अभाव था। युगवाणी व ग्राम्या मे इसकी कोशिश अवश्य ही की गयी, किन्तु 'यथातथ्यता' के वातावरण की मुखरता के कारण अधिक से अधिक लोकाभिव्यक्ति ही हो सकी, लोक-निर्माण कम ही हुआ। खुद 'ग्राम्या' मे सकलित वह 'बुड्ढा' कविता (1940) मे इसे देखा जा सकता है जिसमे एक 'गरीब बुड्ढे' की यथातथ्य दारुण चित्रण भर मिलता है जो निराला काफी पहले 'भिक्षुक' मे व्यक्त कर आये थे। इस कविता मे 'कर्म-रत-मन' की अनुपस्थिति बहुत खलती है जो 'तोडती पत्थर' के निराला मे है। इसी प्रकार 'ग्राम्या' मे और भी कविताएँ है- मसलन मजदूरनी के प्रति, वे ऑखे आदि जिनमे 'निर्लिप्त भावुकता' ही दिखायी पडती है।

आगे के काव्य मे पतजी, इसमे परिमार्जन की बात कौन कहे, वे एक 'कल्पित आदर्श' की ओर मुड जाते है। यह स्वर्ण किरण, स्वर्णधूलि का स्वर है जहाँ कर्म की रचनात्मकता की बात तो नही, हाँ कामना का आदर्शवादी रुझान अवश्य मिलता है। अत. लोक जीवन भी कवि के भावनात्मक उठानो के अनुरूप फैल जाता है। दरअसल पत का छायावादी व्यक्तिवाद, जब समाजोन्मुखी होता है, तो तुरत की आदर्शात्मक

(समरसता) हो जाता है। निराला की उत्कटता, उदग्रता और उद्वेग इनमे कही नही मिलता जो उन्मेष (उठान नही) के लिए जरूरी होता है। इस रूप मे पतजी मे आद्योपात उठाने ही मिलती है। उन्मेष तो ढूँढने पर ही मिलता है। लोकधर्मिता का सच्चा उन्मेष तो निराला मे ही मिलता है। जहॉ लोक धर्म किसी आदर्शवादी सुखमय व्यवस्था से सचालित न होकर उपलब्ध सामर्थ्य व साधनो के बीच लोक-निर्माण के भाव को सचारित करता है।

अब जहॉ तक *महादेवी वर्मा* की बात है तो उनमे एकातप्रियता की काल्पनिक उडाने ही अधिक है। अत उनमे लोक निर्माण के स्वर को ढूँढना अनावश्यक 'बुद्धि चातुर्य' दिखाना है।

छायावाद का सच्चा लोक सौन्दर्य तो *महाकवि निराला जी* मे ही मिलता है जिनमे लोक चेतना एक ओर जहॉ अपने आतरिक ताकत (सघर्ष, कर्मरत) को पहचानती है तो दूसरी ओर अपनी परम्परा से भी जुडती है। कविता के लोकधर्मी स्वरूप का आपमे उन्मेष दीखता है। वह लोक धर्म जो आदिकाल से होता चला आया था, निरालाजी मे आधुनिक सन्दर्भो मे अपनी पूर्णता को, अपनी निजता मे, प्राप्त करता है। इनका काव्य लोक सौन्दर्य के विविध सन्दर्भो से परिपूर्ण है। लोक जीवन को लेकर कविता मे क्रियमाणता की जितनी भी सभावनाएँ हो सकती है, निराला मे मिल जाती है। निराला के हाथो ही लोकधर्म सघर्ष धर्मी बना, कर्म-रत हुआ, रक्षात्मक व रचनात्मक हुआ, परिवारवाद के घेरे से मुक्त हुआ, चरित्रो का लौकिकीकरण हुआ और प्रकृति की स्वतत्र सत्ता से सपृक्त हुआ। इसके अलावा और भी न जाने कितनी विशेषताएँ है जो निराला के काव्य मे मिल जाती है।

ऐसा इसलिए होता है, क्योकि आधुनिक काल मे निराला सौन्दर्य की तयशुदा निगाहो का अतिक्रमण करते है। उनकी सौन्दर्य दृष्टि कभी भी तैयार माल बेचकर

मुनाफा कमाने के पक्ष मे न थी। इनमे धरती और उसके रूप रग को मानवीय उपस्थिति के सन्दर्भ मे समझने की लगन है। इसके चलते उनकी कविता मे लोक की व्यापकता, सहजता और खुलापन तो आया ही, वस्तु धर्मिता भी बढी है। प्रेमचन्द व रेणु की तरह उनकी रचनात्मक सवेदना की जडे उसी लोक मे है जिस तरह अज्ञेय व जैनेन्द्र की नगरीक मध्यवर्ग मे। इस रूप मे निराला का सौन्दर्यबोध सम्पूर्णता का बोध है। इसी को रेखाकित करते पटना के भाषण मे त्रिलोचन ने कहा था- "पेड के फूल की सुन्दरता जड सहित पेड मे है। सौन्दर्य अखण्ड होता है। पक्ति रेखाकित करने वाली कविता उत्तम नही होती। निराला मे यह सौन्दर्य इसी रूप मे अखण्ड है।"

निराला की कविता का लोकधर्मी स्वरूप हमारे अध्ययन का चूँकि यह एक स्वतन्त्र विषय है। अत उसे अलग से प्रस्तुत किया जा चुका है।

दरअसल निराला तक आते आते आदिकाल से चला आता 'लोकधर्म' अपने को तात्कालिक दबावो मे बदलता है और ऐसा होना बदली परिस्थितियो मे लाजमी भी है। लोकधर्म अब अपने अनुष्ठान, रूढि, लोकाचार आदि से मुक्त होता है क्योकि ग्रामीण जन जीवन भी आधुनिकता के प्रभाव मे बदलता जाता है। इससे लोकधर्म की पुरानी सघर्ष धर्मी चेतना तो बची रहती है, किन्तु इसके स्थूल रूप जाते रहे। उसका अभाव यहाँ तक आते आते 'प्रकृति' पूरा करने लगती है, जो लोक जीवन को गतिशील बनाने के काम आती है, जिससे प्रकृति की स्वतत्र सत्ता की बात भी दिखायी देने लगी। यही से लोकधर्म, लोक सौन्दर्य (लोक जीवन के विविध प्रभाव) का रूप लेता है। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि स्वतत्र भारत की हिन्दी कविता तक आते आते लोक सौन्दर्य का यह प्रकृति पक्ष भी अपने को बदल देता है और अब प्रकृति हिन्दी कविता मे कम आती है क्योकि शहरीकरण के बढते प्रभाव के कारण शहर का सामान्य व उपेक्षित जीवन अपनी पूरी विषगतियो मे उभरने लगता

है। अब का लोक सौन्दर्य जन सामान्य के जीवन की विषमताओ से गहरे सपृक्त होता है और चूँकि लोक सौन्दर्य और कुछ नही, लोक जीवन का विविधगामी प्रभाव ही है, अत साठोत्तरी हिन्दी कविता मे यही हमारे विश्लेषण का मुख्य विषय हो जाता है। *यहॉ तक आते आते कविता मे लोक जीवन को लेकर तीखा क्षय बोध (Sense of loss) मिलता है जो लोक सौन्दर्य के एक महत्वपूर्ण कारक के रूप मे सामने आता है।* व्यक्ति, प्रकृति, कुल मिलाकर जीवन इसी रूप मे साठोत्तरी कविता मे दिखायी पडता है जिसका सकेत 'निराला' की एक कविता 'ठूँठ' मे भी मिल जाता है।

यूँ तो छायावाद मे यदि निराला को 'लोक सौन्दर्य' के महत्वपूर्ण कवि के रूप मे माना जाय, तब तो *'प्रगतिवाद'* का अलग से विश्लेषण करना कठिन हो जाता है, क्योकि 'लोकधर्म' की प्रगतिवाद कालीन विशेषताएँ निराला मे अतर्भुक्त है फिर भी नागार्जुन, त्रिलोचन और केदार नाथ अग्रवाल की कविताओ के सन्दर्भ मे इसका मूल्याकन जरूरी होता है।

अपने इस लेख के आरम्भ मे मैने इसका जिक्र किया है कि 'प्रगतिवाद' मे निराला का सर्वतोन्मुखी सघर्ष थोडा ठहर जाता है, जो शास्त्र सवलित होकर (मार्क्सवाद) एक रीति को जन्म देता है, जहाँ व्यक्ति से अधिक व्यवस्था पर बल दिया जाता है, जिससे कविता मे राजनैतिक आशय अधिक दीखने लगते है। जिस कारण से इसका लोकधर्म अपने आतरिक गतिशील तत्वो को पकडने के बजाय, प्रतिक्रियाजन्य होकर, व्यवस्था विरोधी हो जाता है। मतलब यह कि केवल रक्षात्मक (इसके अपवाद भी है)। इसी कारण यह निराला की परम्परा को आगे बढा नही पाता। अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' मे आचार्य शुक्ल ने इसी का सकेत करते लिखा है कि "हमारी भाव प्रवर्तिनी शक्ति का असली भण्डार इसी (जनता के हृदय) की स्वाभाविक भावधारा के भीतर समझना चाहिए" किन्तु आगाह करते है कि इस दृष्टि के आधार पर काव्य का पुनर्विधान

सामजस्य के रूप मे करना चाहिए, न कि अध प्रतिक्रिया के रूप मे, क्योकि अध प्रतिक्रिया के रूप मे किया गया पुनर्विधान विपरीतता के हद तक जा पहुँचता है।[62] इसमे अध प्रतिक्रिया शब्द बडा ही महत्वपूर्ण है, क्योकि प्रगतिवाद का सारा काव्य लोकधर्मी होने का बावजूद अध प्रतिक्रिया जन्य है। काव्य के लिए जिस तटस्थता और तन्मयता की जरूरत थी वह इन कवियो मे न आने पायी थी। (साठोत्तरी हिन्दी कविता मे यह जरूर प्रतिक्रिया से मुक्त हुई और केन्द्र मे आई)।

दरअसल प्रगतिवाद का आन्दोलन उत्तेजक रहा, जिसमे सयम नही था। इसी अधीरता का परिणाम रहा कि जटिल रूप उसकी पकड के बाहर हो गये (बाद मे इसका अवशेष धूमिल मे मिलता है) जहाँ 'सत्ता' के प्रति विद्रोही चेतना तो है, किन्तु लोक जीवन के आतरिक शक्तियो की गहराई तक इनकी दृष्टि न जाने पायी। 'सत्ता' के भीतरी मर्म पर न तो ये प्रहार कर सके और न ही लोक सौन्दर्य के मर्म की पहचान करा सके। इसी कारण 'चरित्र' भी वर्ग बद्ध होकर आते है जिससे चरित्रो के लौकिकीकरण का जो कार्य निराला ने किया था, वह आगे बढ न सका। यह अकारण नही है कि धोबी, किसान, पासी, अध्यापक एक वर्ग चरित के रूप ही है। यूँ यह लोकधर्मी तो रहा, किन्तु जहाँ इसे निराला ने पहुँचाया था, कुछ एक अपवादो को छोडकर उसे आगे बढा न सका।

प्रगतिवादी कवियो मे एक विचित्र बात 'स्मृति' को लेकर आती है, जहाँ 'गाँव', लोक जीवन एक प्रकार की 'स्मृति' के रूप मे आते है। यूँ यह "गाँव मे शहर का हस्तक्षेप या गाँव का शहर की ओर बढता आवेग" दोनो का परिणाम भी हो सकता है और होना ही चाहिए। किन्तु इसके परिणाम और उसके विकल्प के भाव न आकर, सिर्फ लोक जीवन, लोक स्मृति के रूप मे आता है, जिससे लोक धर्म की रचनात्मक व्याकुलता के भाव दिखाई नही पडते। चाहे वह नागार्जुन की कविता "सिदूर तिलकित

भाल (1943) हो या 'पछाड दिया मेरे आस्तिक ने' (1964) की कविता हो, चाहे त्रिलोचन की, 'धूप सुदर, धूप मे जग रूप सुदर', कविता हो, लोक जीवन की यादे तो बहुत आती है। इनमे एक प्रकार की बैचेनी भी होती है, किन्तु उन्हे पाने का उपक्रम कम ही मिलता है। दूसरी बात यह भी कि कठिन जीवन सघर्ष की यत्रणादायी स्थितियो मे सघर्ष को तीव्रता देने की बजाय, प्राय इन कवियो को ऐसे अवसरो पर लोक सदर्भो मे 'प्रिया' की याद आया करती है। इस रूप मे 'प्रिया' ही उनके सबल का कारण होती है निराला वाला सदर्भ 'नयनो का नयनो से गोपन, प्रिय सभाषण"। किन्तु प्रेम का यह लोकधर्मी स्वरूप उन कवियो मे किसी सघर्ष का भाव नही जगा पाता। यह उन्हे कर्म-पथ पर अग्रसर करते हुए, बदलते लोक जीवन के आतरिक तत्वो को पहचानने मे कोई मदद नही करता। स्वय केदार बाबू की कविता जो कि 'अनहारी हरियाली' मे सकलित है। "आज दिखी फिर मुझे गिलहरी' को देखा जा सकता है, जहॉ गिलहरी (प्राकृतिक कार्यव्यापारो) के उछल कूद के बीच पिया की याद आ जाती है। **दरअसल इसका एक सबल पक्ष यह तो रहा ही है कि प्राकृतिक कार्य व्यापारों के बीच प्रिया की याद आने से इन कवियो मे जीने के प्रति अक्षुण्ण अनुराग बना रहा और यह कम बड़ी उपलब्धि नहीं है क्योंकि यह रीतिकालीन संस्कारों के बिल्कुल विपरीत है जहॉ प्रिया के कार्यव्यापारो के बीच ही प्रकृति के रूप दिखलाई पड़ते है।**

इन सबके बावजूद यह बात अवश्य है कि भाषाई सस्कृत निष्ठता से दूर विशुद्ध हिन्दी भाषा मे लिखा जानेवाला यही काव्य है जिसने पुराने तत्सम बहुल भाव व भाषा से मुक्ति दिलाई। जन-जीवन से जुडे कवि और काव्य सच्चे अर्थो मे वही मिलता है जहाँ तात्कालिक जीवन सदर्भो को केन्द्र मे रखा गया। इनमे व्यक्ति व रचना मे कोई फाँक नही मिलती। जैसा देखा वैसा लिखा। जैसा जीया, वैसा कहा। अत

एक प्रकार की अनगढता भी इनमे मिलती है, जो लोकधर्मी कविता की अतिरिक्त विशेषता होती है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि इनके पहले की कविता मे पाया जाने वाला 'लोक', अपने पारपरिक परिवेश के साथ मिलता है, किन्तु इनके यहाँ नितात समकालीन लोक ही मिलता है। इस रूप मे परम्परा के आग्रह से लोक की मुक्ति मे ही इन कवियो ने लोकधर्मी काव्य की चिता की (ऐसा मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण हुआ जान पडता है)। यह दूसरी बात है कि यही प्रवृत्ति इनके लिए घातक बनी क्योकि 'लोक' का रूप घटना प्रधान होकर 'स्थूल' हो गया, जिसके विरुद्ध साठोत्तरी कवियो ने बाद मे विद्रोह किया। 'लोक' का 'गतिशील पक्ष' इनसे छूट गया। प्रगतिवाद ने कविता की 'वस्तु' तो लोक से ही ली, किन्तु 'लोक' की अवधारणा को उस पर आरोपित करके आरम्भ मे ही इसे निष्कर्षमूलक बना डाला। समूची प्रगतिवाद की कविता इसी 'निष्कर्षमूलकता' के कारण सरलीकरण का का शिकार होती दिखलाई पडती है। इस प्रकार से यह एक प्रकार के "आरोपित लोकवाद" का शिकार होती गयी है, जो बहुत दूरगामी न हुआ। इस समय मे प्राय ही लोक से ली गई 'वस्तु' को सर्वहारा के खाँचे मे फिट किया गया जिस कारण से इस समय की अधिसख्य कविताएँ हिन्दी कविता की लोकधर्मी परम्परा मे 'मिसफिट' (ध्यान दे 'अनफिट' नही) सी जान पडती है।

बावजूद इनके यह तो कहा ही जा सकता है कि [illegible] जहाँ तक बौद्धिक और कलात्मक उठानो की बातें है, ये कविताएँ कमजोर कविताएँ है, किन्तु यह यह भी सत्य है कि ये ही वे कविताएँ है, जो जीवन का सच बतलाती है।

प्रगतिवाद से आगे बढकर जब हम *प्रयोगवाद व नयी कविता* मे प्रवेश करते है, तब रचना व रचनाकार दोनो ही धरातल पर एक भिन्न परिवेश व मानसिकता को

पाते है। काल क्रम के अनुसार तो प्रयोगवाद अभी भी परतत्र भारत की कविता कहा जायेगा, किन्तु थोडी देर के लिए यदि इसे स्वतत्र भारत की हिन्दी कविता के रूप मे देखे, तो इसका सम्बन्ध सहज ही नयी कविता से जुड जाता है।

दरअसल प्रगतिवाद तक तो गनीमत रही, किन्तु जब हम प्रयोगवाद मे घुसते है, तब कवि का 'व्यक्तित्व' कविता मे खुलकर सामने आता है अर्थात् कविता मे व्यक्तिगत वैशिष्टय का प्रचुर समावेश होता है। इस कारण से कविता 'कला' से जुडकर कुछ कुछ रीतिकालीन मानसिकता मे अटक सी जाती है। ऐसा होता ही इसीलिए है क्योकि इस समय के कवि एक 'खाते-पीते' घर से आते है जिनके लिए व्यक्तित्व का विलयन जैसा भाव अभी नही था। था तो 'व्यक्तित्व का प्रक्षेपण' जिसने कविता मे कई प्रकार की 'कलाबाजी' दिखाई देने लगी। यह कलाबाजी, हवाबाजी के रूप मे ही रही, जिससे न तो यहॉ अपनी जमीन के प्रति ही कोई आकर्षण रहा और न ही परम्परा से चली आती कविता के लोकधर्मी स्वरूप से ही। जहॉ कही ये कवि जमीन पर आते भी है, वहॉ तुरत ही धूल झाडकर पुन हवा मे तैरने लगते है। यूँ लोक सन्दर्भ इनके लिए 'उछाल' का कार्य करते है (अज्ञेय)। जिस कारण से यह बहुत दिन तक न चल सका और इसकी कोख से नयी कविता ने जन्म लिया। इस नयी कविता से सारे कवि प्रयोगवादी थे, जो यहॉ तक (1950) आते आते जमीन पर उतरने लगे थे। चूँकि 'व्यक्तित्व व जीवन को लेकर लिखे जाने वाला कृतित्व' के बीच सामजस्य बैठा पाना इनके लिए भी कठिन हो रहा था, जिससे इस 'नयी कविता' मे व्यक्तित्व को लेकर एक प्रकार की उहापोह दिखायी पडती है। आगे के कवि ने (साठोत्तरी) इसी उहापोह से मुक्ति का प्रयास किया, जिसके केन्द्र बने मुक्तिबोध। **अत: हम कह सकते है कि प्रयोगवाद से आरम्भ हुए स्वतन्त्र भारत की समूची हिन्दी कविता व्यक्तित्व के सरलीकरण की कविता रही है, क्योकि व्यक्तित्व व कृतित्व के**

बीच जो फॉक नयी कविता मे दिखलाई पडती है, 60 के बाद वह कम होती गयी है। यह भी गौरतलब है कि जैसे जैसे यह फॉक कम होती गयी है, कविता लोकधर्मी होकर लोक सौन्दर्य से सपृक्त होती गयी है।

साठोत्तरी हिन्दी कविता का मूल्याकन हम इसी परिप्रेक्ष्य मे कर सकते है, क्योकि अब का कवि थोडा भिन्न परिवेश का कवि होता है। जरूरी नही कि वह लोक चेतना सम्पन्न कवि हो और लोक जीवन से गहरे सम्पृक्त भी हो। सभव है वह लोक जीवन से विस्थापित हो और ऐसा है भी। इसी कारण नयी कविता से आरम्भ हुए इस समय की कविता मे लोक जीवन, एक तो स्मृति के रूप मे भी आता है, *दूसरा* कि उसमे sense of loss भी होता है। *तीसरा* शहरीकरण से पैदा हुआ आतरिक विस्थापन भी होता है। *चौथा* प्रकृति के गतिशील तत्वो की जगह कवियो की नजर व्यवस्था के नाजुक पक्षों की ओर रहती है। *पॉचवा* सघर्ष धर्मी चेतना का समावेश होता है। *छठवॉ* लोक चरित्रो के विविध रूप दिखलाई पडते है और सातवॉ यह भी कि कही कही अनगढता के लक्षण भी मिलते है। इसके अलावा और भी बहुत सारी विशेषताऍ है, जिनसे साठोत्तरी हिन्दी कविता के रुझान का पता चलता है। यही कारण है कि निराला, इन सभी कवियो के केन्द्र मे है, क्योकि लोक जीवन के सौन्दर्य की जो विशेषताएँ निराला मे मिलती है, उन्ही सबका यहाँ पूर्ण विकास होता जान पडता है। साठोत्तरी कविता की इन प्रवृत्तियो का मूल्याकन अलग से किया जा रहा है।

इस पृष्ठभूमि मे यदि *'नयी कविता के लोकधर्मी स्वरूप'* का मूल्याकन किया जाय, तो बात थोडी आसान हो जाती है। हम यह पहले कह आये है कि 'नयी कविता' एक भिन्न परिवेश व मानसिकता की उपज है। देश स्वतन्त्र हुआ था, जिससे यह भी कह सकते है कविता 'उत्साह व अवसाद' दोनो की कविता है। यह एक प्रकार से स्वतत्र भारत की कविता का आदिकाल ही रहा है और इस रूप मे इसमे

भारतेन्दुकाल और हिन्दी साहित्य का आदिकाल जैसी वैविध्यगामी प्रवृत्तियो का लक्षण भी मिलता है। नयी कविता की कई वैविध्यपरक प्रवृत्तियो मे ही इसकी लोकधर्मी चेतना की प्रवृत्ति भी मौजूद है। इसमे राजनैतिक चेतना है, तो मध्यवर्गीय मानसिकता भी। एक ओर लोक धर्मिता है, तो दूसरी ओर आभिजात्यता भी।

नयी कविता ने अपने पूर्व की सारी प्रवृत्तियो को लगभग आत्मसात किया है। एक ओर इसने 'रूप' का रूपातरण 'वस्तु' मे करके अपने को 'प्रयोगवाद' से जोडा। *दूसरी* ओर 'सत्ता' का प्रतिपक्ष रचकर, सत्ता पर प्रहार करके 'प्रगतिवाद' से जोडा। लोकजीवन की आतरिक शक्ति को पहचानकर उसे कर्म भाव व सघर्ष धर्मी बनाकर अपने को 'छायावाद' से जोडा। भाषाई शुद्धता पर बल देकर उसमे तनाव, विषगति, विडबना का समावेश कराकर 'द्विवेदीकाल' से अपना सम्बन्ध भी बनाये रखा और खुद लोक जीवन के तमाम पक्षो को काव्य का विषय बनाकर अपने को 'भारतेन्दुकाल' से भी जोड लिया। शायद यही कारण है कि रघुवीर सहाय को कहना पडा "हम तो सारा का सारा लेगे जीवन। कम से कम वाली बात हमसे मत कीजिए।" (हमने यह देखा 1952)

तब जिस काव्य मे इतना सारा वैविध्य हो, उसे आगे के साहित्य को प्रभावित तो करना ही था। साठोत्तरी कविता को नयी कविता की लोकधर्मिता ने गहरे प्रभावित किया है।

संदर्भ सूची

1. डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी - 'मध्यकालीन हिन्दी काव्य भाषा' - पृ0 27।
2. डा0 सत्येन्द्र - मध्यकालीन हिन्दी कविता का लोक तात्विक अध्ययन - पृ0 50।
3. डा0 नामवर सिंह - हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान - पृ0 244।
4. उप0।
5. उप0।
6. डा0 रामचंद्र तिवारी - हिन्दी कलम - 3 में संकलित लेख 'हिन्दी साहित्य के काल विभाजन व नामकरण की समस्या'।
7. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका'।
8. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव व विकास।
9. डा0 सत्येन्द्र - मध्यकालीन हिन्दी कविता का लोकतात्विक अध्ययन - विनोद पुस्तक मंदिर आगरा - 1960।
10. उप0।
11. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' - पृ0 55।
12. उप0।
13. उप0।
14. उप0।
15. डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - 'हिन्दी साहित्य - उद्भव व विकास' - पृ0 63।
16. डा0 राम विलास शर्मा - लोक जागरण व हिन्दी साहित्य - पृ0 27।

17 डा0 शिव कुमार मिश्र - भक्तिकाव्य और लोक जीवन।

18 आचार्य शुक्ल - त्रिवेणी - सूरदास।

19 आचार्य शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास।

20 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास पृ0 131।

21 उप0।

22 उप0।

23 डा0 नामवर सिह - दूसरी परम्परा की खोज।

24 आचार्य द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास।

25 आचार्य शुक्ल - रस मीमासा - पृ0 37।

26 आचार्य द्विवेदी - हिन्दी साहित्य की भूमिका - पृ0 103।

27 डा0 नगेन्द्र -रीतिकाव्य की भूमिका।

28 आचार्य शुक्ल - 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'।

29 डा0 राम कुमार वर्मा - रीतिकाल का पुनर्मूल्याकन - साहित्य भवन, इलाहाबाद।

30 अज्ञेय - हिन्दी काव्य - एक आधुनिक परिदृश्य।

31 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव व विकास।

32 उप0 - पृ 0 158।

33 उप0 - पृ0 161।

34 डा0 बच्चन सिह - रीतिकालीन कवियो की प्रेमव्यजना।

35 आचार्य द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास।

36 उप0।

37 उप0।

38 आचार्य शुक्ल - 'इतिहास' - पृ0 139।

39 डा0 सत्य प्रकाश मिश्र - रीतिकाव्य प्रकृति एव स्वरूप - 1973।

40 डा0 जगदीश गुप्त - रीतिकाव्य।

41 डा0 मैनेजर पाण्डे - शब्द और कर्म।

42 डा0 किशोरी लाल - 'रीतिकवियो की मौलिक देन'।

43 डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी - 'हिन्दी साहित्य व सवेदना का विकास'।

44 आचार्य शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास।

45 उप0।

46 डा0 चतुर्वेदी हिन्दी साहित्य व सवेदना का विकास - पृ0 108।

47 डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव व विकास।

48 डा0 राम विलास शर्मा - भारतेन्दु हरिश्चन्द्र व हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ।

49 उप0 - 87।

50 उप0 - 87।

51 उप0 - 106।

52 आचार्य शुक्ल 'इतिहास' पृ0 320।

53 हेमत शर्मा - भारतेन्दु समग्र।

54 डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य उद्भव व विकास।

55 उप0।

56 डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी - हिन्दी साहित्य व सवेदना का विकास - पृ0 113।

57 आचार्य शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ0 350।

58 आचार्य शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ0 365।

59 उप0 - 328।

60 उप0 - 367।

61 उप0 - 382।

62 उप0 - 382।

अध्याय -3

साठोत्तरी हिन्दी कविता का स्वरूप

1- साठोत्तरी कविता की अवधारणा-

यह महज सयोग नही है कि साठोत्तरी हिन्दी कविता के कवि अपना निकटतम प्रेरक 'निराला' को और उसके पहले 'कबीर' को मानते है। *डा0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी* ठीक लिखते है कि 'साठ के बाद की हिन्दी कविता नवीन अभिरुचि, सौन्दर्यबोध और नये सवेदन की कविता रही है' और आगे लिखते है कि 'यह आकस्मिक नही कि साठोत्तर कवि भी अपना सम्बन्ध निराला से और उसके पहले कबीर से जोडते है।[1] दरअसल, इस समय की कविता की मानसिकता ही कुछ ऐसी रही है कि वरिष्ठ या कनिष्ठ सभी कवियो के निराला केन्द्रीय स्रोत के रूप मे काम करते है और इसके पीछे 1961 मे उनकी मृत्यु को माना जा सकता है, क्योकि जैसाकि हिन्दी साहित्य मे होता, मृत्यु के बाद की उदासी मे बडे रचनाकारो की ध्वनियाँ सुनायी पडती है। विचित्र था यह समय जहाँ निराला के साथ 1964 मे मुक्तिबोध की मृत्यु होती है और उसी समय (1964) नेहरूजी की। इस तरह से कहा जा सकता है कि **साठोत्तरी हिन्दी कविता का जन्म ही कुछ कुछ मृत्यु की कोख से हुआ है जिसपर बड़े रचनाकारों, बड़ी प्रतिभाओ की छाया का प्रभाव रहा है।** जिस घर मे एक साथ इतने बडे व्यक्तियो का मातम मनाया जाता रहा हो, उसमे दो तरह की प्रवृत्तियो का उदय हो जाना स्वाभाविक ही है। एक प्रवृत्ति, जैसा कि होता है, अराजकता की होती है, जिसमे आदमी लगभग थेथर होने की हद तक बेशर्म हो जाता है और ऐसे लोग भावुक तो होते है, लेकिन अत्यन्त ही कमजोर। उनकी स्थिति लगभग पागलो

जैसी होती है, जिसमे भीतर से तो भावो से भरे होते है लेकिन बाहर से अनियत्रित हो जाते है। यह एक प्रकार के 'नियतिवाद' की दिशा होती है। जिसमे आदमी अपना कार्य जहॉ एक ओर बद कर देता है वही दूसरी ओर औरो को कार्य करते देख उनका मजाक भी उडाता चलता है और 'उपहास' करना एक प्रकार की 'प्रवृत्ति' बन जाती है, जिसमे सोचता तो वस्तुत यह है कि वह औरो का मजाक उडा रहा है, जबकि वह निरतर इस वृत्ति का शिकार होता रहता है और इसका अत बहुत शीघ्र होता है जो नशे मे चूर आदमी की तरह लडखडाता हुआ एक दिन गिर पडता है और धराशायी होता है। कहना न होगा कि 'अकविता' इसकी ही उपज रही है।

दूसरी प्रवृत्ति सयम व धीरज की होती है, जिसमे मृत्यु भयकारी न होकर प्रेरक होती है। एक प्रकार से वह गुजरे व्यक्तियो के मूल्यो का मथन करती है और यह देखने की कोशिश करती है कि उन्हे कैसे जिलाया जाय। ऐसे लोग बच्चो को उस दिशा मे तैयार करते है और स्वय प्रेरक होकर महान विभूतियो के विचार प्रवाह का माध्यम बनते है। कहना न होगा कि यह साठोत्तरी हिन्दी कविता की लोकधर्मी चेतना रही है जिसमे बडे व्यक्तियो की भूमिका प्रगतिशील आदोलन के दौर के कवि नागार्जुन, त्रिलोचन व केदार नाथ अग्रवाल निभा रहे थे, जिन्होने रोने, बिलखने की जगह नयी पीढी के बच्चो को (जिसमे केदारनाथ सिह प्रमुख हैं) (जी हाँ, तब ये बच्चे ही थे) उन मूल्यो को प्राप्त करने का रास्ता दिखाया जिनका खालीपन स्पष्ट दीख रहा था। इसके लिए इन लोगो ने जहाँ स्वय उस ढग की कविताएँ लिखी, वही नये लोगो को इस ओर प्रेरित भी किया। शायद यही कारण है कि साठोत्तरी हिन्दी कविता के माध्यम से ये पुन पहचाने गये, क्योकि ये निराला, मुक्तिबोध व नयी पीढी के बीच एक पुल का कार्य कर रहे थे। (पिछले अध्याय मे हमने प्रगतिशील तीनो कवियो मे लोक सौन्दर्य का विश्लेषण किया है)

इस तरह हम देखते है कि साठोत्तरी हिन्दी कविता मृत्यु की इन्ही परिस्थितियो की उपज रही है। स्वय भारत भूषण अग्रवाल ने लिखा है कि 'हिन्दी कविता की वह धारा जो निराला की बाद की कविताओ मे स्पष्ट हुई और जिसने 'तार सप्तक' के माध्यम से अपनी स्पष्ट छाप छोडी, पिछले दो दशको से क्रमश प्रबल व्यक्तिवाद और मधुर लयात्मकता को समर्पित होती चली गई[2] और ऐसे समय मे मुक्तिबोध ने कविता मे हस्तक्षेप किया था। स्वय उनकी कविताये इसका प्रमाण है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि साठ के दशक का समय इस प्रकार की मृत्यु परक स्थितियो से एक प्रकार का बदला हुआ समय रहा है। जहाॅ यह समय राजनैतिक व आर्थिक ढाॅचे के चरमराने, नई सामाजिक व्यवस्था की अपेक्षाओ, विखण्डित मूल्य दृष्टि से जुडा हुआ है, वही साहित्य मे सर्वथा एक नयी पीढी का आविर्भाव भी हुआ है जिससे नये भावबोध का पता चलता है। यहाँ से हिन्दी कविता अपनी जडो की तलाश करने लगी, क्योकि उसके सामने समूचा हिन्दी साहित्य था। इस तरह से यह कविता एक प्रकार के समूचेपन (और समूहबोध) के अतिशय आत्मविश्वास को भी प्रतिफलित करती है, जिस कारण से कही कही उत्साह का अतिरेक भी दिखायी पडता है।

अब यदि साठोत्तरी कविता का विश्लेषण हम समग्रता से करे, तो यह लक्षित कर सकते है कि **साठोत्तरी शब्द की अवधारणा सन साठ के बाद के समय में 'वस्तु' में हो रहे परिवर्तनों से गहरे जुड़ी हुई है।** यह कहना अन्यथा न होगा कि स्वतत्रता के बाद से ही कविता की 'वस्तु' तत्व मे परिवर्तन होते रहे थे और इन परिवर्तनो को नयी कविता की मध्यवर्गीय मानसिकता 'वस्तु और रूप' के परस्पर सामजस्य मे देखने की कोशिश कर रही थी, जिसके लिए उसने नये नये शब्द ईजाद किये। वस्तुओ के भीतर उत्पन्न हो रहे तनाव व अतर्विरोध को ये उनके सापेक्ष न देखकर

अपने अनुभवो से अर्जित वस्तु तत्व के स्वरूप के भीतर सम्मिलित करना चाह रहे थे और इसी कारण नया कवि किसी विषय पर कविता नही लिखता, उसका अनुभव की कविता का विषय होता है[3]। इस प्रकार वस्तु के सच्चे स्वरूप को न पकड पाने की कमजोरी को वे विम्बो व प्रतीको के माध्यम से छिपाना चाहते थे, जिस कारण से इस समय की कविता मे नये उपमान, स्मृति चित्र, विम्ब व प्रतीक आदि का प्रचुर समावेश दिखायी पडता है। दरअसल ऐसा इनकी अपनी सौन्दर्य रुचि के कारण था, जिसे ये बाल्यकाल से अपने भीतर सजोकर रखते आये थे। जाहिर बात है इससे मुक्ति पाना इनके वश की बात न थी। इस कारण नयी कविता का कवि वस्तु तत्व के एक सीमित भाग को ही प्रमुखता से व्यक्त कर पाता था। वह विराट परिवर्तित होता समाज उसके अनुभवो से छूट रहा था, क्योकि वह उसकी सौन्दर्य रुचि से मेल नही खाता था। इसी कारण से नयी कविता मे 'क्रियात्मकता' के लक्षण कम ही मिलते है, क्योकि 'वस्तु' का सच्चा (अपना) स्वरूप न उभरकर केवल कवि के अनुभवो मे उभर रहे वस्तु का स्वरूप ही अभिव्यक्त होता था। जाहिर बात है, ऐसी स्थिति मे अभिव्यक्त वस्तु मे गत्यात्मकता का नितात अभाव था। इस गति की कमी को नयी कविता ने शब्दो के माध्यम से भरने की कोशिश की, जिससे कविता शाब्दिक कोश बनकर रह गई। 'शब्द' भी अपनी व्यापकता मे अर्थ का सधान न करके सीमित जीवनानुभवो का ही विधान करते रहे, जिस कारण से लोक जीवन के बहुत सारे शब्द भी छूटते चले गये या कि टूटते हुए व्यक्त हुए, जिससे वास्तविक जीवन मे गतिमान शक्तियो का पता न चल सकता था। **इस तरह यह कविता वस्तुतः उस आदमी के उछलने जैसी बन पडी है, जो कसरत के नाम पर कमरे के भीतर की फर्श पर उछलता रहता है और महसूस करता है कि सुबह के 'मार्निंग वाक' पर निकला है। वह यह नही समझ पाता कि सुबह की सैर के समय जो गतिशील प्रकृति**

व व्यक्ति चित्र मानस पटल पर अंकित होते है, वह उनसे सर्वथा वंचित है।

और तब ऐसी स्थिति मे, वस्तु मे उत्पन्न हो रहे तनाव को न पकड पाने के स्थिति मे, साठोत्तरी कविता ने विद्रोह किया। यह स्वाभाविक भी था, क्योकि वस्तु स्वभावत गतिशील है, क्योकि वह वाह्य जीवन जगत से जुडी हुई है। ऐसे समय मे परिस्थितियाँ स्वभावत विस्फोटक हो जाती है और इसका स्वरूप 'अकविता' मे दिखायी पडता है। हॉ, गतिशीलता का आग्रह इतना जबरदस्त रहा कि इन्होने भाषा को सस्कारच्युत, लगभग नगी कर दिया, जिससे कविता की अपनी परम्परा व परिवेश से कट गई। इस प्रकार नयी कविता जैसी इनकी भी दुर्गति हुई, क्योकि नयी कविता, जिस वस्तु के भीतरी तनाव को ढॅकने के लिए एक गूढ भाषा का इस्तेमाल करती थी, अकविता ने उसे उघाडकर फेक दिया। ये कविताएॅ, अब निरर्थकताबोध, घृणा, निराशा, कुण्ठा आदि का शिकार रही है जो नयी कविता की छद्मता के विरुद्ध चिग्घाड करता है और वस्तु तत्वो के भीतरी तनाव को कम करने की कोशिश मे किसी भाषा की परवाह नही करता।

ठीक इसी के समानातर नयी कविता के निषेध मे प्रतिबद्ध कविता का समय भी आरम्भ होता है, जिससे लोक जीवन के वस्तु तत्वो के भीतर उपज रहे तनाव की पहचान होती है। ये वे कवि है जो समय के दबाव को महसूस करते जहाँ एक ओर अपने लोक जीवनगत सस्कारो से प्राप्त करते लोक वस्तु के भीतर हो रहे परिवर्तनो को भी लक्षित करते है। नयी कविता का कवि अपने अनुभवो को समय के प्रवाह मे मूल्याकित नही किया, जबकि प्रतिबद्ध कविता ने इसको मूल्याकित किया है। इसमे स्थूल और गति दोनो रूप विद्यमान है और यही लोक सौन्दर्य का कारण बनता है। आशय यह है कि 'वस्तु' तत्वो की गतिशीलता को रेखाकित करना इनका लक्ष्य था और इसके लिए इन्होने अपनी सवेदना को भी गतिशील बनाये रखा। चूकि इसके

कवियो का गहरा लोक सस्कार रहा है, इस कारण से इनमे व्यक्तित्व के विघटन जैसा कुछ भी नही मिलता। 'वस्तु के अनुभव व वस्तु का वर्तमान स्वरूप' दोनो ही की क्रिया-प्रतिक्रिया से लिखा गया इनका साहित्य लोक जीवन के गतिशील तत्वो को अभिव्यक्त करने मे पर्याप्त समर्थ रहा है।

साठोत्तरी कविता को **पूर्णत: मोहभंग की कविता** के रूप मे भी समझा जाता है, जिसमे *तीव्र अस्वीकार* की भावना है। भारत भूषण अग्रवाल स्वय ऐसा मानते है और इनके अनुसार, 'मोहभग का यह काव्य, जो क्रमश आगे चलकर विरोध, फिर क्रातिकारी परिवर्तन का काव्य बना, सबसे पहले 1963 मे प्रकाशित चौदह कवियो के काव्य सकलन 'प्रारभ' मे स्पष्ट होता है[4]। इसमे जगदीश चतुर्वेदी के सम्पादन मे प्रकाशित 14 कवियो की कविताएँ इस घोषणा के साथ दी गई है कि 'इधर के कवि उस मैनरिज्म से मुक्ति पाते जा रहे है, जो पिछल वर्षो मे प्रकाशित तमाम नयी कविताओ (तीसरा सप्तक के अधिकाश कवि मे) मे दिखायी देती है।' इन कवियो मे कमोवेश एक महानगरीय जीवन की ऊब, निरर्थकता, विद्रूपता, घुटन, बेबसी व आत्म ग्लानि का भाव है। इसमे राजकमल चौधरी, श्याम परमार, जगदीश चतुर्बेदी, कैलाश बाजपेयी, मनमोहिनी प्रमुख है।

लेकिन अस्वीकार की यह भावना बहुत ही आक्रामक थी। इसके अलावा भी जो काव्य प्रवृत्तियाँ दिखलाई दी थी, उनमे भी यह अस्वीकार भावना है। इस तरह से देखने पर इसके *तीन रूप* प्रकट होते है-

1 पहला अस्वीकार आत्म-लिप्त होकर तीव्र रूप से निषेधात्मक हो गया, जिसकी परिणाति *अकविता* मे होती है। एक प्रकार से यह अतर्मुखी हो गई।

2 दूसरा अस्वीकार सामाजिक राजनैतिक होकर व्यवस्था के विरोध मे खडा हो गया और सत्ता का प्रतिपक्ष रचने लगा। रघुवीर सहाय की कविता इसका उदाहरण है।

यह बहिर्मुखी तो थी, किन्तु निरा तात्कालिक थी।

3 तीसरा अस्वीकार अपने वर्तमान से असतुष्ट होकर ग्रामीण यथार्थ की ओर मुडा और लोक सवेदनाओ से सम्पृक्त होकर अपने को प्रगतिवाद के साथ अपनी शर्तो पर जोडा। यह सत्ता का न तो पक्ष था, न ही प्रति-पक्ष, बल्कि हिन्दी कविता की लोकधर्मी प्राणधारा थी। इसने मध्यवर्गीय सवेदनाओ के बीच विलुप्त होती लोकधारा को बचाया, जिसमे स्वय मुक्तिबोध ने बडा सहयोग दिया था। यह प्राणधारा प्रगतिवाद के पारम्परिक ढॉचे से भिन्न थी, क्योकि इसके कवि आलोचकीय कविताएॅ नही लिखते थे। इनमे सवेदन को अनुभव मे बदलकर बडी कविताएँ लिखने का धैर्य था। इसने उपेक्षित लोक चरित्रो को भी उभारने की कोशिश की।

इस प्रकार हम देखते है कि साठोत्तरी हिन्दी की कविता-

(क) का जन्म मृत्यु की कोख से हुआ, जिसपर बडी प्रतिभावो की छाया मडराती रही था।

(ख) यह सन् 60 के बाद 'वस्तु' मे हो रहे परिवर्तनो से गहरे जुडी है,

(ग) और पूर्णत मोहभग की कविता है।

अब जहाँ तक 'नाम' की बात है, तो इसको किसी निश्चित तिथि मे नही बॉधा जा सकता। इसके लिए समग्र मूड को समझने की जरूरत है। डा0 नामवर सिह लिखते है कि 'साठ की जगह बासठ, तिरसठ, चौसठ, चाहे जो कह लीजिए, क्योकि यह कोई पत्र का मुहूर्त नही है। राजनैतिक स्तर पर इसे चीनी या पाकिस्तानी हमले से भी जोडने मे ज्यादा बहस नही है और न ही नेहरू की मृत्यु से तालमेल बिठाने को लेकर इसकी बहस है। विभाजन का आधार कोई भी घटना मानी जाय। तथ्य यही है कि छठे दशक के साथ एक युगात की धारणा प्राप्त होती है, जिसे सुविधा के लिए राजनीतिक भाषा मे नेहरू युग का अत कह सकते है[5]। डा0 परमानद श्रीवास्तव

लिखते है- 'सन् 60 को रेखाकित करने का मतलब है, उन बहुत से कारणो को रेखाकित करना, जिन्होने सूक्ष्म सौन्दर्यवादी रुझान को सबसे अधिक नुकसान पहुँचाया। सन् 60 के बाद की कविता नयी कविता के महत्वपूर्ण दौर के बाद की कविता है, जो 1950 से 1960 के बीच सूक्ष्म मानसिक व रागात्मक स्थितियो के चित्रण के उद्देश्य से लिखी जा रही थी।[6] डा0 केदारनाथ सिह के अनुसार- '1964 मे अज्ञेय की कृति 'आँगन के पार द्वार' को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिलने के साथ ही नयी कविता का एक दौर पूरा हो जाता है। उनके अनुसार ये दोनो ही कृतियॉ (हिन्दी मे 'ऑगन के पार द्वार' और बॉग्ला मे 'येतो पुरेई जाई') भारतीय कविता की उस आधुनिक धारा का प्रतिनिधित्व करती है, जिसने स्वच्छन्दतावाद का विरोध किया औ उसकी जगह पर व्यक्ति के निजी व प्रामाणिक अनुभव को प्रतिष्ठा दी थी। आरम्भ मे इस धारा मे विद्रोह के तत्व स्वभावत अधिक थे, पर धीरे धीरे कलात्मक प्रौढता के साथ कम होते गये। सन् 60 तक आते आते उसकी भाषा व अनुभववादी दर्शन मे स्थिरता आने लगी। जीवन की सारी समस्याएँ सिमटकर कवि अथवा कलाकार की सृजन प्रक्रिया की समस्याये बन गई। सभवत नवलेखन के क्षेत्र मे सौन्दर्य का यह रुझान कुछ दिन तक और चलता, यदि अकस्मात् सन् 1962 के राष्ट्रीय सकट ने साहित्य तथा राजनीति मे एक साथ बहुत से मोहक आदर्शो और खोखले काव्यात्मक शब्दो के प्रति हमारे मन मे एक विराट शका न भर दी होती। परिणाम यह हुआ कि कछ आधुनिक विचारको और विशेष रूप से नयी पीढी के रचनाकारो के भीतर नवलेखन के इस सौन्दर्यवादी रुझान के विरुद्ध सीधे प्रतिक्रिया हुई।[7]

इस प्रकार हम देखते है कि साठोत्तरी कविता एक प्रकार के समग्रता के मूड की कविता है जो परिवर्तन पर बल देती है। यह एक प्रकार की प्रवृत्ति है, जो न केवल नयी कविता से अलग है, बल्कि हिन्दी कविता के लोकधर्मी चेतना की परम्परा

मे होकर, उसमे बहुत कुछ समकालीन जीवनानुभवो को भी जोडती चलती है।

2. परिवेश और विचारधारा

साठोत्तरी हिन्दी कविता को जब हम नेहरू युग के अवसान व मुक्तिबोध की मृत्यु, एक प्रकार के बहुत सारे 'क्षय' के साथ जोडते है, तब हमारे लिए यह बेहद जरूरी हो जाता है कि इस समय के सामाजिक राजनीतिक परिवेश को समझे, क्योकि किसी भी समय का साहित्य उस परिवेश व विचारधारा से प्रभावित होता है। इस सदर्भ मे हमे सबसे पहले *निर्मल वर्मा* का एक लेख[8] याद आता है, जिसमे वे आज के भारतीय परिवेश मे एक लेखक के केन्द्रीय सकट का विश्लेषण करते हुए लिखते है कि 'आज हम जिस शासन व्यवस्था मे रह रहे है मुश्किल से वह डेढ-दो सौ वर्ष पुरानी है। अग्रेजो ने अपनी जरूरतो के मुताबिक उसका ढाँचा तैयार किया था। हम एक तरफ उससे अनुशासित होते थे, आतकित होते थे, दूसरी तरफ हमारे जीवन का एक बडा सूखा प्रान्तर था, हमारे धार्मिक विश्वास व अध विश्वास, हमारे दैनिक जीवन का मान मर्यादाएँ, हमारी खामोश सस्कृति के खिडकी चौखटे थे, जो उस अनुशासन से बाहर थे। इतिहास की धारा के बीच 'नो मेन्स लैण्ड' की तरह जिसे न अग्रेज शासन छू पाता था और न राजा राममोहन राय की पीढी के भद्र शिक्षित, हिन्दुस्तानी ही, जो विक्टोरिया युग के आदेशो को भारतीय सस्कृति का अतिम लक्ष्य मान बैठे थे। इस तरह हमारा जीवन दो निर्जीव कठघरो मे विभाजित था। एक का सम्बन्ध ऐसे शासन तत्र से था, जो अपने ढाँचे मे स्वतन्त्र, अपनी आवश्यकताओ पर आत्म-निर्भर था। जन जीवन से अलग और ऊपर। दूसरे सीमात पर हमारे विश्वासो व सस्कारो का मिथक था, जो हमारे जीवन के दूसरे हिस्से को उसी तरह अनुशासित व आतकित करता था। दोनो के बीच एक गूँगे किस्म का तनाव था। अग्रेज

नही रहे, गाधी नही रहे, किन्तु शासन तत्र व उसके आस पास फैला सन्नाटा आज भी कायम है।' आगे इसी लेख मे निर्मल वर्मा इस भयावह स्थिति को हमारे यहाँ के बुद्धिजीवी की सस्कृति से जोडते हुए लिखते है कि 'हमारे राजतत्र व उससे सम्बद्ध बुद्धिजीवियो ने पिछले वर्षो मे एक ऐसी आभिजात्य सस्कृति को जन्म दिया है, जो ऊपर से चाहे जितनी मानवतावादी लोकतात्रिक दीखती हो, अपने आवरण व स्वभाव मे उसके जीवन का सम्बन्ध हमारी व्यापक सास्कृतिक भूख और आकाक्षाओ से दूर का भी नही है। उसे तृप्त कर पाना तो अलग बात है।'

निर्मल वर्मा के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि स्वतत्रता के तुरत बाद, हमारे यहाँ के बुद्धिजीवी व औपनिवेशिक तत्र मे कोई विरोध नही था। 'परिवेश' की यह स्थिति किसी भी टकराहट की सभावना का निषेध कर रही थी। किन्तु धीरे धीरे इस व्यवस्था मे उत्पन्न हो रही विचौलिया सस्कृति ने इस बुद्धिजीवी को अप्रासगिक बना डाला, जिससे बुद्धिजीवी की अपनी स्थिति जनसाधारण की स्थिति से बहुत अलग न रही। इस कारण से उसकी सवेदना जो अब तक किसी विचारधारा से अनुस्यूत होती थी, सीधे एकदम समसामयिक अनुभव से जुड गयी। यह ही साठोत्तरी का परिवेश रहा है। वास्तव मे स्वातत्र्योत्तर भारतीय समाज मिथ्या सतोष, आशा व अपेक्षाओ का समाज रहा है जहाँ नीति विहीन राजनीति एव न्यायहीन न्याय व्यवस्था ने समाज मे पाखडा, धूर्तता, छल और अनैतिकता को बढावा दिया है। इस कारण से आजादी के बाद का भारतीय समाज उच्छृखल खोखलेपन से गुजरता है। यहाँ आर्थिक दबावो के तले जहाँ सवेदनात्मक क्षरण होता है, वही मानवीय उदारता का अत भी होता है, जिस कारण से निम्न व मध्यवर्गीय मनुष्य के लिए सम्मानपूर्ण जीवन यापन सपना बन जाता है। यहाँ पर पश्चिमी सस्कृति के सानिध्य से भारतीय सस्कृति प्रभावित होकर नये प्रकार के मानसिक सघर्षो को जन्म देती है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ठीक

लिखते है कि 'भारत माता की ऊपरी बेडियॉ कट गयी है, लेकिन भीतर की जर्जर अवस्था ज्यो की त्यो बनी हुई है। रोग, अशिक्षा, कुरीति, अविश्वास से इस देश की कोटि-कोटि जनता आज भी जर्जर व पीडित है।

इस तरह से हम देखते है कि साठोत्तरी हिन्दी कविता मे परिवेश के स्तर पर राजनैतिक परिस्थितियॉ सक्रिय रही है और यह वह राजनीति नही है जो सामान्यतया समझी जाती है, बल्कि वह राजनीति है जिसका साहित्यिक स्वरूप होता है। जो राजनीतिक विचारधारा देश मे चलती है उसका एक सास्कृतिक पक्ष होता है जो साहित्य मे निखरता है[9]। इसी सास्कृतिक पक्ष को निखारते जाने का नाम साहित्य है। स्वय साठोत्तरी कविता का परिवेश नयी कविता की सीमाये व सम्भावनाएँ रही है। यह नयी कविता स्वतत्र भारत की कविता है, जहाँ देश को स्वतत्र हुए कुछ ही समय हुआ था। इस नयी कविता का मूल स्वर इसी कारण एव राजनैतिक रहा है क्योकि राजनीति से अलगाव इस समय के कवियो के लिए सभव नही था।

यह समय, जैसा कि होता है, नये मूल्यो के सृजन व सघर्ष का भी समय रहा है। इस नये मूल्यो व पुराने मूल्यो के सघर्ष मे एक कठिन रचनाकार कहॉ तक सफल होता है, वह उसकी प्रतिभा पर निर्भर करता है। मुक्तिबोध[10] ने 'नयी कविता का आत्मसघर्ष' मे ठीक लिखा है कि 'नये मूल्यो का जन्म नयी परिस्थितियो की सार्वजनिकता से होता है। मूल्य मूर्त होते है, जो केवल भावुक व वैचारिक धरातल पर 'मूल्य' कहलाकर वस्तुत व्यक्तित्व का गुण (वर्च्यू) बनने का प्रयास करते रहते है। नयी परिस्थितियाँ जब व्यक्तित्व को इष्ट दिशा मे सम्पूर्ण रूप से मोड देती है- अपने तकाजो की पूर्ति के लिए आवश्यक कार्यो की शक्ति जब व्यक्तित्व मे पैदा कर देती है, यानी उस परिस्थिति के लिए आवश्यक गुणो का जन्म और विकास जब उस व्यक्तित्व मे हो जाता है, तब वे मूल्य साकार हो उठते है। मूल्यो को जन्म देने वाली ये परिस्थितियाँ

अपनी सार्वजनिकता मे ऐतिहासिक होती है।'

ये मूल्य वस्तुत छद्म व्यक्तित्व का निर्माण भी करते है जिसे पचास के दशक के मध्यवर्गीय रुझान वाली नयी कविता मे देखा जा सकता है। इसका परिणाम बडा भयकर होता है, क्योकि यह छद्म वचनाओ और झूठे वायदो का सृजन करता है। ऐसा कैसे होता है, इसका रोचक विश्लेषण मुक्तिबोध[11] के यहॉ मिलता है- 'मध्यवर्गीय परिवारो के क्षेत्र मे, पारिवारिक उत्तरदायित्व की सुधर सामाजिकता और शिष्ट समाज मे अपने यश को सुघर वैयक्तिकता महत्वपूर्ण होती है। फलत पारिवारिक उत्तरदायित्व के सुधर निर्वाह का सघर्ष और शिष्ट समाज मे यश प्राप्त करने का सघर्ष महत्वपूर्ण हो उठता है। इस उत्तरदायित्व का सुधर निर्वाह किस ढग से, किस प्रणाली और किस रीति से हो रहा है, यह महत्वपूर्ण नही होता, जितनी कि यह बात कि ख्याति मिल रही है, कि यह उत्तरदायित्व पारिवारिको को उत्तम रीति का जीवन प्रदान कर रहा है और यह कि अपने सुधर सुन्दर जीवन द्वारा वह शिष्ट समाज का यशोभागी है। नतीजा यह होता है कि मध्यवर्ग की केवल आत्म-प्रवचनाओ का ही सृजन नही होता, वरन् उस तथाकथित यश और उत्तरदायित्व की पूर्ति के मार्ग मे व्यक्ति को अनेको झूठे समझौते करने पडते है।'

नयी कविता के दौर के कवि इस मनोवृत्ति के प्राय ही शिकार होते गये है, जिसमे वास्तविक जीवन मे उद्देश्य की अनापूर्ति को वे सपनो के माध्यम से पूरा करने की प्रवृत्ति के शिकार है। यह वास्तव मे कितनी बडी विडम्बना होती है कि जो व्यक्ति यथार्थ मे असफल रहता है, वह कल्पना के यथार्थ मे उसे पाने की कोशिश करता है और प्रफुल्लित रहता है। जाहिर बात है, ऐसी मनोवृत्ति का देर तक जिन्दा रहना सम्भव न था और जल्दी ही साठोत्तरी ने इसके विरुद्ध विद्रोह किया। साठोत्तरी के परिवेश की यह जटिलता भी महत्वपूर्ण है।

जो कवि इन प्रवृत्तियो से मुक्त रहे है और स्वय नयी कविता के भीतर ऐसे कवि थे, उनका विकास सार्थक सृजन की दिशा मे होता गया है और यही आगे साठोत्तरी का मार्ग भी प्रशस्त करता है। इसके लिए मुक्तिबोध[12] ने *तीन बातो* का जिक्र किया है -

1- व्यक्तिगत सघर्ष को सामाजिक सघर्ष मे बदलने की प्रक्रिया और सामाजिक सघर्ष मे व्यक्तिगत सघर्ष का महत्व।

2- नये मानवतावादी मूल्यो के लिए किए जाने वाले सघर्ष मे *चरित्र का महत्व* । इस चरित्र मे मानवीय सुकुमार गुणो का समन्वय तो हो ही, साथ ही उसमे समाज के अन्दर दुष्प्रभावो से उत्पन्न धारणाओ के विरुद्ध अपनी सत्ता स्थापित करने की प्रवृत्ति भी हो।

(यहाँ कहना न होगा, कि साठोत्तरी हिन्दी कविता मे यह चरित्र बेहद महत्वपूर्ण हो उठा है और लोक सौन्दर्य का वास्तविक स्वरूप इन्ही चरित्रो मे दिखायी पडता है)

3- अनुभवजन्य और विचारजन्य ज्ञान की प्राप्ति का अनुरोध होता है कि ज्ञान प्राप्तिकर्त्ता का चरित्र भी उस ज्ञान द्वारा निश्चित किये गये मानदण्डो और कार्यो की पूर्ति करे।

साराशत व्यक्तित्व को अब ऐसे गुणो की आवश्यकता होती है, जो नये मानवीय मूल्यो की नयी नयी मजिलो तक पहुँचने के सघर्ष मे टिकने के लिए उसे सक्रिय सहायता कर सके, उसे जीवन ज्ञान की गहराई दे सके और उस ज्ञान के कार्यात्मक तकाजो की पूर्ति हेतु आवश्यक हार्दिक, बौद्धिक और कार्यात्मक क्षमता प्रदान कर सके।

इस प्रकार हम देखते है कि नयी कविता का जन्म, सघर्षो व तनावो से उत्पन्न विभिन्न भाव स्थितियो से हुआ है। ये सघर्ष और तनाव उस समय के पूरे परिवेश

व वस्तु की उपज रहे है जिस कारण इनका ऐतिहासिक आधार है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि साठोत्तरी कविता का परिवेश जहाँ एक ओर नयी कविता की अपनी परिस्थितियो से बनता है वही इससे मुक्ति के प्रयास से भी। इस आधार पर हम उस सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियो का मूल्याकन कर सकते है और नयी कविता भी उस काल की आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक चेतना से, उससे अनेक प्रकार के उतार चढावो से प्रभावित हुए बिना नही रही है। राजनैतिक स्तर पर हम जानते है कि यह समय काग्रेस के वर्चस्व का समय था, जिसमे एक पार्टी का नियत्रण था। स्वाधीनता के पहले यह नियत्रण स्वाभाविक था, क्योकि वहाँ पर हमारे दुश्मनो का ठीक ठीक पता था, जिनसे लडने के लिए एक जुटता का होना बेहद जरूरी था। लेकिन इस एक जुटता के पीछे जो व्यक्तियो का समुदाय था जाहिर बात है, उसकी अपनी चिताये थी, जो स्वाधीनता प्राप्ति की आवेगमयता मे दबी दबी रही थी। लेकिन जैसे ही देश आजाद हुआ, उनकी आकाक्षाये टूट टूट कर बाहर आने लगी और जैसा कि होता है, मोनार्की के बाद एनार्की आती है। यहाँ भी ऐसा ही हुआ। काग्रेस के अतर्विरोध उसके भीतर से ही प्रस्फुटित होने लगे थे। यह समय इस प्रकार 'केन्द्रीयता' के टूटने का समय था और जब यह केन्द्रीयता कमजोर होती गयी, तब उसी काग्रेस के भीतर से बहुत सारी असगत विचारधाराओ ने अपना स्वतत्र रास्ता अपनाया, क्योकि काग्रेस पहले से ही भिन्न भिन्न विचारधाराओ का मिला जुला रूप थी। चार्ल्स बीतलहाम[13] ने ठीक लिखा है 'काग्रेस एक ऐसा बरगद का पेड था जिसके नीचे धूप से बचने के लिए कोई भी राजनीतिक मुसाफिर शरण ले सकता था।'

स्वय इस 'केन्द्रीयता' का टूटना तत्कालीन साहित्य मे भी दिखायी देता है। यूँ भी जब राजनीति और साहित्य एक दूसरे को गहरे प्रभावित करते है, तब यह देखना

गौरतलब है कि साठोत्तरी कविता के मोहभग की स्थिति व राजनैतिक मोहभग की स्थिति स्वतत्र भारत मे लगभग एक ही समय मे घटित हुई। आजादी मिली और नेहरू इसके कर्णदार बने जो अपनी विचारधारात्मक तेवर और चमत्कारी व्यक्तित्व के बल पर अपनी मृत्यु तक (64) राजनीति मे छाये रहे। इसी के आसपास अज्ञेय भी अपने तार सप्तक (1943) के प्रकाशन से 1959 (तीसरा सप्तक) तक साहित्य मे छाये रहे। यह नयी कविता (1950-59) का दौर था। यहॉ यह देखना रोचक है कि अज्ञेय और नेहरू मे कितनी समानताएँ है। दोनो मे व्यक्तित्व का विभाजन कितना खटकता है। इसी को लेकर दोनो का बडा ही रोचक विश्लेषण मलयज ने किया है। वे लिखते है- "दोनो की जगहो पर कोई बुनियादी चीज छूट गयी थी। शायद यह कि वह 'साई' बाहर ही बसता था। वह वर्ग पोषित नर, जिसकी ऑखो मे नारायण की व्यथा भरी रहती थी। अत नेहरू के स्वप्न दर्शन के अत ने स्वप्नभग से उत्पन्न स्थितियॉ दी- अनस्थिरता व विघटन, जिसमे तमाम सारी शक्तियॉ जूझकर समाज के एक गतिशील यथार्थ को प्रकाशित कर रही है, असतोष एव आक्रामकता, जिसमे नई युग पहचान की सभावनाएँ टूट बन रही है, एक प्रजातत्र जो तपने के लिए आग मे जल रहा है। 'अज्ञेय' के स्वप्नदर्शन के अत ने हमे हमे आज की युवा कविता दी। आशका व सभावना के ध्रुव बिन्दुओ पर झूलती एक काव्य पीढी, एक दु स्वप्न जो कविता के भविष्य से ज्यादा मनुष्य के भविष्य को लेकर है, एक वर्ग चेतना जो राजनीति, कली और फूल के भेद को पहचानती है।' इस लम्बे उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि राजनीति और साहित्य मे मोहभग के दौर लगभग समान रहे है। नेहरू की कमजोरी यह थी कि वे सामतवादी ढॉचे को तोडे बगैर औद्योगिक पूँजीवाद को लाना चाहते थे और अज्ञेय भारतीय सस्कृति के दार्शनिक भाववाद से लडे बिना आधुनिकताबोध, व्यक्ति स्वातत्र्य और बुद्धिवाद को स्थापित करना चाहते थे। (विजय कुमार कविता

की सगत, पृ0 39)। तब यह स्पष्ट है कि राजनीति मे जहॉ यह विरोध कम्यूनिस्ट पार्टी के आदोलन के रूप मे उभरा, साहित्य मे यह अस्वीकार प्रतिबद्ध कविता की लोकधर्मी चेतना के रूप मे प्रतिफलित हुआ। अज्ञेय और उनके साथी धर्मवीर भारती, विजय देव नारायण साही, गिरिजा कुमार माथुर, जगदीश गुप्त आदि जब मिथको को आधार बनाकर सनातन किस्म की तनावहीन शुद्धतावादी कविता लिख रहे थे, वही साठ के बाद के कवियो की कविता मे एक 'तनाव' आद्योपात विद्यमान रहता है। ठीक राजनीति की तरह ही, साहित्य को भी बाहरी खतरो से बचाने का प्रयास होने लगा और साहित्य मे भी एक प्रकार की Self reliance वाली नीति अपनाई गयी। यही से 'घरेलू' उत्पादो पर जोर पकडा। कवियो को अतर्राष्ट्रीय बाजार मे टिकने के लिए इसी स्थानीयता का आधार उपयोगी लगा और यह उचित था। ऐसे ही समय मे 'मुक्तिबोध' केन्द्र मे आते है, जिनकी काव्यभाषा का खुरदुरापन भद्रलोक की नपी तुली और सयमित अभिव्यक्ति के खिलाफ जाता था (विजय कुमार कविता की सगत)। अपनी इसी स्थानीयता के कारण हमने कहा है कि पहले ये **कवि लोक जीवन की ओर इसलिए मुड़े ताकि बाहरी प्रभावों से बचा जा सके। इस रूप मे साठोत्तरी कविता की आरभिक लोक धर्मिता, लोक जीवन के प्रति सम्पृक्तता से अधिक परायेपन के बोध की उपज थी जो धीरे धीरे कम होती गयी। यह लोक जीवन की सम्बद्धता का ही सूचक है।** दूसरी तरफ इसी राजनैतिक परिवेश मे 'विचारधारा' का समावेश भी हो जाता है क्योकि काग्रेस से मोहभग की स्थिति मे वामपथी विचारधारा ने जोर पकडा था, जिसका परिणाम कम्यूनिस्ट पार्टी मे विभाजन रहा है। नेहरू ने इसे कम करने की कोशिश अवश्य की, जिसके कारण उन्होने 'समाजवाद' का नारा दिया, लेकिन 'काग्रेस पूँजीपतियो की पार्टी है', यह विचार इतना गहरे धँस चुका था कि उससे निजात पाना मुश्किल लग रहा था। काग्रेस ने समस्याओ के प्रति, एक

प्रकार का ढुलमुल रवैया अपनाये रखा, जिसका परिणाम यह हुआ कि किसी भी समस्या का स्थायी समाधान ढूढने के बजाय वे तात्कालिकता से ही सतुष्ट रहने लगे। इसके साथ और इसके बावजूद वे केन्द्रीय शासन की बागडोर भी अपने पास रखना चाहते थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी लोकप्रियता दिनो दिन कम होती गयी। जब तक नेहरू थे (1964), तब तक तो कुछ गनीमत ती किन्तु उनके बाद तो इस पूरी व्यवस्था के प्रति विद्रोह हुआ, जिसको हम साहित्य (अकविता) व राजनीति (वामपथी मोर्चे का उदय) मे देख सकते है।

इसी बीच कम्यूनिस्ट पार्टी मे विभाजन 1962 से आरम्भ हो गया था, जो 1964 मे घटित हो गया। 1964 मे सी0पी0आई0 और सी0पी0एम0 दो पार्टियाँ बन गई। 1969 मे तीसरा विभाजन हुआ, जब पश्चिम बगाल के उग्रवादी किसानो ने नक्सलबाडी विद्रोह की सफलता से उत्साहित होकर सशस्त्र सघर्ष का रास्ता अपनाया। यह C P (ML) थी। इसी के समानातर 'जनसघ' का उदय भी हो रहा था। 1962 के भारत चीन युद्ध से यह जोर पकडा, क्योकि चीन के हमले से आहत भारतीय मानस को इसने राष्ट्रीयता, अखण्डता, देश प्रेम, गौरवमय अतीत का पाठ पढाया।

लेकिन इन सब विचारधाराओ के होते हुए परिवेश की स्थिति कुछ ऐसी थी कि हर जगह छद्मता का प्रभाव था। स्वय गरीबो व शोषितो के नेता कहलाने वाले कम्यूनिस्ट आपस मे अतर्कलह के शिकार थे जिसको आधार बनाकर डा0 राम मनोहर लोहिया ने लगभग झुँझलाते हुए कहा था कि 'जिदा कौमे पाँच साल तक इतजार नही कर सकती।' डा0 लोहिया चाहते थे कि मजदूर वर्ग सगठित हो और पूँजीपतियो का आधिपत्य समाप्त हो। ऐसे ही समय मे मुक्तिबोध ने लिखा है-

तुम्हारी मुक्ति उनके प्रेम से होगी

कि तद्‌गत लक्ष्य मे से ही

हृदय के नेत्र जागेगे

वह जीवन लक्ष्य उनके

प्राप्त करने की क्रिया मे से

उभर ऊपर

विकसते जायेगे निज के

तुम्हारे गुण

कि अपनी मुक्ति के रास्ते

अकेले मे नही मिलते। (चकमक की चिनगारियाँ)

अब जहाँ तक *आर्थिक परिवेश* की बात है तो स्वतत्रता के बाद काग्रेस ने 'पचवर्षीय योजनाओ के माध्यम से देश की आर्थिक उन्नति करने की दिशा मे कदम बढाया। यह भीषण आर्थिक सकट से उबरने का प्रयास था, क्योकि देश का विभाजन, देश को काफी कमजोर कर चुका था और अग्रेजो ने तो इस ओर प्रयास ही किया था। इसके लिए 'राष्ट्रीयकरण' की नीति अपनाई गई, जबकि यह बात भुला दी गयी कि इस 'राष्ट्रीयकरण' का व्यापक सामाजिक आधार भी होना चाहिए। इस कारण से पूँजीवादी शोषण बढा, क्योकि जो गरीब थे, वे गरीब होते चले गये और धनी और भी सम्पन्न होते गये। अफसरसाही ने इसमे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सार्वजनिक क्षेत्रो पर बल दिया जाने लगा, किन्तु उसमे पनप रहे भ्रष्टाचार को नियत्रित करने की कोशिशे न की गयी। इस प्रकार राजनीति का यह 'विकेन्द्रीकरण' एक प्रकार से छलावा मात्र ही रह गया किन्तु साहित्य के क्षेत्र मे यह सफल रहा। **यहाँ यह गौरतलब है कि केन्द्रीयता के टूटने व विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया जहाँ राजनैतिक सदर्भ से लगातार असफल होती गयी है वही साहित्यिक संदर्भ से सफल होती गयी है क्योंकि**

साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक सदर्भो की जोरदार अभिव्यक्ति 'विकेन्द्रीकरण' नही तो और क्या है? यही साठोत्तरी हिन्दी कविता का परिवेश है और विचारधारा है।

3- विखण्डित मूल्य दृष्टि

यह बात गौरतलब है कि 1947 के बाद 1960 तक के बीच का समय हिन्दी कविता मे शीतयुद्द से प्रभावित था, जो पूर्ववर्ती प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया मे आया था जिसके बारे मे मुक्तिबोध[14] ने कहा है, नयी कविता के बुर्ज से शीतयुद्ध की गोलदाजी की गयी थी। इन डेढ दशको मे नयी कविता समूचे परिदृश्य पर प्रधान हो गयी थी, क्योकि प्रगतिवाद के विघटनकारी तत्व उसकी अपनी आतरिकता मे ही विद्यमान थे और जन आदोलन के सघटन को लेकर तमाम प्रकार के विवाद भी उत्पन्न होने लगे थे। नयी कविता ने अपने मध्यवर्गीय सस्कारो की अभिव्यक्ति प्रचुर मात्रा मे दी और जैसा कि कहा जा चुका है, इसमे वस्तु के परिवर्तनकारी तत्वो के अपने अनुभवो पर अधिक बल दिया गया। यह गैर-राजनैतिक परक कविताओ का भी समय था, जिनसे 'आत्म सत्य' को पाने की भरपूर कोशिश की जाने लगी। यह आत्म-सत्य, वस्तुत आत्मीय सत्य से नही जुड पाया और खुद नयी कविता आतरिक विघटन का शिकार होती चली गयी। इस कविता मे व्यक्ति स्वातत्र्य खूब था, किन्तु व्यक्ति को उसकी गतिशीलता मे समझ पाने का न तो अवसर था, न ही इच्छा। वे अपनी पुरानी समझ से ही काम चलाना चाहते थे। व्यक्ति स्वातत्र्य की बात करते हुए भी वे राजनैतिक आर्थिक मसलो पर प्राय चुप ही रहते थे, क्योकि इससे पूँजीवादी व्यवस्था के प्रतिगामी शक्तियो के विरुद्ध जाने का खतरा बना था और वे इस खतरे को उठाना नही चाहते थे, क्योकि इससे उनको अपने व्यक्तित्व का सकट उत्पन्न हो रहा था। एक प्रकार

से वे सामतवादी ढाँचे पर आरोपित किये गये पूँजीवादी ढॉचे को अपनी शरणस्थली के रूप मे देखते रहे थे। इस प्रकार एक ओर वे प्रगतिवाद से बचना चाह रहे थे और दूसरी ओर सत्ताओ से सुरक्षित महसूस कर रहे थे।

इस प्रकार हम यह भी समझ सकते है कि नयी कविता जनसमुदाय से सत्ताओ के सघर्ष की पक्षधर न ती, क्योकि इससे उसका अपना हित टकराता था। कुछ कवि मसलन श्रीकात वर्मा व रघुवीर सहाय (1955 के बाद) को छोड दिया जाय तो नयी कविता के बहुत सारे कवि उसी राजनीतिक सत्ताओ के अग रहे थे। इनके पास विचारधारा की कमी ही इनको भोगे हुए विशिष्ट सत्य तक सीमित करती है। इस कारण से जहाँ इनसे अनुभवगत विस्फोट की सभावना थी, उसमे इनका अनुभव जगत सकुचित हो गया। इनकी वस्तु निष्ठता अपने अनुभवो पर आश्रित थी, न कि 'वस्तु' के बदल रहे स्वरूप पर। इस कारण से नयी कविता का अनुभववाद, आत्मरत हो गया और आत्म प्रकटीकरण को ही उन्होने सौन्दर्यानुभूति मान लिया। इससे बडी भारी क्षति हुई क्योकि व्यापक जीवन सत्य जो निरतर गतिशील है, इनसे छूट गया। मुक्तिबोध ने ठीक लिखा है[15]- 'व्यक्ति समस्या को मानव समस्या बनाकर तभी प्रस्तुत किया जा सकता है, जब हम उस समस्या के लिए पूर्णत तटस्थ हो और फिर उसमे भीगे, रमे। इस प्रकार उस सारे ताने बाने को देखे, जिसमे मानव जीवन बुना हुआ है। अपनी स्थिति मे और विकास मे, हमे तथाकथित सौन्दर्यानुभूति के क्षणो से बाहर जाना होगा और भाव का आधार बनने वाले ज्ञान का विस्तार करना होगा। केवल एक क्षण के उत्कर्ष का चित्रण करने के बजाय, हमे लम्बी नजर फेकनी होगी और वह सारा ताना-बाना अकित करना होगा जिससे वह समस्या एक विशेष काल और परिस्थिति मे विशेष रूप और रग मे विकसित और ग्रथिल हुई हो। यह सब कार्य तथाकथित सौन्दर्यानुभूति के बाहर का कार्य है, इसलिए यह समझा जाता है कि वह सौन्दर्यानुभूति

के क्षणो के लिए या कलात्मक चेतना का परिवृद्धि व विकास के लिए महत्वपूर्ण नही है।'

दरअसल 'नयी'कविता' जीवन की समग्रता को लेकर नही चल पाती। वह खण्डो मे उलझकर 'क्षण चित्रो' को ही प्रतिबिम्बित करती है। मुक्तिबोध लिखते है[15]- 'लेखक की मूल प्रवृत्ति यह हो गयी है कि किसी भी जीव खण्ड मे प्रकट एक स्थिति, एक प्रसग के अतर्गत एक विशेष भाव को पकड ले और उसे शब्दबद्ध कर ले। वह उस भाव से सम्बद्ध अन्य सूत्रो को पकडकर उन्हे प्रस्तुत नही कर पाता। वह बाह्य के प्रति सवेदनाघात करके, सवेदनात्मक प्रतिक्रिया करके, उसे शब्दो मे बॉध देता है।' इससे स्पष्ट है कि रचनाकार प्रतिक्रिया के स्तर पर जीता है न कि क्रिया के स्तर पर और ऐसा 'वस्तु' के नये स्वरूप से उसकी कम सम्पृक्ति ही है। वे वास्तविक जीवन विश्लेषण को उसकी पूरी गहरायी मे आत्मसात नही करना चाहते। इस कारण से जहॉ उसमे विषयगत वैविध्य के दर्शन होते है, वही उसमे वस्तुगत गहराई नही मिलती। आशय यह कि बहुत सारे विषयो पर लिखने के चक्कर मे नयी कविता मे अपेक्षित गहराई का अभाव दिखायी देता है।

इस प्रकार नयी कविता का कवि अपनी स्थितियो के आत्म-प्रकटीकरण तक ही सीमित रहा है। इसने इसका अतिक्रमण करना उचित न समझा। इस कारण नयी कविता मे अनुभव की एक रूढि सी स्थापित हो जाती है, जिसकी निष्पत्ति जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि मे होती है। स्वय मुक्तिबोध को इस खतरे का अहसास था जिस कारण से वे लिखते है[17]- 'अभिव्यक्ति के प्रयत्न-कलाकर्म- बहुत कुछ अभ्यास मे निहित है। लेखक को, अभिव्यक्ति साधना मे, काव्याभास मे, न केवल विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति का अभ्यास हो जाता है, बल्कि विशेष प्रकार की भाव सवेदनाओ का भी अभ्यास हो जाता है। क्रमश दोनो तरह के अभ्यास, भाव सवेदनाओ की अभ्यासात्मकता

और तत्सम्बन्धी अभिव्यक्ति की अभ्यासात्मकता, ये दोनो ही मिलकर लेखक की जिस प्रकार क्षमता बन जाते है, उसी प्रकार वे उसकी कठोर सीमा भी बन जाते है। यदि लेखक इनके विरुद्ध अनवरत सघर्ष नही करता, तो वह अन्य भाव क्षेत्रो का प्रभावोत्पादक ढग से वर्णन नही कर सकता, क्योकि उसने उन भाव क्षेत्रो को पूर्णत और सारत व्यक्त करने वाले कलात्मक उपादानो का (कलात्मक भाषा का भी) विकास नही किया है। इसका परिणाम यह होता है कि निविड से निविड, गहन से गहन, उसके जो अत्यत ही आत्मीय क्षण रहे है, उनको भी लेखक (उपर्युक्त अर्थ मे) सीमाबद्ध काव्याभ्यासात्मक जडता के कारण कलात्मक वाणी नही दे पाता।'

नयी कविता के कवियो के साथ यह हुआ है। उनकी सौन्दर्याभिरुचि तक जडीभूत हो गयी है और यह मात्र सयोग नही है कि सन 60 के बाद हिन्दी कविता मे एक बदलाव को लक्षित किया जा सकता है जिसमे *केदार नाथ सिह* प्रमुख है। इनके पहले व इनके साथ रघुवीर सहाय व सर्वेश्वर दयाल सक्सेना को भी लिया जा सकता है। इनमे जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि व वस्तु तत्व की सीमा दोनो का अतिक्रमण दिखायी देता है जिनकी चर्चा हम आगे करेगे। स्वय मुक्तिबोध मे इसके लक्षण मिलते है जिनकी कविताओ का विश्लेषण इस पुस्तक के अत मे किया गया है। इन लोगो ने अपनी रचनाओ के माध्यम से मध्यवर्गीय सौन्दर्यबोध की भीतरी विसगतियो को उघाडने का कार्य किया है और जैसे जैसे वस्तु मे हो रहे लगातार परिवर्तनो व अतर्विरोधो की पहचान सभव होने लगी, वैसे वैसे मुक्तिबोध, त्रिलोचन, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि की कविताएँ प्रासगिक होती गयी। स्वय लोक सदर्भो से जुडी कविताओ मे इसे देखा जा सकता है, जहाँ 'लोक' वह नही है जिसे वे अपने परिवेश व परिस्थिति से लाते है, बल्कि वह है जिसमे एक सामान्य मनुष्य जीता है। ये रचनाकार, अपनी सवेदना के विस्तार के लिए सौन्दर्याभिरुचि के किसी विशिष्ट क्षण द्वारा उपस्थित अन्तर्तत्वो

का अतिक्रमण करते हुए, अपनी आत्मबद्धता से मुक्ति का प्रयास भी कर रहे थे और **साठोत्तरी हिन्दी कविता का लोक सौन्दर्य इसी 'आत्म बद्धता' से मुक्ति के प्रयास मे देखा जा सकता है।**

यदि साठोत्तरी के समग्र मूड की बात की जाय, तो **तीन प्रवृत्तियो** का पता चलता है-

1- चूँकि इसकी प्रवृत्ति तीव्र अस्वीकार व असतोष की रही है, अत एक अस्वीकार आत्म लिप्त होकर निषेधात्मक हो गया है। यही विखण्डित मूल्य दृष्टि का कारण बना जिसे अकविता कहा गया।

2- दूसरा सामाजिक समस्याओ से जुडकर सत्ता का प्रतिपक्ष रचने लगा, जिसके प्रतिनिधि मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय आदि को माना जा सकता है।

3- तीसरा लोक धर्मी चेतना से मिलकर लोक जीवन मे हो रहे परिवर्तनो को लक्षित करने लगा।

इस प्रकार विखण्डित मूल्य दृष्टि को आधार बनाकर आगे आने वाली अकविता वस्तुत तीव्र गुस्सैल कविता रही है क्योकि उसने नयी कविता की जडीभूत सौर्न्याभिरुचि के विरुद्ध विद्रोह किया। उसकी अशात और उग्र मन स्थितिपूर्ण नकारात्मकता व विक्षोभपूर्ण अनुभव एक ऐसी आक्रामक भाषा को जन्म लेती है, जो नयी कविता से सीधे मुठभेड करती है। विजय कुमार[18] ठीक लिखते है कि 'नयी कविता वस्तु तत्व मे पनप रहे जिस तनाव को अपनी मध्यवर्गीय खोखले आभिजात्य से ढकना चाहती थी, साठोत्तरी उसे उतारकर फेक देना चाहती थी। यहाँ आकर भाषा बिना बिम्ब व प्रतीक के सीधी व सपाट होती है।'

यह गौरतलब है कि डा0 जगदीश गुप्त व डा0 विजयदेव नारायण साही के सम्पादन मे 'नयी कविता' का छठाँ अक 1966-67 मे प्रकाशित हुआ और उसी समय 'अकविता'

का पहल सकलन भी आया। उसमे स्पष्ट सकेत है कि 'आज का कवि परम्परगत रूढियो तथा सस्कारो से विक्षुब्ध है और उनका काव्यात्मक सवेदन भी उसी अनुपात मे परम्परा से मुक्त है। परिवर्तित सौन्दर्यबोध के कारण आज का कवि पिछली परम्पराओ को नकार कर अपना सम्पूर्णतया पृथक मार्ग भी खोजने मे रत है।'[19] इस तरह अकविता के माध्यम से एक अलग मच बना जिसका काम परम्परा भजन और पृथक मार्ग की खोज थी। परम्परा का विरोध वास्तव मे देशी विदेशी प्रभावो का परिणाम ही था। इसको बताते डा0 ललित शुक्ल लिखते है कि 'देश मे भ्रष्ट राजनीति के कारण युवा वर्ग मे अनास्था, कुठा, सत्रास आदि प्रवृत्तियो का बोलबाला था और पैसे से ऊबे विदेशी किशोर किशोरियाँ शाति की खोज मे भारत आकर यहॉ के युवा वर्ग मे चमत्कार का अगिया बैताल दिखाते थे[20]। इस तरह देश के राजनैतिक तत्र भी सडॉध और विदेशी सम्पन्नता दोनो ने इस प्रवृत्ति को हवा दी। फिर क्या था, भूखी पीढी, नाराज पीढी, क्रुद्ध पीढी, युयुत्स पीढी आदि शब्द चल पडे। इसी के साथ अगली कविता, सहज कविता, ताजी कविता, साठोत्तरी कविता, बीट कविता जैसे अनेक नाम भी चल पडे। इसमे से 'अकविता' विशेष तौर पर राजनीति से असम्बद्ध थी क्योकि वह इसके भ्रष्ट तत्र को जान चुकी थी। इस भ्रष्ट तत्र का हवाला देते डा0 ललित शुक्ल लिखते है कि 'चीन का आक्रमण, पाकिस्तन का आक्रमण, जवाहरलाल नेहरू व शास्त्रीजी की मृत्यु ने देश को प्रभावित तो किया था, किन्तु राजनीति के क्षेत्र मे किसी व्यापक परिवर्तन के लिए कोई स्थान न था। आर्थिक विषमता की व्याप्ति से मध्यम वर्ग ही नही, निम्न वर्ग भी पिस रहा था। राजनीति मे परिवर्तन लाने की आशा धूमिल इसलिए थी, क्योकि काग्रेस का भ्रष्ट तत्र चतुर्दिक फैला हुआ था। कोई विरोधी पार्टी इतनी सक्रिय न थी कि काग्रेस से टक्कर ले सके। काग्रेस के साथ पूँजीपति, राजे महाराजे, साहूकार, दलाल, सूदखोर, तस्कर, गुडे, बदमाश सभी थे। जनता पर काबू

ने बगाल व केरल मे जनवादी दृष्टिकोण को जमीन देने का जो प्रयास किया, वह काग्रेस द्वारा भ्रष्ट राजनीति के दॉव-पेच को हथियार बनाकर खत्म कर दिया गया।[21] तब जाहिर बात है कि ऐसे भ्रष्ट तत्र के प्रति विद्रोह होना ही था और दूसरी ओर वाह्य प्रभाव ने अनुकूल हवा दी, जिससे अकविता ने सामाजिक रूढियो को उखाडकर फेक देना चाहा। अकविता युवा पीढी के इसी परिवेश की उपज है।

स्वय 'अकविता' नाम सकलन से भी इसका पता चलता है। यह 1965 के आसपास छपा है, क्योकि इसमे सन का ठीक नाम नही है। इसमे जगदीश चतुर्वेदी, मुद्राराक्षस-रवीन्द्रनाथ त्यागी व श्याम परमार के नाम है। यह 'विघटन' शीर्षक के साथ छपा है। 'अकविता-दो' मे 'शरीर' (पैशन) शीर्षक से कविताएँ छपी है। 'अकविता-तीन' मे 'मृत्यु' शीर्षक से कविताएँ छपी है। इसके 'सकेत' मे लिखा गया है- 'हमने वही काव्य मन स्थितियाँ अपने विभिन्न अको के लिए चुनी है, जो आज के काव्य सृजन के लिए मूल आधार रही है और जिनकी अनिवार्यता रचनाओ के प्ररिप्रेक्ष्य मे सिद्ध हो चुकी है।[22] अक-4 की रचनाओ का सकलन 'नगर' शीर्षक से किया गया है और अक 5 का 'व्यक्ति' के नाम से। विघटन, शरीर, मृत्यु, नगर व व्यक्ति जैसे शीर्षको को यदि हम प्रतीक मान ले, तब हम अकविता को आसानी से समझ सकते है। यूँ 1973 मे 'निषेध' पत्रिका के प्रकाशन के साथ मेला उठ गया।

यदि हम स्वय अकवितावादियो के वक्तव्यो पर ध्यान दे जो इसकी प्रवृत्ति का पता चल जाता है। जगदीश चतुर्वेदी[23] के लिए 'पिछले खेमे का सारा काव्य' उगला हुआ है। वह सदेहास्पद व निरर्थक है। सामाजिक सस्कारो मे घिनौनापन है। प्रेमिकाओ की घनिष्ठता मे जीना इनके लिए सभव नही है। प्रतिबद्धता के लिए इनके यहाँ कोई जगह नही है। इनके लिए रोटी, हडताल और राजनीति मोटे विषय है। इनके जीवन व काव्य की रचना के मूल मे 'विसगति' है। सौमित्र मोहन कहते है कि 'वे प्रत्येक

चीज व सम्बन्ध को झटके के साथ छोड सकते है।' श्याम परमार व गगा प्रसाद विमल ने भी कुछ ऐसा ही कहा है, हालॉकि ये सुलझे है और 'छापामार' जैसी दृष्टि नही रखते। इसमे मणिका मोहिनी व मोना गुलाटी जैसी कवियित्रयॉ भी है। इन सभी कवियो के केन्द्र मे वस्तुत नारी का विकृत रूप ही है, जो 'सेक्स सम्बन्धी हारर का चित्र उपस्थित करता है'[24]। कुछ चित्र द्रष्टव्य है-

1 रात का उजडा हुआ निश्वास/ सो गया है/ मैथुनो मे रत/ भग्न ऑखो मे उलूको के/ (जगदीश चतुर्वेदी)

2 स्त्री कभी नग्न नही होती/ अपनी त्वचा मे ढकी/ उजाले मे सोती है/ (राजकमल चौधरी)

3 औरत के पेट की सीवन उधेडकर उसने गर्भजल से अपना शिश्न धोया/ और बद कमरे मे घुटती साँस से कुछ मत्र पढने लगा/ या कोई वसीयत किसी की सतुष्टि के लिए।

4 सुबह होने से लेकर दिन डूबने तक/ मै इतजार करती हूँ रात का/ जब हम दोनो एक ही कोने मे सिमटकर/ एक दूसरे को/ कुत्तो की तरह चाटेगे/ विवाह के बाद जिदा रहने के लिए/ जानवर बनना बहुत जरूरी है। (मणिका मोहिनी)

इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि 'अकविता' मे नारी खिलौना बन गयी। *यह एक प्रकार का नारी का रीतिकालीन विस्फोट था।*

अब जहाँ तक अकविता के अर्थ की बात है तो इसका अर्थ कविता हीनता से न होकर 'नयी कविता' के उस स्वरूप को खारिज करने से था, जो विखण्डित मूल्य दृष्टि, निराशा, असतोष और अव्यवस्था को बदले हुए सामाजिक सदर्भो मे पकड पाने मे असमर्थ थी। यह उन कवियो द्वारा रचित हुई, जो स्वतत्रता के बाद पैदा हुए थे जिसमे अनुभव की प्रामाणिकता की चिता न होकर उन प्रामाणिक अनुभवो की तीव्रतम

अभिव्यक्ति दिखलाई पडती है। यह एक प्रकार से जडीभूत सौन्दर्य का विखण्डन था, जिसमे बहुत सारे सत्यो को उजागर करने का एक दम्भ भरा विश्वास था। ये बहुत ढकी चीजो को उधारकर रखना चाहते थे। इनकी प्रारभिक प्रतिक्रिया सामाजिक व्यवस्था को उधारने से होती है, जिसकी परिणति, शारीरिक व्यवस्था को उघारने मे होती है। यूँ नग्नता एक प्रकार मनोवृत्ति बन जाती है। ये हर वस्तु की जडो मे जाने की कोशिश करते है, लेकिन इसके लिए 'जडबुद्धि' का ही इस्तेमाल भी करते है जिससे 'नारी' को उघाडने मे ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते है। इनका प्रत्यक्ष (लोक) जगत नारी के चमडे के इर्द गिर्द घूमता रहता था। इस प्रकार यह विखण्डन एक प्रकार से अराजकतावाद की हद तक जाता है। लक्ष्मीकात वर्मा ने लिखा है- 'यह पूरा साहित्य उस पीढी का है जो एक अपराजेय विवशता मे जन्मी है और उसी विवशता को भोग रही है। उसके लिए विवशता, विसगति, विघटन या आतक अनुभव नही, जीवित सस्कार है। वे इतिहास के किसी खण्ड से विद्रोह करने के बजाय, पूरे इतिहास से ही विरोध करते है।[25]

इस तरह अकविता का विरोध एक प्रकार से समग्रता का विरोध था। उनका यह भाव बाहरी प्रभाव से पुष्ट हुआ और इन रचनाकारो ने उन सभी कला आदोलनो को मुक्त रूप से ग्रहण किया जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप व अमेरिका के घोर निराशावादी परिवेश मे उपजे थे। इसे ही फ्रास मे युद्ध के बाद समकालीन पीढी माना गया था जिसने तथाकथित पाप व अनैतिक अनाचार को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की। दरअसल पश्चिम मे जिन लेखको का जीवन द्वितीय युद्ध की विभीषिका मे बीता उन्होने युद्ध के बाद जमकर आक्रोश व्यक्त किया। वे सारे मूल्यो को छिन्न-भिन्न करना चाहते थे और अकविता के लोगो को यह स्थायी निधि के रूप मे मिला। फ्रास मे जिसे 'आउट साइडर' कहा गय, अमेरिका मे यही पीढी

बीट जनरेशन के नाम से जानी गयी क्योकि इसमे भी प्रचलित के विरुद्ध तीव्र असन्तोष था। इनके समानानतर इग्लैण्ड मे Angry young man की पीढी आई। इन सभी मे व्यवस्था के प्रति इतना तीव्र असतोष है कि वे स्वय को किसी भी नैतिक उत्तरदायित्व से च्युत मानकर घुमक्कड और आवारा हो गये। ये समाज की स्थापित व्यवस्था से बुरी तरह ऊबे हुए थे, जिसे उखाड फेकना चाहते थे। इन सभी ने 'अकविता' को प्रभावित किया। सन् 1963 मे जगदीश चतुर्वेदी ने 'प्रारभ' नाम से एक काव्य सकलन प्रकाशित किया, जिसमे नयी कविता से अलग्योझे की भूमिका बनी थी। यह पुस्तक चार भागो मे विभक्त थी- नस्लहीन नगर और अधे लोग, कमजोर आवाजो और छटपटाते हाथ, आकाश के बाजुओ मे, सिलहुटी रूपाभास और अनजान रागनियॉ। यहाँ कवियो मे राजकमल चौधरी, जगदीश चतुर्वेदी, कैलाश बाजपेयी, नरेन्द्र धीर, केशु ममता अग्रवाल, श्याम परमार, विष्णुचन्द्र शर्मा, श्याम मोहन, मनमोहिनी, रमेश गौड, राजीव सक्सेना, स्नेहमयी चौधरी व नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी है। इसकी अनेक कविताएँ प्रयोग की दृष्टि से ताजा है। उनका कटेन्ट आत्मोन्मुख यौन भावना से अधिक सम्बन्धित है।

दरअसल, सच बात तो यह है कि जो आदमी बहुत बोलता है, उसकी जडे गहरी नही होती और वह कही से अपने आप को छिपा भी रहा होता है। 'अकविता' का पूरा ढॉचा ही अपने आप को छिपाने से लेकर जुडा हुआ है। 60 के दशक तक जो पीढी जवान हुई, उसने एक ओर नगर के वैभव से चकाचौध महसूस किया तो दूसरी ओर अपनी घुटन को भी समझा। उन्हे वास्तव मे उनकी महत्वाकाक्षा और यथास्थिति मे एक गहरी फाँक महसूस हुई जिसे वे पूरा करने की स्थिति मे न थे जिससे इस भावना को छिपाने के लिए उनके मन मे एक गहरी प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। उन्होने अपनी स्थिति का वस्तुनिष्ठ मूल्याकन न करके आत्मनिष्ठ मूल्याकन ही किया और

जैसा कि होता है, उनके मन के भीतर जितनी भी विकृतियाँ पैदा हो सकती थी, हुई, जिसने कविता के ढाँचे को ही तोड दिया। नयी कविता मे भी रचनाकारो का अपना अनुभव ही व्यक्त हुआ और अकविता मे भी। फर्क यह रहा कि नयी कविता तक काव्य के बारे मे एक गहरी रुचि थी जिसे कवि लोग वस्तु तत्व के तनाव को भाषा के माध्यम से छिपाना चाहते थे, किन्तु अकविता मे 'वस्तु' इतनी नग्न हो गई कि इसे छिपाना सभव न था। अकविता ने छिपाया भी नही किन्तु वस्तु का यह तनाव वास्तव मे रचनाकारो का अपना तनाव ही था। यह वह तनाव था जो वाह्य वास्तविकता और भीतरी यथार्थ के बीच के सम्बन्ध सूत्र के खो जाने के बाद पैदा होता है और इस स्थिति मे यह नकारात्मक तेवर का शिकार होता है। केदारनाथ सिह लिखते है 'सच्चाई हमेशा विधेयात्मक ढग से ही व्यक्त नही होती। प्रतिक्रियात्मक आवेग के कारण वह एक नकारात्मक तेवर की भगिमा धारण कर लेती है।[26] और यह नकारात्मक तेवर ही इन कवियो की सबसे बडी कमजोरी बन जाती है, क्योकि यह इन्हे जीवन मे तनाव की रचनात्मकता को सही ढग से देखने नही देता। इसके वृहत्तर सामाजिक सदर्भ नही उभर पाते और यह एक प्रकार के मैनरिज्म का शिकार हो जाती है। इन कवियो के पढने से ऐसा लगता है कि जीवन ठहर सा गया है, अब उसमे कोई सभावना नही है, जबकि जीवन तो सम्भावनाओ से युक्त है। यह अनुभव, वस्तुत उनका अपना भावबोध है लेकिन वह इतना मजबूत है कि वे दूसरे के भावबोध को अपने से अलग मानते ही नही। इस कारण से जहाँ इन कविताओ मे अपनी स्थिति का तीव्र अहसास है, वहाँ इस अहसास का अहसास नही है कि यह सिर्फ उनका ही हो सकता है। इस प्रकार से वे अपने भावो को अतिम मानकर चलते है-

याद करता हूँ बचपन तो एक बूढे गीध का चेहरा याद आता है
भूल गया हूँ शिवपुरी के खण्डहर, मालवे के मैदान

उज्जैन के कापालिक और नागपुर के सतरो के बाग

मै सब कुछ भूल गया हूँ

मेरे चेहरे पर रह गयी है धूल और तपिश

और झाइयॉ और नीले आसमान (जगदीश चतुर्वेदी)

जाहिर बात है ये कवि इस भूलने मे परिस्थिति को ही जिम्मेदार मानते है। वे अतीत की रक्षा नही कर पाने से बेहद क्षुब्ध है। इसके लिए अब उन्हे कोई उपमान नही सूझता और वे सारी नैतिकता को ही त्याग देते है। उनका पूरा जीवन भोग, मदिरा, आहार, मैथुन मे सिमटकर रह जाता है। इस स्थिति मे वे उस आदमी की तरह है जो परिस्थिति से ऊबकर अपने कमरे मे कैद हो गया और समझ बैठा कि बाहर कुछ भी नही है। वह न तो बार निकलकर परिस्थितियो से मुठभेड करने की स्थिति मे है और न ही भीतर रहकर सभी कुछ को स्वीकार कर ले। यही आत्महीनता की स्थिति मे धकेलता है-

मेरे शरीर का कोई अश निरतर सुनता रहता है

यह भी होता है कि हाथो की अनाम उँगलियाँ

जाने कहाँ से निकलकर काली सुर्खियो मे घुस जाती है

और अर्थ की अँतडियो मे जमे हुए जहर को

उनके पोर कुरेद कर ऊपर ले आते है

मस्तिष्क की दबी हुई गठानो पर तब

आग के शोले टकराते है

जिनकी आँच मे तुम्हारी ओढी हुई चाल को

बहुत आसानी से पहचान लेता हूँ।

सौमित्र मोहन की 'गर्भपुरा कथा' का प्रारभ इस प्रकार है-

औरत के पेट की सीवन उधेडकर/ उसने गर्भजल से अपना शिश्न धोया/ और बद कमरे मे घुटती साँस से कुछ मत्र पढने लगा/ या कोई वसीयत किसी की सतुष्टि के लिए।

तब यह अकारण नही है कि राजकमल चौधरी की मृत्यु पर (1966) शोक गीत लिखने वाले नागार्जुन व धूमिल भी रहे है। नागार्जुन ने तो लिखा है 'अच्छा किया उठ गये हो दुष्ट'। धूमिल ने लिखा-

'छत्तीस सालो तक गुप्त रोगो के इलाज की जडी ढूँढता रहा

वेश्याओ व गॅजेडियो के नीद भरे जगल मे

वह खोया हुआ देश था।

इस प्रकार की आत्महीनता की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि उसका रग इतना प्रभावी हो जाता है कि दूसरे उसे निरर्थक लगने लगते है और दूसरो की निरर्थकता मे अपनी सार्थकता को तलाशता हुआ वह और भी निरर्थक होता जाता है, क्योकि उसका सम्बन्ध अपने परिवेश से नही रहता। ऐसी प्रवृत्ति मनुष्य के लिए भयकारी होती है कि एक पत्ता खडका नही कि वे चौक जाते है, जैसे कि वे किसी अवैध प्रेम मे लिप्त हो और भागने की जल्दी हो। **अकविता का पूरा साहित्य इसी अवैध प्रेम की जल्दबाजी मे लिखा गया साहित्य लगता है।** इनके लिए-

पूरी की पूरी सृष्टि

बीमार योनि की तरह है

जिस पर पेड पौधे और हम सब

फुसियो की तरह उग आये है। (श्रीरामशुक्ल)

बावजूद इसके अकविता के साहित्यिक महत्व को नकारा नही जा सकता क्योकि ये वही कविताएँ है जिन्होने रूढ होती नयी कविता के भीतर विक्षोभ पैदा किया। इन कवियो ने समय के दबाव को गहरे महसूस किया और वस्तु के प्रत्यक्ष को सामने लाने की कोशिश की (हालाँकि अतिवादी हो गये)। यही प्रत्यक्ष जब व्यापक लोक सदर्भो से जुडा, तो साठोत्तरी कविता मे लोक सौन्दर्य की उपस्थिति का कारण बना। अकविता बहुत दिनो तक नही टिक सकी और इसे टिकना भी नही था। इसको प्रतिद्वन्दिता मिली लोक धर्मी कविता से जो जीवन की समग्रता को लेकर बढी थी। इस कारण अकविता जितनी जल्दी आई उतनी जल्दी चली भी गई। यह ध्यान देने की बात है कि साठोत्तरी हिन्दी कविता मे अकविता बहुत जल्दी आई और उतनी ही तेजी से गई, जबकि प्रतिबद्ध कविता का विकास धीरे धीरे होता है और देर तक चलता है।

4- प्रतिबद्धता बनाम सम्बद्धता : लोक तत्वों का रचनात्मक उपयोग

हमारे लिए यह महत्वपूर्ण है कि स्वाधीनता के बाद साठोत्तरी अराजकतावाद तक के इस काल मे प्रगतिविरोधी चेतना की अवस्थिति के बावजूद लोक चेतना की अत सलिला लगातार प्रवाहित होती रही है। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार नाथ अग्रवाल, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिह और स्वय मुक्तिबोध इस दौर मे कविताएँ लिख रहे थे और प्रयोगवाद तथा नयी कविता तक जो कविता जीवन के सकीर्ण घेरे मे सिमटकर रह गयी थी, वह 1965 से विशाल ग्रामीण जीवन की ओर मुडी। यूँ नयी कविता के दौर मे भी लोक चेतना प्रसूत कविताएँ लिखी जाती रही थी और 'अज्ञेय' की कुछ कविताओ मे इसके लक्षण भी मिलते है, किन्तु यह लोक, बाहर से देखा गया भी था। उसके मर्म तक पहुँचने की बेचैनी और इच्छा अभी उदय नही हुई थी, जबकि इसी के समानातर कुछ खास कवि निश्चय ही उसकी

मशाल जगाये हुए थे, जैसा कि हमने ऊपर कहा है। यह बात और है कि इनके ओर ध्यान ही 1964 के बाद गया। फिर क्या था, गॉव की कटु सच्चाइयो के आलोक मे एक एक कर आजादी, सविधान, ससद, चुनाव, लोकतत्र, समाजवाद, अहिसा आदि तमाम प्रतीको व आदर्शो पर सवाल उठने लगे। ये कविताएँ जहॉ एक ओर सवाल उठाती है, वही दूसरी ओर सवालो का समाधान भी प्रस्तुत करती है। यह लोक रचनात्मक व रक्षात्मक दोनो है और यही कविताएँ ठीक ठीक साठोत्तरी के लोक सौन्दर्य की पृष्ठभूमि भी तैयार करती है। यह प्रगतिवादी प्रतिबद्धता नही है, जो बाह्य सचालित है, बल्कि साठोत्तरी सम्बन्धता है जो स्वत स्फूर्त है और यह 1965 के एक दशक पहले से होता आया था। ये कविताएँ लोक तत्वो का रचनात्मक उपयोग करती है और मुक्तिबोध तथा रघुवीर सहाय इसमे प्रमुख है।

दरअसल इस समय की कविता को कुछ लोगो ने 'प्रतिबद्ध कविता' तो कुछ लोगो ने 'वाम कविता' कहा है। कही पर इसे 'चौथे दशक' की कविता से जोडकर 'नव प्रगतिवाद' भी कहा गया। इस समय मे 'वाम' और 'ओर' जैसी पत्रिकाये निकली, जिनमे 'युवा लेखन मे वाम' तथा 'समकालीन वाम लेखन' जैसे लेख भी प्रकाशित हुए। कुछ लोगो ने इसे जनवादी काव्य धारा भी कहा। लेकिन यह बात गौरतलब है कि इस समय की कविता केवल व्यवस्था विरोध की ही कविता नही है। उनमे व्यवस्था के परिवर्तन की समझ भी मिलती है और इसी कारण इन्हे हम पारम्परिक अर्थ मे वाम कविता या प्रतिबद्ध कविता नही कह सकते, क्योकि जैसा डा0 मैनेजर पाण्डे लिखते है कि 'शासक व्यवस्था को आधार मानकर धारणा बनाने का एक परिणाम तो यह हुआ कि अधिकाश रचनाये केवल व्यवस्था विरोध तक ही सीमित है। उनमे नकारात्मक प्रवृत्ति की प्रधानता ही दिखायी देती है।" जबकि सच तो यह है कि व्यवस्था के गतिशील तत्वो की गहरी समझ भी इन कविताओ की विशेषता रही है। इनमे

गहरी लोकोन्मुखता के दर्शन होते है और लोक का सघर्षधर्मी स्वरूप भी दिखायी देता है। इस कारण से ये कविताये 'लोकोन्मुखी' कविताये कही जानी चाहिए, क्योकि इसमे लोक जीवन से एक प्रकार की गहरी सम्बद्धता भी है। इन कविताओ मे लोक के सदर्भ मे अपने समय को अभिव्यक्त करने की बेचैनी भी दिखायी देती है, जिस कारण से इनमे 'कथातत्व' का प्रचुर समावेश भी दिखलायी पडता है। यह ध्यान देने की बात है कि इसमे अधिकाश वे कवि है जो आते तो ग्रामीण जीवन से है, लेकिन शहरी जीवन से बखूबी परिचित है। यानी इनकी लोकोन्मुखता शहरी जीवन से होकर जाती है और ऐसी स्थिति मे इनमे थोडी 'तटस्थता' भी दिखायी देती है। इनका **लोकोपयोग इसमे नही है कि ये लोक जीवन से जुड़े सभी मनुष्यों के समझ मे आने वाली है, बल्कि उन तथ्यों को स्पष्ट करने में है जो लोक मानस के समझ से परे है। अर्थात् ग्रामीण जीवन मे हो रहे जटिल बदलाव को पकड़ती हुई उसे अपने समय के सापेक्ष्य में देखती है।** इसी कारण इसमे लोक सदर्भ भी नये अर्थ लेकर आते है जिनसे कविता मे लोक सौन्दर्य का सचार होता है।

दरअसल ये कवि लोक वस्तु का एक गहरा सस्कार लेकर आये थे। उनमे ग्रामीण जीवन की एक गहरी समझ थी लेकिन उनका लोक जगत केवल ग्रामीण परिवेश से बना था। शहर को देखने के पश्चात इनके इस लोक जगत मे विस्तार होता है और 'लोक' थोडा बृहत्तर सदर्भ से जुडता शहर मे रहने वाले marginalized लोगो से भी जुडता है। पहले जिस लोक यथार्थ को **उसके परिवेश से जाना समझा जाता था, यहॉ पर परिवेश को लोक यथार्थ से जानने समझने का कार्य आरम्भ हुआ और तब इसमें कोई आश्चर्य नही कि लोक रूढ़ियों का क्षय हुआ और लोक मन व्यापक अर्थ ग्रहण करने में समर्थ हुआ।** परिणाम यह हुआ कि लोक का गतिशीलपक्ष कविता के केन्द्र मे आ गया और ऐसे भी कवि इसमे शामिल हुए

जो न तो मार्क्सवादी थे और न ही किसी लेखक संघ से जुड़े थे। कमोवेश यह बदलाव 1967 के बाद से देखा जा सकता है जिसमें राजनीति की एक केन्द्रीयता वाली धारणा चरमरा गयी थी जब विपक्षी सरकारों का उदय हो चुका था। हालाँकि इसका उदय हम साहित्य में मुक्तिबोध की मृत्यु (1964) से ही मानते हैं, जहाँ से लोक जीवन की यथास्थितिवादी प्रवृत्ति से संघर्ष की चेतना जागृत होती है। शायद यही कारण है कि नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध अचानक प्रासंगिक हो उठते हैं।

इस समय के कवि का लक्ष्य सबसे पहले अपनी मध्यवर्गीय कमजोरियों से मुक्ति के प्रयास में दिखायी पड़ता है जो व्यापक लोक संदर्भों से जुड़ने के लिए जरूरी थी। ग्रामीण जीवन में फैले जब वह विशाल जन समुदाय की ओर दृष्टि डालता है और शहरीकरण के दबाव में जनता को कुचक्र में फँसते देखता है तब उसे इस बात का स्वाभाविक अहसास होता है, कि ग्रामीण यथार्थ वह नहीं जिसे उसने समझा है। उसमें तो सत्ताधारी वर्ग की गहरी पैठ है जिसके कारण उन्हें अभाव, निर्धनता, महामारी आदि का शिकार होना पड़ता है। ऐसी स्थिति में लोक धर्मा कवि को महसूस होता है कि समय आ गया है जब यह कार्य दो स्तरों पर दिया जाना चाहिए- एक तो उस शोषक वर्ग की अमानवीयता का पर्दाफाश करने में जो ग्रामीण जीवन में अपनी घुसपैठ बनाकर जनता को बेवकूफ बना रहा है और दूसरी ओर ग्रामीण जगत के लोगों को संगठित करने में, जिस कारण से शोषण से मुक्ति मिल सके। एक कवि कहता है-

"मगर वे हैं कि असलियत नहीं समझते

अनाज में छिपे उस आदमी की नीयत

नहीं समझते

जो पूरे समुदाय से

अपनी गिजा वसूल करता है

कभी गाय से

और कभी हाय से।"

इस प्रकार ग्रामीण जीवन के यथार्थ मे विचौलिया वर्ग कैसे घुसता है और कैसे उनका नेता होने का दम्भ भरता है, यह इस समय की कविता का विषय है। गरीबी क्या चीज है, वह कितनी अकरुण है, कि उससे बच्चे तक मुक्त नही है- यह 'ऋतुराज' की "कोयला बीनने वाली लडकी की प्रेम कविता" मे देखा जा सकता है।

जड के अपने इतिहास मे

अँधेरे को लपेटने की कोशिश है

एक नन्ही बच्ची

जो पटरी पर नजर गडाये चली जाती है

इन बच्चो की जडें जले हुए कोयलो मे है

बिखरी गिट्टियो मे

और लोहे के पत्तरो मे'

इस या इस तरह की कविताओ मे कवि अपने आत्मपरक सौन्दर्यबोध से मुक्त होकर अपने लोकोन्मुखी सौन्दर्य मूल्यो को नयी परिस्थितियो मे नये पात्रो के सहारे पहचानता है और इस पहचानने के क्रम मे वह वर्तमान व्यवस्था की विषम परिस्थितियो को अपने पात्रो के माध्यम से व्यक्त भी करता चलता है। यही सौन्दर्य बोध, दरअसल, लोक के बदले सौन्दर्य को उसके वृहत्तर सदर्भ मे देखता है। इस आशय की कुछ कविताएँ 'लोकवार्ता' (श्रीराम तिवारी), 'जनशक्ति' (विजेन्द्र), रोटी (कुमारेन्द्र पारस नाथ सिह), वशज (ज्ञानेन्द्रपति) आदि प्रमुख है। इसी पहचानने के बाद कवियो ने व्यवस्था

से सघर्ष करने का आह्वान किया है जिसमे 'धूमिल' प्रमुख है। उनमे अद्भुत आह्वान परकता है-

'यह दीवार अब तुम्हारी आदत का हिस्सा बन गयी है

इसे झटक कर अलग कर दो

अपनी आदतो मे पुलो की जगह पत्थर भर दो

मासूमियत के हर तकाजे को ठोकर मार दो

अब वक्त आ गया है कि तुम उठो

और अपनी ऊब को आकार कर दो।'

ऐसी कविताओ मे सघर्ष के नारो से मुक्ति का प्रयास है। इसमे सघर्ष नारो को लेकर नही आया है, बल्कि नारो को छोडकर आया है। ऐसे ही समय मे 'आलोकधन्वा' लिखते है-

'यह कविता नही

यह गोली दागने की समझ है

जो तमाम कलम चलाने वालो को

तमाम हल चलाने वालो से मिल रही है'-गोली दागो पोस्टर

यह ही इस समय का सौन्दर्यबोध है जिसमे हल चलाने वाले अब कलम चलाने वालो के निकट आ रहे है। इस पर नक्सलबाडी आन्दोलन का प्रभाव तो अवश्य है, किन्तु यह कविता प्रचलित अर्थो में राजनैतिक नही है बल्कि राजनैतिक मुहावरो का प्रयोग करती बदली मानसिकता को व्यक्त करती है। दरअसल यहाँ का कवि कविता मे वक्तव्य देता है, तो इसका कारण सिर्फ इतना ही है कि वह 'वक्त' के लिए ऐसा जरूरी समझता है क्योकि घुमा फिराकर बात करना उसे बुद्धिजीवियो का छद्म

आभिजात्य ही लगता है जो जनता को बेवकूफ बनाने का कार्य करते है।

लेकिन असल मे बात इतनी ही नही है कि बहुत बोलकर इन कवियो ने समाज को बहुत दिया। निश्चय ही बहुत बोलने का परिणाम यह हुआ कि ये कवि अकवियो की तरह ही 'वस्तु' के बाहरी स्वरूप तक सीमित रह गये। उसके भीतरी मर्म को समझने के लिए जिस धैर्य की जरूरत थी, वह इनमे न थी। इसी कारण प्रवृत्ति बहुत जोर न पकड सकी। उसी समय मे और इन्ही कवियो मे स्वय, ऐसे पर्याप्त सकेत मौजूद है, जो चीजो के भीतर रहते हुए, उसके समस्त तनावो और अनगढता को पहचानते हुए पूरे धैर्य से काम करते है और लोक मन मे आ रहे परिवर्तनो को लक्षित करते है। इनमे समय की जटिलता मे जाने की सामर्थ्य है जिसके लक्षण केदारनाथ सिह, विजेन्द्र-धूमिल, की कुछ कविताएँ, ऋतुराज, जगूडी, ज्ञानेन्द्रपति, श्रीराम तिवारी आदि की कविताओ मे मिल जाते है। इन कवियो मे लोक चरित्र जमकर आते है जैसे ज्ञानेन्द्र पति की अपना बुधवा, श्रीराम तिवारी की 'लोक वार्त्ता', जगूडी की बलदेव खटिक, धूमिल की 'मोचीराम' आदि जिनकेमाध्यम से समय को समझने की गहरी ललक है और इसी कारण इनकी कविताओ मे लोक सौन्दर्य है।

इस लोक सौन्दर्य की भी अपनी खास वजह है। असल मे साठोत्तरी कवि और प्रगतिशील कवि की लोकधर्मिता का फर्क बेहद महत्वपूर्ण है। जहाँ पर प्रगतिशील कवि उत्तेजित होकर विचार (अनुभव) को तुरत ही क्रियात्मकता मे बदल देते है (जो मार्क्सवाद के सीधे दर्शन पर आधारित होता है) वही पर साठोत्तरी के लोकोन्मुखी कवि विचारो (अनुभवो)) को पहले सवेदनाओ मे और सवेदनाओ को क्रियात्मक आकृतियो मे बदलने की कोशिश करते है जिससे उनके भीतर का वस्तु जगत व तात्कालिक वस्तु जगत दोनो एक साथ स्पदित होते है।

साठोत्तरी हिन्दी कविता की इन विशेषताओ को समेटते और इसके मुहाने पर

स्थित कुछ कवि बेहद महत्वपूर्ण है जिनमे 'मुक्तिबोध' व 'रघुवीर सहाय' जैसे कवियो को लिया जा सकता है। इसमे मुक्तिबोध तो साठोत्तरी हिन्दी कविता के प्रेरणास्रोत ही है और 'रघुवीर सहाय, हालाँकि बाद तक लिखते रहे, लेकिन अपनी लोकतन्त्रात्मक जनपक्षधरता के कारण बेहद महत्वपूर्ण है जिनमे लोक के आधुनिक स्वरूप लोक तत्र की आतरिक विषगतियो को बडे ही तल्ख ढग से उभारा गया है। इस कारण से इन कवियो का थोडा विस्तार मे विश्लेषण भी अपेक्षित है।

मुक्तिबोध जो 1917 मे पैदा होते है और जिनकी मृत्यु 1964 मे होती है, रचनावली के प्रकाशन के पूर्व अपने दो सकलनो 'भूरी भूरी खाक धूल' और 'चाद का मुँह टेढा है' से हिन्दी कविता मे जाने पहचाने जाते है। इन सबमे उनकी 'अँधेरे में' कविता श्रेष्ठ मानी जाती है और जिसके पढने के बाद मुक्तिबोध की कविता के अतिम काल (1956-1964) की कविताओ को पढने की जरूरत नही रह जाती। ऐसा शायद इसलिए कि इस दौर मे लिखी बहुतेरी लम्बी कविताओ की परिणति ही ''अँधेरे में' कविता है जिसका स्वर अचानक नही आया है जब मुक्तिबोध लिखते है- 'वह रहस्यमय अभिव्यक्ति अब तक न पाई गई अभिव्यक्ति है।'

इनकी कविता का मूलाधार ही 'अँधेरे मे' कविता की इन पक्तियो मे मिलता है- 'लोक हित पिता को कर दिया वचित '। यह उन्हे भारतीय परम्परा की उस कविता से जोडता है, जो बाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, कबीर, सूर, तुलसी आदि की रही है। यही मुक्तिबोध का वास्तविक काव्यबोध है, जिसे वे बहुत बाद मे पहचान पाये थे, जब वे 1956 के आसपास से लम्बी कविताएँ लिखने लगे थे। यूँ कविताएँ तो वे 1935 से ही लिख रहे थे लेकिन जैसा कि श्री नेमिचद्र जैन ने लिखा है- '1935 से 1956 तक का काल कवि रूप मे मुक्तिबोध की तैयारी का काल रहा है, जिसमे वे अपना निजी मुहाविरा खोज रहे थे, बना रहे थे और माँज रहे थे[27]। पूरी कविताओ

को पढने के बाद पता भी चलता है कि जिस लोक चिता को मुक्तिबोध तलाश रहे थे, उसकी वास्तविक दिशा का पता अतिम दशक मे ही चलता है।

इस प्रकार मुक्तिबोध का केन्द्र मे आना ही वस्तुत नयी कविता से मोहभग बतलाता है या यह भी कह सकते है कि नयी कविता से मोहभग के साथ ही लोगो का ध्यान मुक्तिबोध की ओर गया। इसमे भी उनकी लम्बी कविताओ की "कथात्मक स्पदनात्मकता" ही महत्वपूर्ण रही। विजय कुमार ठीक लिखते है कि 'इन्होने वर्ग विभक्त समाज मे मध्यमवर्गीय बौद्धिक दोगलेपन और आत्ममुग्धता के खिलाफ जमकर सघर्ष किया। इनकी काव्य भाषा का खुरदुरापन भद्रलोक की नपी तुली और सयमित अभिव्यक्ति के खिलाफ जाता था।[28] इसी लेख मे वे आगे लिखते है कि 'साठ के आसपास मुक्तिबोध की तनाव भरी कविता सुगढता, सयम और परिष्कार के प्रचलित काव्य प्रतिमानो को धकियाते हुए केन्द्र मे आयी थी। इसमे भीनी भीनी व्यथा मे सिक्त नीम उजास नही, सिर चकरा देने वाला घना अँधेरा, बावडियो की गहराई और खण्डहरो की सुनसान भयावहता थी। अज्ञेय व उनके सेनापति भाषा मे सचाई को ढूँढते थे, जबकि मुक्तिबोध भाषा के द्वारा सचाई को ढूँढते थे" (उप0)। तब आशय स्पष्ट है कि 'मुक्तिबोध' भाषा मे रूढियो को न तोडकर भाषा के द्वारा रूढियो को तोड रहे थे और यही लोक का रचनात्मक सदर्भ है क्योकि लोक का बदला सदर्भ, उसका खुरदुरापन, उसकी अनगढता बगैर मुक्तिबोध के सभव न थी। इस प्रकार मुक्तिबोध के द्वारा लोक जीवन भाषा के बाहर आया जिसकी शुरुवात निराला ने पहले ही कर दी थी। बीच के दो दशको मे लोक मन लगभग भाषा मे कैद हो गया था जिसका परिणाम यह रहा कि अज्ञेय जैसे कवि भी इस आशय कि कविताएँ लिख रहे थे जिसका प्रमाण है- 'हरी घास पर क्षण भर'। मुक्तिबोध 55 के आसपास जो कविताएँ लिख रहे थे, उससे यह सिलसिला टूटा और 64 तक आते आते साठोत्तरी हिन्दी कविता के केन्द्र मे आ

गये।

केवल इस प्रसग को यदि उठाया जाय, तब पता चल जाता है कि क्यो मुक्तिबोध की कविताएँ एक झटके से आरम्भ होती है, झटके देती आगे बढती है और झटके के साथ समाप्त होती है। वास्तव मे मुक्तिबोध, उस जीवन को व्यक्त करने के लिए व्यग्र थे, जो छूट रहा था और कोशिश करते रहे कि पूरा कह सके, लेकिन हमेशा ही उन्हे अपनी अपर्याप्तता का बोध रहा। कभी कभी यह बोध खीझ के रूप मे भी दिखायी देता है और आह्वान के रूप मे भी। यहॉ पर उनकी यह कविता दृष्टव्य है-

'मेरे साथ

खडहर मे दबी हुई अन्य धुकधुकियो

सोच तो

कि स्पद अब ।

पीडा भरा उत्तरदायित्व भार हो चला,

कोशिश करो,

कोशिश करो,

जीने की,

जमीन मे गडकर भी।'[29]

इस कविता मे यह सम्बद्धता ही है, जिससे गुजरे हुए चेहरो की सार्थकता का पता चलता है और यह 'क्षय बोध' के रूप मे उभरता है किन्तु इस वस्तुगत क्षयवोध मे मुक्तिबोध को अपनी अभिव्यक्ति की अपर्याप्तता का भी बोध छिपा हुआ है जो दिखाता है कि वे हमेशा भाव को अभिव्यक्त कर भी असतुष्ट ही रहे है। इस कारण

से बहुत कुछ को कहने के चक्कर मे वे कविताओ की एक बुनियादी कमजोरी मे फॅसते चले जाते है, जिससे बाद की प्राय सभी लम्बी कविताएॅ एक मार्ग से गुजरती प्रतीत होती है। यह दूसरी बात है कि वह मार्ग की भीषड और भयावह है। इस सीमा से वे स्वय भी अवगत थे, जो कि उनके आलोचनात्मक लेखो से पता चलता है। वे लिखते है- 'लेखक को काव्य साधना मे काव्याभास मे- न केवल विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति का अभ्यास हो जाता है, बल्कि विशेष प्रकार की भाव सवेदनाओ का भी अभ्यास हो जाता है। क्रमश दोनो तरह के अभ्यास-भाव सवेदनाओ की अभ्यासात्मकता और अभिव्यक्ति की अभ्यासात्मकता- ये दोनो ही मिलकर लेखक की जिस प्रकार क्षमता बन जाते है, उसी प्रकार वे कठोर सीमा भी बन जाते है।'[30] कहना न होगा कि यह बात वे दूसरो की रचनाओ के सन्दर्भ मे उठाते है लेकिन इसका अहसास जैसा कि कभी कभी होता है, अपनी स्वय की रचनाओ से ही हुआ होगा। मुक्तिबोध इससे परिचित थे, हालॉकि इसके विरुद्ध उन्होने जमकर सघर्ष किया। यह सघर्ष जितना भाषा के भीतर है, उतना ही भाषा के बाहर भी है। यही बाद वाला सघर्ष कवियो द्वारा आत्म सात कर लोकबद्ध कवियो को सघर्षशील बनाता है। वास्तव मे 1956 तक मुक्तिबोध 'वस्तु की पहचान और सकल्पो के कवि लगते है जिसमे साधन जुटाते एक आदमी की कोशिश का आभास होता है।' वे कहते है 'जडीभूत ढाँचो से जरूर लडेगे हम/ चाहे प्रतिनिधि तुम/ चाहे प्रतिनिधि मै/ वैचारिक डीजल के इजनो को तोडेगे/ उडन्त घोडो से जरूर हम लडेगे/ चाहे प्रतिनिधि तुम/ चाहे प्रतिनिधि मै।'[31]

दूसरी कविता भी कुछ ऐसी ही है- 'यहाँ चरित्र विकास दृष्टि की सगति से है। असग निज वेदना/ सृष्टि की सगति से है'[32]। यहाँ प्रकृति के भूरेपन को मानवीकृत व सघर्ष युक्त किया गया है। 'जिन्दगी का रास्ता' (1952) लम्बी कविता भी इन्ही सकल्पो की कविता है जिसमे 'रामू' के माध्यम से 'सघर्ष' का ओजस्वी स्वर है।' बीसवी

सदी के इस पचासवे चरण के प्रयास मे/ दमन के घनघोर तुमुल अधकार बीच/ गगन मे उठते गरीबो के हाहाकार बीच/ रामू के सोये हृदय को/ किसी ने सत्य की शक्ति दी और 'हिम्मत की राह दी/ पूँजीवादी झूठ के विराट अत्याचार बीच'।" 'सूखे कठोर नगे पहाड' (1/247 रचनाकाल 1949-52) लम्बी कविता भी इसी विलुप्त की पहचान कराती है जिसमे नई लोक शक्ति की बडी उर्वर कल्पना है- 'कर अपने प्राणो मे अनुभव नव लोक शक्ति'। यहाँ भी 'भूरी भूरी खाक धूल' की तरह 'भूरा पदार्थ 'नव जाग्रत प्रतीक' के रूप मे आता है। यह एक प्रकार का क्षयबोध है जो निराला से लेकर अरुण कमल (सुख) तक की कविता मे मिलता है।

1956 के बाद की लिखी कविताओ मे मुक्तिबोध इन सकल्पो को क्रियान्वित करने की चेष्टा करते है, जिसके लिए लम्बी कविताओ का शिल्प साधते है। लेकिन यहाँ भी कठिनाई मे उलझ जाते है। ऐसा दर्शन व मिथक मे फँसने के कारण होता है। ये दर्शन व मिथक समकालीन जीवन सदर्भो मे हस्तक्षेप करते है, लेकिन वे समकालीन जीवन सदर्भो को इस तरह बुनते है कि अदर ही अदर घूमते रहते है। वस्तु के भीतर चलते ही जाते है। बाहर भी एक दुनिया है जो उनकी प्रतीक्षा कर रही है, यह वे भूल जाते है। दर्शन के इस प्रभाव व फैटेसी की अपनी रचना के कारण उनका मुक्त होना सभव न हो सका। इस समय की कविताओ जैसे 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' (1959), 'अत करण का आयतन' (1959) 'एक टीले और डाकू की कहानी' (1960), 'अधेरे मे' (1964) आदि मे इसे देखा जा सकता है। इन सारी कविताओ की यात्रा लोक मन की बीहड यात्रा है किन्तु दर्शनीकृत करने के कारण अदाज लगभग सबका एक सा है। 'अत करण का आयतन' मे 'सत् चित् वेदना' का फूल है, जो 'अधेरे मे' के 'सत् चित् वेदना' का मार्ग प्रशस्त करता है। इसमे लोक मन के प्रश्नो का जवाब देते देते मुक्तिबोध 'प्रश्न लोक' की भव्य इमारत

बना डालते है। 'एक टीले व डाकू की कहानी' (1960) तो जैसे 'अधेरे मे' के गुहान्धकार की यात्रा की कहानी है जिसमे कण कण है, 'चमक चमक उठते है' 'अधेरा है', 'सवेदन इलेक्ट्रान', 'इतने मे' जैसे शब्द है। 'अकस्मात' जैसे चौकाने वाले शब्द भी है। चकमक की चिनगारी (1961) मे 'ख्याली सीढियॉ है, हालॉकि जन सग उष्मा के स्तर पर 'मानव पुण्य धारा है, जो कुछ और नही 'लोक धारा' ही है। यहॉ शर्त है ही कि तय करो/ किस ओर हो तुम/ अब सुनहले उर्ध्व आसन के/ निपीडक पक्ष मे/ अथवा कही उससे लुटी टूटी/ ॲधेरी निम्न कक्षा मे तुम्हारा मन/ इसकी निष्पत्ति होती है ब्रह्मराक्षस (1962) और अधेरे मे (1964) जैसी कविताओ मे। 'ब्रह्म राक्षस' के साथ कवि होना चाहता है और 'अधेरे मे' का वह भी यही ब्रह्म राक्षस है जो कुछ और नही जीता जागता गरीब इसान ही है। लेकिन सकट फिर वही है कि इसे पाने के लिए कवि उतरता गुहान्धकार मे ही है जहॉ उतरते हुए उसे लगता है कि यह सपने मे घटित हो रहा है। *यानी सपने मे यथार्थ और यथार्थ मे सपना।* बच रहती है समय मे सपने की ध्वनियाँ, जिसे आगे के कवियो ने पकडा है। ये ध्वनियॉ ही कवि की सबसे बडी देन है और इसी मात्र से वे लोकबद्ध कवियो की कडी मे महत्वपूर्ण है। **सपना, यानी आशा यानी उम्मीद का बने रहना लोक मन की सबसे बड़ी ताकत है और मुक्तिबोध का कवि यहॉ हमें आश्वस्त करता है-**

नही होती कही भी खतम कविता नही होती

कि वह आवेग त्वरित काल यात्री है।

व मै उसका नही कर्ता

पिता धाता

कि वह कभी दुहिता नही होती

परम स्वाधीन है वह विश्व शास्त्री है।

गहन गम्भीर छाया आगमिष्यति की लिये

वह जन-चरित्री है।[33]

लोकमन की रचनात्मक अभिव्यक्ति से जुडे दूसरे महत्वपूर्ण कवि **रघुवीर सहाय** (1929-1990) है, जिनमे 'लोक' का राजनैतिक पक्ष उभरता है। ये कविताएँ तो बाद तक लिखते रहे, किन्तु साठोत्तरी कविता की पृष्ठभूमि मे ये महत्वपूर्ण है क्योकि इनमे सत्ता का प्रतिपक्ष उभरकर सामने आता है। इनके सकलन है- दूसरा सप्तक (1957), सीढियो पर धूप मे (1960), आत्महत्या के विरुद्ध (1967), हँसो हँसो जल्दी हँसो (1975), लोग भूल गये है (1982), कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ (1989), एक समय था (1990)। इनकी प्रारम्भिक रचनाओ मे व्यवस्था की भीतरी विषगतियो को उघारने की एक चेष्टा दिखलाई पडती है और लोकतत्र के प्राय हर रूप का वे मजाक उडाते है। सत्ता या राजनीति के प्रतिपक्ष मे खडे होकर व्यवस्थागत असगति को पकडते है। एक तरह का रक्षात्मक भाव उनकी कविताओ मे आद्योपात मिलता है। चीजो को समझने की बेचैनी और छटपटाहट कवि को लोक रूढियो की तोडने की ओर बढने के लिए प्रेरित करती है, लेकिन यह प्रेरणा सामान्य मनुष्य का व्यवस्था के सापेक्ष (युक्त) ही मूल्याकन करने को विवश करती है। *व्यवस्था से मुक्त सामान्य आदमी का रूप क्या होगा, यह रघुवीर सहाय नही समझ सके थे। ऐसा कविता को एक खबर की तरह इस्तेमाल करने के कारण ही हुआ।* 'वस्तु' की भीतरी व्यवस्था को को न पकडकर 'व्यवस्था' मे विद्यमान 'वस्तु' को उन्होने पकडने की कोशिश की। मुक्तिबोध अवश्य 'वस्तु' के भीतर घुसते है और उसकी आतरिक व्यवस्था को पकडने की कोशिश करते है लेकिन वे घुसते हुए घुसते चले जाते है और उसी के चक्कर लगाते रहते है। वे यह भूल जाते है कि उन्हे बाहर भी आना है और जब कभी बाहर आते भी है, तो ऐसा दिखलाते है जैसे अभी तक वे स्वप्न मे चल रहे थे अर्थात्

भीतरी विषगति को बताने के लिए उन्हे स्वप्न या फैटेसी का सहारा लेना पडता है। जाहिर बात है मुक्तिबोध 'वस्तु' की व्यवस्था के कवि है, तो रघुवीर सहाय 'व्यवस्था' की वस्तु के कवि है। *वस्तु की व्यवस्था और व्यवस्था की वस्तु की सागोपाग मीमासा अभी शेष थी जिसे बाद के कवियों ने किया है।* ऐसा लोक जीवन के मार्मिक प्रसगो की उद्धावना के कारण हुआ है।

अब यदि *रघुवीर सहाय* की कविताओ के क्रमिक विकास को देखे, तो पता चलता है कि 'पहला पानी' (1948 दूसरा सप्तक मे सकलित कविता) लोक सौन्दर्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, लेकिन बाद मे यह क्रम छूट जाता है। इस कविता का मूल स्वर ही यही है-

फिर मिट्टी मे जीवन की आशा जागी है
गलते है दकियानूसी मिट्टी के ढेले
पिछली फसलो की गिरी पड रही है मेडे
सारे अनबोये खेतो की उजली धरती
अब एक हुई, स्वीकार कर रही है जब तक
गुरु आज्ञा सा।
जितनी बूँदे
उतने जौ के दानो होगे
इस आशा मे चुपचाप गाँव यह भीग रहा है
खडे-खडे
चौपालो बँगलो मे बैठे
जन देख रहे है जल का गिरना

चिडिया चुनगुन से टुकुर-टुकुर'

यह कविता जन मानस के सामान्य क्रिया व्यापारो को बखूबी उकेरती है, लेकिन बाद मे राजनीतिक व्यवस्था इन पर भारी पडने लगती है और कविता राजनीति के इर्द-गिर्द घूमने लगती है। शायद स्वतत्र भारत मे राजनीति के बढते प्रभाव के कारण ही ऐसा हुआ हो। इसका उदाहरण 1950 मे लिखी कविता 'इतने मे किसी ने' देती है, जिसमे नवयुग की आजादी की अवस्थाओ पर खीझ भरा व्यग्य किया गया है। इसमे तीव्र अस्वीकार है-

मेरी प्रतिभा का कही मान नही, छि छि यह

नवयुग आजादी का, नवयुग की आजादी!

इसमे सहाय जी ने 'पीढियो के अतराल' को पकडा है, जो मूलत. उपन्यासो का विषय होता है। कहाॅ 16 सेर वाले दादी का दिन और कहाॅ यह आजादी का नयापन! यह खीझ, व्यग्य और समयान्तराल बाद ही बाद की कविता मे प्रधान होता गया। मोह भग की भावना ने शिकजा कसा। इस प्रकार ये नयी कविता के दौर के महत्वपूर्ण कवि बने रहे, हालाॅकि लोकतत्र की गहरी समझ रखने के कारण लोकजीवन के अवसादो को पकडने की कोशिश हमेशा ही करते रहे। 'सीढियो पर धूप मे'' की अन्य कविताओ मे 'पढिए गीता' 'हमने यह देखा', 'नारी', 'धूप' आदि कविताएँ महत्वपूर्ण हैं। अगले सकलन 'आत्महत्या के विरुद्ध' (1967) मे भी यही विषगति उभार पाती है जिसकी 'अधिनायक' कविता महत्वपूर्ण है जिसमे 'हरचना' के माध्यम से मनुष्य की निरीहता पर व्यग्य किया गया है। इसमे 'लोक मे राजनीति और लोक की राजनीति' को प्रश्न के माध्यम से उभारा गया है जिसमे सत्ता पक्ष की समूची मानसिकता का पता चलता है। यह भी सकेत किया गया है कि भूखा आदमी नारा नही चाहता। भोजन चाहता है। इस प्रसग मे वे ऐतिहासिक मान्यताओ को ही चुनौती देते है **'राष्ट्रगीत में भला**

कौन वह/ भारत-भाग्य-विधाता है/ फटा सुथन्ना पहने जिसका/ गुन हरचरना गाता है.../' यहाँ सब कुछ तद्भव मे है जिसके माध्यम से तत्सम के स्वरूप को पहचाना गया है। इसी सदर्भ से वे 'आत्महत्या के विरुद्ध' कविता मे लोक का रचनात्मक पक्ष उभारते है- 'कुछ होगा कुछ होगा अगर मै बोलूँगा '। 'हरचरना' की जगह 'रामलाल' आ जाता है। यह क्रम आगे बढता है और 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' (1975) मे यह पहचान और भी तीव्र हो जाती है, जहाँ 'रामदास' आता है जिसकी 'हत्या' एक खबर बनती है। यहाँ भी बडी सधी भाषा मे 'लोक की राजनीति' को पकडा गया है-

'चौडी सडक गली पतली थी

दिन का समय घनी बदली थी

रामदास उस दिन उदास था

अत समय आ गया पास था

उसे बता यह दिया गया था उसकी हत्या होगी'[34]

'लोग भूल गये है' (1982) मे यह पहचान और व्यग्य और भी तीव्र होता है जिसमे 'स्त्री' जीवन की विषगतियो को महत्व दिया गया है (स्त्री, लोग भूल गये है आदि कविताएँ) यहाँ भी 'दयाशकर' आता है जिसके माध्यम से गरीबी की सीमाओ का सकेत किया गया है। अपने अतिम दो सकलनो 'कुछ पते कुछ चिट्ठिया' (1989), 'एक समय था' (1990), तक आते आते रघुवीर सहाय यह बतलाने की कोशिश मे सफल होते है कि आज की राजनीति सच्चाई को कैसे देखती है। इस दृष्टि से 'ठढ से मृत्यु' कविता बेहद महत्वपूर्ण है जो बहुत पहले 1972 मे लिखी गयी है, किन्तु जो सकलन मे 1990 मे छपा है-

'फिर जाडा आया, फिर गर्मी आई

फिर आदमियो के पाले से लू से मरने की खबर आई

न जाडा ज्यादा था न लू ज्यादा

तब कैसे मरे आदमी

वे खडे रहते है तब नही दीखते

मर जाते है तब लोग जाडे और लू की मौते बतलाते है।[35]

तब सुरेश शर्मा ठीक लिखते है कि स्थूल घटनाओं के बीच अनुभव के नये रूप को उद्‌घाटित करने की यह चेष्टा है,[36] और ये अनुभव ही इनकी काव्य सवेदना है।

इस प्रकार हम देखते है रघुवीर सहाय मे लोक व जनता का एकीकृत रूप मिलता है, क्योकि उनकी दृष्टि 'व्यवस्था' से होती हुई व्यक्ति तक जाती है। राजनीति की छद्मता को जब जब पकडने की कोशिश की जायेगी, तब तब रघुवीर सहाय की कविता हमे याद आयेगी।

संदर्भ सूची

1 डा0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - साठोत्तर हिन्दी साहित्य का परिप्रेक्ष्य - पृ0 2।

2 भारत भूषण अग्रवाल - 'कवि की दृष्टि' - पृ0 122।

3 डा0 जगदीश गुप्त - नयी कविता स्वरूप व समस्याएँ।

4 भारत भूषण अग्रवाल - मुक्तिबोध और उनकी कविता।

5 डा0 नामवर सिह - 'कविता के नये प्रतिमान'।

6 डा0 परमानन्द श्रीवास्तव - 'नयी कविता का परिप्रेक्ष्य'

7 डा0 केदार नाथ सिह - धर्मयुग 4 जुलाई 1969।

8 निर्मल वर्मा - भारतीय लेखक और शासन तत्र - देवेन्द्र इस्सर द्वारा सपादित 'विद्रोह व साहित्य' मे सकलित।

9 मुक्तिबोध रचनावली - 5/426, रथ के दो पहिये - 'साहित्य व राजनीति'

10 मुक्तिबोध रचनावली 5/298 - 'नयी कविता - एक दायित्व'

11 उप0।

12 उप0।

13 विजय कुमार -साठोत्तरी हिन्दी कविता - परिवर्तित दिशाएँ - पृ0 17 प्रकाशन सस्थान, दिल्ली।

14 मुक्तिबोध नये साहित्य सा सौन्दर्यशास्त्र।

15 मुक्तिबोध - रचनावली 5/164, 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र'।

16 मुक्तिबोध -रचनावली 5/309, छायावाद व नयी कविता - 2।

17 मुक्तिबोध - समीक्षा की समस्याये - नयी कविता का आत्म सघर्ष।

18 विजय कुमार -साठोत्तरी हिन्दी कविता - परिवर्तित दिशाएँ।

19 अकविता - 1।

20 डा0 ललित शुक्ल - नया काव्य, नये मूल्य - पृ0 247, मैकमिलन कम्पनी, नई दिल्ली 1975।

21 वही।

22 अकविता - 3, 'सकेत'।

23 अकविताक - पृ0 11।

24 ललित शुक्ल, वही।

25 आलोचना - जन-मार्च 1968।

26 वही।

27 नेमिचद जैन - रचनावली भाग - 1, भूमिका।

28 विजय कुमार कविता की सगत - पृ0 39।

29 मुक्तिबोध - एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्म कथन - 1939।

30 मुक्तिबोध - समीक्षा की समस्याये, नयी कविता का आत्म सघर्ष।

31 मुक्तिबोध - 'जडीभूत ढाँचो से लडेगे' - रचनावली 1/393 - नागपुर - अप्रकाशित कविता।

32 मुक्तिबोध - 'भूरी भूरी खाक धूल' - 1955-56।

33 मुक्तिबोध - चकमक की चिनगारी - 1961।

34 रघुवीर सहाय - 'रामदास' 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' मे सकलित कविता - 1975।

35 रघुवीर सहाय - 'एक समय था' मे सकलित कविता।

36 सुरेश शर्मा - भूमिका - 'रघुवीर सहाय - प्रतिनिधि कविताएँ'।

अध्याय -4

साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक सौन्दर्य

(क) प्रवृत्तिगत विशेषताएँ-

पिछले अध्ययन मे हमने देखा कि स्वतत्र भारत मे कविता और राजनीति के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया के बीच अटूट रिश्ता बनता है और **जैसे जैसे लोकतात्रिक विकेन्द्रीकरण (Democratic decentralization)** ***की प्रक्रिया को बल मिलता है, वैसे वैसे हिन्दी कविता में लोक जीवन की अभिव्यक्ति का भाव प्रबल होता जाता है।*** यह दूसरी बात है कि राजनैतिक सरचनाओ व सस्थाओ के सदर्भ मे यह प्रक्रिया बहुत हद तक सफल नही मानी जा सकती किन्तु कविता मे निश्चय ही यह उभार तेजी से बढता है और यह साठोत्तरी हिन्दी कविता (1964) मे बढता ही जाता है। यह भी महज सयोग ही है कि 1959 मे बलवत राय मेहता समिति की रिपोर्ट के साथ 'लोकतात्रिक विकेन्द्रीकरण' की प्रक्रिया आरम्भ होती है जिसे तब सबसे पहले राजस्थान ने लागू किया था और 1968 तक करीब सभी राज्यो ने इसे मान लिया था। यह भी महज सयोग ही है कि यह प्रक्रिया भारत के उस पश्चिमी राज्य (राजस्थान) से आरम्भ होती है, जहाँ साहित्य के लोकधर्मी प्रवृत्ति की समृद्ध परम्परा रही है। यही समय (1959-68) साठोत्तरी हिन्दी कविता के विकास का भी है, जिसने अपने को जहाँ एक ओर नयी कविता की राजनीति से अलग किया, वही लोक जीवन को अभिव्यक्ति भी दी।

इस प्रकार राजनीति का 'लोक' की ओर झुकना वस्तुत जन मानस की भावनाओ के बढते दबाव का परिणाम रहा है और इसने साठोत्तरी कवियो को भी प्रेरित किया।

जो कवि अभी तक लोकतत्र की राजनीति के विविध पहलुओ की काव्यगत मीमासा कर रहे थे, उसकी आतरिक विसगतियो को उभारने की कोशिश कर रहे थे, वे भी अब राजनीति के लोकतत्र की ओर मुडे और लोक जीवन के रचनात्मक पक्ष को अभिव्यक्त करते हुए जनता के सघर्ष व जीवन को अपने काव्य का विषय बनाये। इस समय न केवल नयी कविता के दौर के कवियो ने ऐसी रचनाये लिखी, बल्कि प्रगतिवाद के दौर के कवि भी इन नये कवियो व युवतर कवियो का साथ दिये और कवियो के बीच पीढियो का अतराल लगभग पटता सा नजर आता है जो लोक मन की अभिव्यक्ति का सबसे बडा कारण है और प्रमाण भी। इन कवियो की कविता मे वस्तु 'लोक' की व्यवस्था व व्यवस्था (राजनीति) की वस्तु, दोनो पक्षो का उभार एक साथ मिलता है। जाहिर बात है पहले मे लोक जीवन कैसा चल रहा है, उसकी अभिव्यक्ति है और दूसरे मे लोकतत्र मे लोक जीवन कितनी सहभागिता कर पा रहा है, यह उभर रहा होता है। अर्थात् लोक का स्थूल और गतिशील दोनो पक्ष। इन्ही कारण से 'लोक सौन्दर्य' भी इस समय की कविता मे उपस्थित होता है क्योकि इस समय का लोक रक्षात्मक के साथ रचनात्मक भी है। यानी स्थिति और आकाक्षा के द्वन्द्व से एक प्रकार का सघर्ष सदैव उपस्थित रहता है।

लेकिन ऐसा नही है कि 70 के बाद आने वाले सारे कवियो मे लोक धर्मी चेतना ही मिलती है, राजनीति की उधेडबुन नही। कुछ कवि अपनी परम्परा मे राजनैतिक सत्ता को ही अभी भी अपने काव्य के केन्द्र मे रखे थे और यह अतर नयी कविता मे और उसके समानातर लिखने वाले कवि रघुवीर सहाय की परम्परा मे देखा जा सकता है। नयी कविता मे 'सत्ता' की विरूपताओ को पकडने वाले रघुवीर सहाय की परम्परा मे धूमिल, लीलाधर जगूडी, विष्णु खरे से लेकर 90 के दशक के कवि विमल कुमार सजय चतुर्वेदी और देवी प्रसाद मिश्र तक आते है, जबकि 'सत्ता' के

समानातर 'लोक' मन की भावनाओ व उसके सघर्षमय जीवन को अभिव्यक्ति देने वाले साठोत्तरी हिन्दी कविता के महत्वपूर्ण कवि केदारनाथ सिह की परम्परा मे विजेन्द्र, ऋतुराज, ज्ञानेन्द्र पति, अरुण कमल, आलोक धन्बा, गोरखपाण्डे, से लेकर 90 के दशक के निलय उपाध्याय व एकात श्रीवास्तव तक आते है। इस प्रकार साठोत्तरी हिन्दी कविता मे यह **दो धारायें** एक साथ दिखायी देती है जिनमे दूसरी धारा ने अतत पहली को अपने मे समा लिया और प्रवृत्तियो की यह निकटता ही अतिम दशक की उपलब्धि रही है। अत नवोत्तरी काव्य परिदृश्य 1947 से चली आ रही 'फॉक' को पाटने की कोशिश मे देखा जाना चाहिए जिसके उदाहरण मे हम कुमार अबुज व निलय उपाध्याय को रख सकते है। इसके पहले यह कोशिश ज्ञानेन्द्र पति व राजेश जोशी मे मिलती है और इसके पहले निराला मे।

इस पृष्ठभूमि मे साठोत्तरी हिन्दी कविता का मूल्याकन सहज हो जाता है। इस अध्ययन मे हम पहले साठोत्तरी हिन्दी कविता की लोकधर्मिता का आरम्भ व विकास दिखायेगे, फिर लोक सौन्दर्य के कारक तत्वो की पडताल करेगे और फिर कुछ विशिष्ट कवियो का मूल्याकन।

वास्तव मे यदि प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के क्रमिक विकास को देखा जाय, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रयोगवाद का जन्म, प्रगतिवाद की तुलना मे एक प्रकार से 'प्रतिरक्षा' के भाव से हुआ है। 'प्रतिरक्षा' से आशय यह है कि प्रगतिवाद पर मार्क्सवाद का जो स्थूल सिद्धान्त लागू कर दिया गया था, उससे कविता का मूल भाव खण्डित होने लगा। देश परतत्र था, फिर भी स्वतत्रता की आग तो धडक ही रही थी। इसी 'बाह्य-प्रभाव' की प्रतिरक्षा मे प्रयोगवाद आया, जिसमे व्यक्ति अपने भीतर झाँकना आरम्भ कर दिया। 'सिद्धात' के विरुद्ध 'व्यक्ति' की निजता की पहचान की जाने लगी। यह निजता, जितनी व्यक्ति के निजीपन से सम्बद्ध थी, उतनी

ही अपने निकट के भाव से, अर्थात् वही अनुभूति प्रामाणिक थी, जो उसकी अपनी थी और इसीलिए 'अनुभूतियो की वैविधता' का भाव उछाले मारने लगा। यह व्यक्ति मानस का प्रवेश जैसे ही गहरा होता जा रहा था कि देश आजाद हो गया और तब यह लगने लगा कि व्यक्ति की इतनी निजता स्वय के लिए घातक होगी। यूँ भी देश आजाद हो गया, अत 'प्रतिरक्षा' का भाव भी जाता रहा। अब कवि की चिता का कारण समूचा राष्ट्र था। मध्यवर्गीय जीवन की विषगतियो की तरफ कवियो का ध्यान गया। कुछ आदर्श कल्पनाये की जाने लगी। यही मध्यवर्गीय जीवन अनुभूतियॉ धीरे धीरे devolve होती गई और 60 के बाद कविता के 'ग्रामीणी यथार्थ' की अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त की। अब कवि राष्ट्र को अपनी चिता के केन्द्र मे लाने के पहले अपने 'लोक जीवन' को कविता के केन्द्र मे पहले लाये जो 70 के बाद तेज होता गया। तब जैसा कि भक्तिकाल के आरम्भ मे होता है, वही यहॉ भी हुआ। भक्तिकाल मे 'राष्ट्र (मुस्लिम) के स्थिर बन जाने से कविता मे (हिन्दू) मे शौर्य व वीरता के गुण की सभावना न बची, और कवि का ध्यान भगवान की शक्ति व करुणा की ओर गया। यहाँ 70 तक आते आते 'राष्ट्र' की स्थिरता के बाद कवियो का ध्यान लोक जीवन की ओर गया क्योकि भगवान मे विश्वास करना अब सभव नही था। लोक मनुष्य ही अब भगवान हो गये। कवियो को शहरी जीवन मे काव्य की सभावना क्षीण लगी और वे लोक जीवन की ओर मुडे। **यूॅ भक्तिकाल का भक्तिवादी लोक जीवन 70 के आस पास के लोकवादी भक्ति जीवन में परिणत हो गया। यह स्वाधीन भारत की हिन्दी कविता काल में एक प्रकार का 'लोक जागरण' ही है।**

यूँ तो साठोत्तरी कविता की **पृष्ठभूमि** का मूल्याकन हम कर चुके है, लेकिन यहाँ पर कुछ रचनाओ के सन्दर्भ से इसका उल्लेख करना अप्रासगिक न होगा। इस

रूप मे 1959 का वर्ष महत्वपूर्ण है। इसमे **श्रीकांत वर्मा** की एक कविता लिखी गयी है- 'घर-धाम' जिसमे कवि आरम्भ मे ही कहता है- "मै घर जाना चाहता हूँ।" इसमे तत्कालीन युवा मानस का विक्षोभ सहज ही लक्षित किया जा सकता है और 1962 के बाद हिन्दी कविता मे जिस मोहभग की बात कही जाती है, उसकी एक झलक इसमे मिलती है। इस कविता मे कहा जाता है- "मै घर जाना चाहता हूॅ/ मै जीना चाहता हूॅ/ मै जीवन को भासमान करता चाहता हूॅ/ मै कपास चुनना चाहता हूॅ/ या फावडा उठाना चाहता हूॅ/ मै अपने पास/ अपना एक लोक रखना चाहता हूॅ।" इसमे घर की याद से अधिक नागरिक जीवन के बढते हुए परायेपन की चीख है। यहॉ कवि जडो को पाना चाहता है। इन्ही जडो को उसकी कविता 'भटका मेघ' (1957) मे भी देखा जा सकता है, जिसकी कविताएॅ धरती के प्रति एक खास ललक दर्शाती है। 'मै अषाढ का पहला बादल/ शताब्दियो के अतराल मे घूम रहा हूॅ/ बार बार सूखी धरती का सूखा मस्तक चूम रहा हूॅ।'

इन्ही जडो की ललक *'तीसरा सप्तक'* (1959) मे भी दिखायी पडती है। इसका प्रकाशन एक महत्वपूर्ण मोड कहा जा सकता है क्योकि इसका पूरा ढॉचा ही अपनी जातीय चेतना के लक्षण से युक्त है। लोक भाषा और लोकप्रिय भाषा, दोनो का प्रचुर प्रयोग इसमे मिलता है। नयी कविता और प्रतिबद्ध कविता के मिले जुले रूपो के बीच प्रतिबद्ध कविता ही आगे बढती है जिसमे लोक धर्मिता का प्रभाव लगातार बढता जाता है। अकविता के प्रभाव से इस लोकधर्मिता का प्रभाव थोडा आक्रामक होता है, जिससे सघर्ष पक्ष का उदय होता है।

वास्तव मे 'तीसरा सप्तक' के बहुत सारे कवि, जो बिल्कुल नये थे, अपनी इन्ही जडो की तलाश मे निकलते हैं। इसकी कुछ विशेषताएँ निम्नवत है-

(क) पहली यह कि अज्ञेय की 'हरी घास पर क्षण भर' के लोक मन का प्रभाव

यहॉ पर है। प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी व मदन वात्स्यायन मे उनके शिष्यो जैसा है, साही व कुँवर नारायण मे मिथको मे घुला मिला है, केदार नाथ सिह व सर्वेश्वर मे लोक मन की ओर झुकाव है। कहना न होगा, कि केदार जी बराबर व बरबस इसी ओर झुकते चले जाते है, जबकि शेष या तो मिथको से चिपके रहते है या फिर लिखना बद कर देते है (प्रयाग, कीर्ति, मदन) या फिर क्रातिकारी तो जाते है (सर्वेश्वर), क्योकि उनकी भावगत अभिव्यक्ति के लिए लोक की चेतना अपर्याप्त लगती है।

(ख) दूसरी बात यह कि ऊपर के सारे कवियो मे (केदार जी को छोडकर) लोक मन की प्रस्तुतियॉ तो है, किन्तु लोक अदाज गायब है। लोक अदाज, यानी कहन की शैली, लगभग नदारद है। ये, अज्ञेय की तरह ही, चितित होने से अधिक चितन करने वाले कवि लगते है। 'मनन' अधिक करते है। 'लगन' कम है।

(ग) तीसरा यह कि लोक शब्दो की नक्शासी की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। **ऐसा उनकी लोक संस्कार से विच्युति का कारण ही है। ऐसा लगता है कि सहसा विपत्ति में पड़ने पर या याद आने पर कोई लड़का जैसे 'माई-माई' चिल्लाने लगता है, वैसे ही ये कवि भी कविता के सकट को समझकर 'गॉव-गॉव' चिल्लाने लगते है।** यदि इससे कोई मुक्त था, तो निश्चय ही केदार व उनकी कविताएँ। सर्वेश्वर तो थे ही।

कुँवर नारायण की पहली कविता ही 'ये पक्तियॉ मेरे निकट' लोक सदर्भो को लेकर आगे बढती है जिसमे कवि कहता है कि कविता पक्तियो के लिए वे स्वय उनके पास गया था। जहाँ गया था वह क्या था-

'कुछ दूर उडते बादलो की बेसँवारी रेख

या खोते, निकलते, डूबते, तिरते

गगन मे पक्षियो की पॉत लहराती

कभी भी पास मेरे नही आये

मै गया उनके निकट उनको बुलाने।[1]

किन्तु इसके बाद वह इनको दर्शनीकृत कर देता है, यह कहता हुआ कि- 'क्योकि मुझमे पिण्डवासी/ है कही कोई अकेली सी उदासी / 'ऐसे ही सकेत इनकी अन्य कविताओ मे मिलते है जैसे- शाहजादे की कहानी, 'घर रहेगे'।

साही की कविता मे भी लोक सदर्भो को दर्शनीकृत या मिथको तक उठाने का लक्षण मिलता है। रात मे गाँव, इस घर का यह सूना आँगन, माघ 10 बजे दिन, नये शिखरो से, कविताएँ इनकी 'तार सप्तक' मे सकलित अच्छी कविताएँ है। इन सभी मे लोक सदर्भो का प्रचुर समावेश है किन्तु कही कही दर्शन या अमूर्तन की झलक मिलती रहती है और यही आगे की कविताओ मे विकास पाती है। यह 'टीम-मेट' का शायद प्रभाव ही था, हालाँकि साही विचारधारा के स्तर पर समाजवादी लोहियावादी है।

सर्वेश्वर की कविता मे लोक रूढियो से मुक्ति का प्रयास है और लोक जीवन की रचनात्मकता को पकडने की समझ है, किन्तु आक्रोश का धधकता गोला भी है जो सयमित नही होने देता। रातभर, सौन्दर्यबोध, चुपाई मारो दुलहिन, एक हल्का सा मेघ, सुहागिन का गीत, 'तीसरा सप्तक' मे सकलित इनकी महत्वपूर्ण कविताएँ है। दूसरी ओर *केदार नाथ सिह* मे लोक जीवन की समझ और उसकी सयमभरी रचनात्मक अभिव्यक्ति के लक्षण मिलते है जो इनकी बाद की कविताओ मे बढते ही गये है। इनमे 'विषय की मूर्तता व रूप की सक्षिप्तता' के लक्षण विद्यमान है जो इनकी कविता मे विम्बो के प्रतिफलन ही है। 'धुँए' को भी गदराया हुआ कहना और फिर उसके घने होते जाने का सकेत करना, (आँखे खुली, दिखा आगे पथ मुडता मुडता/ पार

क्षितिज के चला गया था, ज्यो गदराया/ धुआँ हो चले घना 'पथ' कविता) कवि के अपने रास्ते का सकेत देता है। इस रास्ते पर सुहावने दिन भी है (धानो का गीत, फागुन का गीत) तो दर्दीले दिन भी है (दुपहरिया, रात)। कही ये स्मृति से काम लेते है, कही प्रत्यक्ष से। ऑगन का महत्व इनमे बढता है (दीपदान) इसी ऑगन मे ये दीया जलाते है और इसी दीये को जलाना इनकी वास्तविक चिता है। वह दीया, जो काजल पारता है। **वह काजल जो बुरी नजरो से बचाता है। वास्तव मे रोशनी की चकाचौध में दीये को देखना और उसमे भी उसकी टिमटिमाहट को, एक बड़ी बात है। यह ही इनकी लोकधर्मिता का केन्द्रीय सम्वेदन है।**

इस प्रकार हम देखते है कि 1959 स्वय मे आगामी हिन्दी कविता के लोकधर्मी स्वरूप का सकेत देता है। यह क्रम आगे बढता जाता है और इतिहास की घटनाएँ भी इसका साथ देती है मसलन 'तार सप्तक का पुनर्मुद्रण' (1963), भारत-चीन युद्ध (1962), मुक्तिबोध की मृत्यु (1964), नेहरू की मृत्यु (1964) आदि। यह लोकधर्मी स्वरूप, अपनी पूर्ववर्ती प्रगतिवादी अवधारणा से भिन्न भी होता है जिसका मूल्याकन थोडा अपेक्षित होगा।

प्रगतिवादी और साठोत्तरी हिन्दी कविता की लोकधर्मिता

हम यह कह आये है कि साठोत्तरी हिन्दी कविता की यह एक निजी विशेषता है कि लोक चेतना के कवि पश्चिम की प्रतिरोधी सस्कृति के रूप मे कवि कर्म मे तत्पर रहते आते है जिस कारण देशज-ठेठ अनुभव इनकी निजी विशेषता रही है। अपनी स्थानीय रगत के लिए ये कवि जितना ही अपने परिवेश का चित्रण, वर्णन या विवरण प्रस्तुत करते है आरम्भ मे उससे कही अधिक बाहरी प्रभावो से बचने की कोशिश करते है। इस रूप मे इनकी आरम्भिक लोक सम्पृक्तता परायेपन के बोध

की प्रतिफल थी जिसमे एक लाचारी भरी उत्फुल्लत थी परन्तु यह धीरे धीरे कम होता गया है, जिससे कह सकते है कि साठोत्तरी हिन्दी कविता लोक जीवन मे बढते आत्म विश्वास की प्रतिफल है। जडो के प्रति इसकी ललक ने इसको जीने के लायक बनाया या कि जीने की चाह पैदा की। इसी चाह के बीच इसने अपना मार्ग तलाशा, जिसका प्रभूत विकास आगे की कविता मे होता है। यह वही कविता है जिसमे अपने मिट्टी के विविध रग है, उसकी अनुगूँजे है। ये कविताएँ सामान्य हल्की फुल्की स्थितियो के बीच से उभरती है और अपना प्रभाव छोडती है।

इस रूप मे कह सकते है कि साठोत्तरी कविता वस्तुत प्रगतिवादी रुझान का परिवर्तित उठान ही है। यह बात और है कि यहाँ के कवि लोक जीवन को थोडा 'वस्तुनिष्ठ' ढग से देख रहे होते है, हालाँकि वे 'प्रेक्षक' न होकर, वस्तु के 'परीक्षक' ही है। वस्तुनिष्ठता से आशय थोडा दूर से देखना है और ऐसी स्थिति मे, जैसाकि होता है, 'नकारात्मक पक्ष' ही अधिक उभरता है, क्योकि दूर से देखने पर जो 'तटस्थता' आती है, उससे कवि एक मूल्याकन की स्थिति मे होता है। यह नकारात्मक पक्ष, यहॉ बखूबी दिखायी देता है और इसी मे सघर्ष की चेतना का उत्स भी है। **नकारात्मकता और उससे उत्पन्न संघर्ष, सकारात्मक परिणति की ओर ले जाते है और इस रूप मे यह कविता सकारात्मक व इस कारण सर्जनात्मक है। प्रगतिवाद से यहॉ पर इसका अतर स्पष्ट है।**

1 प्रगतिवाद मे 'अनुभूतियो का स्थानीकरण' होता है। साठोत्तरी की इस लोकबद्ध धारा मे थोडा आगे बढकर 'स्थानीकरण की अनुभूतियाँ' मिलती है, जो अपनी स्थानीयता मे उससे जुडे एक वृहत्तर जीवन सदर्भ पकडती है। इस कारण से इनकी कविताओ की सरचना थोडी जटिल भी होती है जिससे जीवन की जटिलता की पकड सभव होती है। केदारनाथ सिह लिखते है 'आप विश्वास करे/ मै कविता नही कर रहा।

सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूँ/ वह पक रही है/ और आप देखेगे/ यह भूख के बारे मे आग का बयान है/ जो दीवारो पर लिखा जा रहा है'[2]। यह वास्तव मे स्थानीयता को व्यापकता प्रदान करना ही है।

2 प्रगतिवाद मे लोक जीवन के प्रति सम्पृक्तता का भाव सहज था, नैसर्गिक था, जबकि साठोत्तरी के आरम्भ मे यह परायेपन के बोध से सचालित था। बाद मे यह कम हो गया।

3 प्रगतिवादी लोक धर्मिता वर्गबद्धता के खॉचे मे फिट की जाने लगी थी, जिसने रातो रात समाज को बदलने की भावना को जगाया। इस कारण उसमे धैर्य व सयम की कमी थी। साठोत्तरी कवियो ने इस 'झटकुआ अदाज' से अपने को मुक्त रखा और बदलने से अधिक उस 'बदलते पैटर्न' को समझने की कोशिश की। इसके लिए अपेक्षित धैर्य इसमे था।

4 प्रगतिवाद मे सघर्ष से अधिक आक्रोश था, जिससे वह अल्पायु ही रहा। साठोत्तरी मे सघर्ष ही है, जो 'आत्म' भी है और 'बाह्य' भी। इन्होने स्थितियो को, उनके पैटर्न को समझने के लिए भी सघर्ष किया और उन्हे बेहतर रूप मे लाने के लिए भी। पहले मे धैर्य अपेक्षित था, दूसरे मे उत्साह। धैर्य व उत्साह, यूँ साठोत्तरी कविता की विशेषता है। इसे लोक चरित्रो मे, लोक रूढियो से मुक्ति के प्रयास मे देखा जा सकता है। लोक सौन्दर्य का कारण भी यही है क्योकि कविता को नारे की तरह ये इस्तेमाल नही करते। न ही आलोचक की तरह। कविता मे सब कुछ बदलने के साथ कविता को कविता के रूप मे ही देखते है। कविता मे जीवन को बदलना इनका ध्येय है, न कि जीवन के लिए कविता को ही बदल डालना। ऐसा इनकी कविता के बीच 'तनाव' मे देखा जा सकता है।

यही कारण है कि ये कविताएँ रूढ अर्थ मे प्रकृति या लोक की कविताएँ नही

है। जिन्हे 'लोक सपृक्ति' की कविता मानकर छोड दिया जाता है। *डा0 केदार नाथ सिह* ठीक लिखते है कि 'ये कविताएॅ केवल प्रकृति या रूढ अर्थ मे लोक अनुभव की कविताएॅ नही है। ये समकालीन बोध की सुपरिचित परिधि को तोडने वाली कविताएॅ है और इस तरह आज की हमारी हिन्दी कविता की बनी बनाई अवधारणा को थोडा छिन्न भिन्न करने वाली कविताएँ है।[3]

इस पृष्ठ भूमि पर साठोत्तरी हिन्दी कविता मे लोक सौन्दर्य की **विशेषताओ** का मूल्याकन किया जा सकता है।

1 दरअसल साठोत्तरी कविता के इस 'लोक सौन्दर्यवादी' रुझान की एक बडी विशेषता यह है कि नयी कविता के दौर मे 'शहर' के बल खडी कविता को 'गॉव' के बल खडा कर दिया गया और जो आखे शहर की सीमाओ मे आबद्ध होकर 'सत्ता' के प्रतिपक्ष मे उलझी हुई थी, उनके अदर सत्ता से इतर-जमीन की ओर ताकने की इच्छा का भाव जगाया। इस तरह गॉंव व शहर के बीच जहॉ भावनात्मक दूरी कम हुई, वही लोक जीवन पर हो रहे उत्पातो का खुलासा भी हुआ और इस लोक जीवन के बीच अब सामान्य मनुष्य की प्रतिष्ठा हो सकी। इस मनुष्य से इतर लोक जीवन के जितने भी प्रतिरूप रहे, मसलन परम्परा, रूढि, प्रकृति, रीति-रिवाज सब के सब मनुष्य रूप मे रूपान्तरित होते रहे और रूपातरण की यही प्रक्रिया साठोत्तरी कविता मे लोक सौन्दर्य का कारण बनती है, जहाँ लोक जीवन का सौन्दर्यबोध गतिशील हो जाता है।

2 इस प्रकार हम कह सकते है कि साठोत्तरी कविता, हिन्दी कविता के उस सधि स्थल पर है जहाँ एक ओर नयी कविता की अतिशय आत्म केन्द्रीयता है, तो दूसरी ओर इससे मुक्ति का प्रयास भी। इसी आत्म केन्द्रीयता ने प्रकारान्तर से आगे लोक केन्द्रीयता के भाव को जगाया। नयी कविता का अनुभव जगत अवश्य व्यापक

था, किन्तु यह सत्ता या फिर शहर की विविध अभिव्यजनाओ मे ही सिमट कर रह गयी थी। हर कवि अपने द्वारा अनुभव किये गये अनुभव को ही सर्वोपरि मानता था, जिससे अनुभवो का एक अनियत्रित अबार खडा हो गया। यही यथार्थवाद बाद मे अतियथार्थवाद का रूप धारण करता है, जहॉ सब कुछ के निषेध की बात उठायी गयी थी। यही अकविता को जन्म देता है और इसी के समानातर लोकधर्मी कविता विकसित होती है जिसने लोक वैविध्यता को चुना।

3 इस कविता की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि इसके बढते सौन्दर्यबोध से अश्लीलता का भाव कम होता है, क्योकि इसने शब्द की अभिव्यजना शक्ति को बढाया है। फूहड मजाक वही करते है, जिनके पास शब्द का दारिद्रय होता है। ऐसा ही अकविता ने किया। इसके बनस्पति लोकधर्मी कविता ने 'शब्द शोधन' के माध्यम से अपनी बात कही जिसमे एक गम्भीरता है। इस रूप मे लोक सौन्दर्य के बढते प्रभाव के कारण कविता अश्लील से श्लील होती गयी है।

4 यह भी महत्वपूर्ण है कि ये कवि सौन्दर्य को ठूँस-ठूँस कर नही भरते, बल्कि विषय वस्तु के **आपसी सम्बन्धों** के आधार पर ही सौन्दर्य (तनाव) को विकसित होने देते है। इस रूप मे जितना सौन्दर्य पक्तियो मे होता है, उतना ही समग्र कविता मे। ऐसे कवि (जो कि 70 के बाद बहुत है) किसी कोणीय आधार पर लोक वस्तु को नही रचते, बल्कि इसकी विषय वस्तु को आपस के सम्बन्धो मे इस तरह से रखते है कि वह सौन्दर्य की उद्भाषक हो सके। केदारनाथ सिह से लेकर अरुण कमल तक ने इसे अपने ढग से साधा है। ज्ञानेन्द्र पति इसे 'शब्द-प्रसरण' के माध्यम से साधते है जिनमे वस्तु को शब्दो के आपसी सम्बन्धो मे फैलाया जाता है। यह लोक सदर्भो के प्रति गहरी ललक का ही परिणाम है।

5 इन कवियो की विशेषता 'लोक मिथको से मुक्ति के प्रयास' मे भी देखी

जा सकती है जो लगातार बढती है। यह लोक आकर्षक नही है, बल्कि यह वह लोक है जो चमकने से अधिक खुरदुरा है और स्थायी से अधिक गतिशील है। ठण्डा से अधिक तप्त है और मूक से अधिक मुखर है। यहाँ मिथक, किसी अतीत के सम्मोहन से नही लाये जाते, बल्कि वर्तमान की जरूरत के परिणाम स्वरूप ही प्रतिफलित होते है और यथार्थमूलक सदर्भो से जुडकर ही आगे बढते है। अत 'लोक यहॉ इतिहास के रास्ते आगे नही बढता, बल्कि अपना वर्तमान ही उसके लिए महत्वपूर्ण होता है। इसकी आधुनिकता भी, इसकी मूल जडो से छनकर आती है[4]। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन व त्रिलोचन के सन्दर्भ से आगे डा0 केदार नाथ लिखते है कि 'इस धारा के कवियो मे परम्परा के खोज की वह बौद्धिक बेचैनी दिखायी नही पडती, जो आधुनिकतावादी कवियो मे दिखायी पडती है। असल मे परम्परा इनकी सवेदना, सोच न भाषा मे अतर्निहित है क्योकि जिन जनपदीय स्रोतो से उभरकर ये कवि आये है, वहॉ परम्परा कोई अलग से खोजी जाने वाली वस्तु नही है। वह वहॉ रोजमर्रा के सघर्षो मे बनती, छीजती और पुनर्निर्मित होती है।[5]'

इस प्रकार साठोत्तरी हिन्दी कविता की जातीय स्मृतियॉ, जडो की ललक आदि जो आई है वे आज तक विद्यमान है और वे स्वागतयोग्य है। इनका आना स्वाभाविक भी है क्योकि कविता के लिए वास्तव मे अब यही छोटी छोटी स्थानीय जगहे हमारी पकड मे आती है। ये अब इतनी मोहक हो गयी है कि इनमे अपने समय की पूरी खबर रहती है। हर वस्तु अब अपनी 'लघुता मे ही विशाल' है और इसी लघु के व्यापकत्व को पकडना लोकधर्मी कविता का निहितार्थ रहा है। हालॉकि अभी भी कुछ कवि (90 के दशक मे भी) 'तनावहीन' कविताए लिख रहे है और समकालीन कविता मे एक 'दस्तावेज' की तरह दर्ज होने की कोशिश मे है। किन्तु ये अवाछित कारणो की उपज है जो 'बाढ' के ओहरने के साथ ही दिख जायेगे। कोई आश्चर्य नही कि

पपडी की तरह ये जगह जगह फट जायँ। किन्तु जिन्होने इस रूढि को तोडा है, वे बेहद महत्वपूर्ण है। केदारनाथ सिह, ज्ञानेन्द्रपति, अरुण कमल, आलोकधवा, राजेश जोशी, वीरने डगवाल, मगलेश डबरवाल से लेकर निलय उपाध्याय तक मे इसे देखा जा सकता है। इसका आरम्भ निश्चय ही डा0 केदारनाथ सिह से होता है।

इन विशेषताओ के परिप्रेक्ष्य मे अब हम साठोत्तरी हिन्दी कविता मे लोक-सौन्दर्य के *लक्षणो* के बारे मे अपनी बात कर सकते है। लोक सौन्दर्य से हमारा आशय क्या है इसे हम अध्याय 1 के अतर्गत स्पष्ट कर चुके है। यदि इस आधार पर साठोत्तरी हिन्दी कविता का मूल्याकन करे, तो यह ज्ञात होता है कि इस समय की कविता का लोक सौन्दर्य धूमिल व रघुवीर सहाय के बीच केदारनाथ सिह की कविता से आरम्भ होकर आगे बढता है। कहना न होगा कि धूमिल मे सत्ता एक अमूर्त इकाई थी। इन्होने भाषा को एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया जिनमे जनता से जुडने की सदायशयता तो मौजूद है, लेकिन वे अपने ही वृत्त मे कैद है। ये क्राति तो चाहते है, किन्तु इसकी ठोस सामाजिक दृष्टि की कोई निश्चित अवधारण इनके यहाँ नहीं मिलती। दूसरी ओर रघुवीर सहाय सत्ता के विविध रूपो को पहचानने की कोशिश करते है और सत्ता व व्यवस्था के भीतरी अतर्विरोधो को उभारते है। ये सुपरस्ट्रक्चर के अतर्विरोधो को जानते हुए भी मध्यमवर्ग से जुडी एक जटिल कविता का निर्माण कर रहे थे। इनके बारे मे विजय कुमार लिखते है कि 'मध्यमवर्गीय जीवन स्थितियो के झरोखो से शेष शोषित समाज को बहुत बेचैनी के साथ निरखने वाले रघुवीर सहाय के यहॉ reconcile न कर पाने की समस्त बौद्धिक बारीकी नैतिक स्तर पर एक अव्यक्त लाचारी मे reduce हो जाती है। समूह से रागात्मक जुडाव उनके यहा भी नहीं[6]। इस प्रकार धूमिल और रघुवीर सहाय की काव्य सवेदना जहाँ सत्ता के विरोध मे एक प्रकार से **विडम्बनामूलक संदर्भो** के बीच पनपती है, वही केदार नाथ सिह की काव्य सवेदना

इनसे अलग हटकर 'जीवन-बोध' के गहरे रूप के साथ आगे बढती है। ये मध्यमवर्ग की सार्थक-निरर्थक भूमिका के चक्कर मे पडकर शक्ति के उन श्रोतो की तलाश मे लगे थे, जो मनुष्य की रचनात्मक शक्ति व गरिमा दोनो को जिला सके और इसके लिए वे अपनी जडो मे प्रविष्ट करते है। लोक इनके यहाॅ कोई अमूर्त इकाई भर नही रह गया है, बल्कि वह जीता जागता इसान है। वास्तव मे अपनी सवेदना को मूर्तमान (मूर्तरूप) करने की इच्छा ही इन्हे 'लोक' सदर्भो व लोक स्थितियो की ओर ले जाती है। इनका लोक स्थिर न होकर, अपने को लगातार बदल रहा है और इनकी कोशिश यही रही है कि 'ग्रास रूट पर चल रही अमानवीकरण की प्रक्रिया को जाँचा परखा जाय।' इनकी काव्य चेतना लोक जीवन के असख्य व्योरो, स्मृतियो, कथाओ, जन विश्वासो से निर्मित हुई है। यहाॅ यह सरल रैखिक, रागात्मकता अपने पूरे घनत्व मे मौजूद है। इसके लिए उनकी सवेदना त्रिलोचन, नागार्जुन से होती निराला से रस खीचती है। इसी पृष्ठभूमि पर वे 'सत्ता लोक' के द्वन्द्व को अपनी कविताओ मे बखूबी उकेरते है जिनसे लोक सौन्दर्य का पता चलता है। इनमे एक ऐसी रागात्मक तटस्थता का रूप मिलता है, जो रोजमर्रा के जीवन को पकडती तमाम विसगतियो के बीच मनुष्य के भीतर के **रचनात्मक सौन्दर्य** को पकड लेती है।

दरअसल, इनके कवि ने बडी शिद्दत से महसूस किया कि राजनैतिक पार्टियो की अदला बदली से दूर और चुनाव के झमेले मे पडकर, जनवादी मूल्यो को बचाने का कार्य समाज के भीतरी परतो, उनकी जडो मे होना चाहिए, जो कि पिछले तीन दशक से छूटते रहे है। यह एक प्रकार से शक्ति की पुर्नस्थापना की तलाश हो थी, जिसका विकास 70 व 80 के दशक मे खूब होता है। 90 का दशक तो इस शक्ति के सघनित स्वरूप को व्यक्त करता है। यह केदारजी के पहले सकलन मे ही स्पष्ट है। अभी बिल्कुल अभी (1960) और इसके ठीक पहले 1959 मे प्रकाशित 'तीसरा

सप्तक' की कविताओ मे भी इसे देखा जा सकता है। 'अभी बिल्कुल अभी' पर लिखते डा0 नामवर सिह ने लिखा है कि ' ये चित्र विकसित सौन्दर्यबोध के सूचक है और इसकी सामर्थ्य उसी कवि मे हो सकती है जो खुली सवेदना से दिशाओ को सूँघकर पहचान लेता है[7]।' आगे वे लिखते है कि 'केदार झकझोरते नही, धीरे से कँपाते है। एक हलका कम्पन, एक हलका स्पर्श- यही उनकी अभिरुचि है।' (उपरिवत) इस रूप मे इनके यहॉ 'जडो की ओरे जाने की जो ललक मिलती है, उनसे यह पता चलता है कि 'पूँजीवादी' व्यवस्था मे 'विस्थापन' कितना कष्टकारी सिद्ध हुआ है। इनकी कविताओ से यह स्पष्ट होता है कि 'जडो की ओर वापसी' कोई रूमानी प्रवृत्ति का शौकिया मिजाज नही है, बल्कि अपने जीवन के परम्परागत स्रोतो को समझने की प्रक्रिया है,उन स्रोतो को जो बाजार व व्यवस्था का विकासशील अवधारणा मे कही खो से गये है। इसीलिए इनका कवि विम्बो के माध्यम से वस्तु को चित्रित करता है, कोई विवरण नही देता।

केदारनाथ सिह की कविताओ मे उपर्युक्त आधारो पर लोक सौन्दर्य का लक्षण प्रचुर मात्रा मे मिलता है। इनसे आरम्भ हुई इस प्रवृत्ति मे इनके समकालीन विजेन्द्र व ऋतुराज के साथ परवर्ती रचनाकारो ने भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है जिसमे 70 व 80 के दशक के मान बहादुर सिह, ज्ञानेन्द्र पति, राजेश जोशी, आलोक धन्वा, अरुण कमल, मगलेश डबराल, गोरखपाण्डे, वीरेन डगवाल, नरेन्द्र जैन और 90 के दशक के स्वप्निल श्रीवास्तव, निलय उपाध्याय, एकात श्रीवास्तव, बद्री नारायण, बोधिसत्व प्रमुख है। हालाँकि इनमे से हर कवि की अपनी भाषाई विशेषताएँ है, फिर भी लोक सदर्भो के प्रति सम्पृक्तता के आधार पर वे एक मच पर है। अदाज सबका अपना है, लेकिन निगाहे एक ही ओर है वे वही है कि कैसे जड हो रही जडो को गतिशील व उर्वर किया जाय। इन सब में एक देशी किस्म का राग और जीवन के आतरिक

सौन्दर्य को देखने का साहस है। अब इन पर विचारधारा का अतिरिक्त दबाव नही रहता। यह एक प्रकार का 'लोकीय विकेन्द्रीकरण' है। इनके माध्यम से मनुष्य के बुनियादी राग व ऐन्द्रियता को बचाने पर बहुत जोर है, हालाँकि सच तो यह भी है कि बाद मे (विशेषत 80 के उत्तरार्ध से) नयी पीढी मे एक सरलीकरण की प्रवृत्ति भी दिखायी देती है। लोक चित्रण, कुछ कुछ प्रदर्शन की तरह आने लगा और कही कही सस्ते माल की तरह जिसकी बाजार मे खपत सभव है। कविता कुछ कुछ उत्सवधर्मी होती गयी। इस पर विजय कुमार बडी रोचक टिप्पणी करते है। 'सरकारी प्रतिमानो ने, सरकारी निर्देशो पर कला सस्कृति के क्षेत्र मे उत्सवधर्मी लोक सस्कृति को बढावा दिया, जो चीजो से उसकी मूल अर्थवत्ता को समाप्त कर उन्हे सिर्फ प्रदर्शन की वस्तु मे बदल, डालती है यह ऊपरी तौर पर प्रगतिशील भी लगती है क्योकि इसमे लोक जीवन व ऐन्द्रिकता की गध महसूस होती है किन्तु अपनी पूरी 'एप्रोच' मे यह कविता लोक जीवन को किसी डिपार्टमेण्टल स्टोर मे रखे जाने लायक चमकदार व सुघड बना देती है[8]।

ऊपर के विश्लेषण से यह बहुत स्पष्ट है कि नयी कविता और इसके समानातर चलने वाली साठोत्तरी कविता की लोक धर्मिता मे एक मौलिक अतर समय व सास्कृतिक बोध को लेकर है। इससे साठोत्तरी कविता मे *दो धाराओ* का पता चलता है। वास्तव मे समय और सस्कृति बोध केवल इतना ही नही है कि अपने समय की सस्कृति व वर्तमान कालिक परिवेश की अभिव्यक्ति मात्र से काम चल जाय, बल्कि इससे भी अधिक जरूरी होता है, 'समय व सस्कृति मे हो रहे परिवर्तन को लक्षित करना। **यह चेष्टा ही लोकधर्मी कवियों की विशेषता है,** क्योकि उनकी कविताओ मे 'समय' से क्रिया तो है ही, गुजरे समय से अब तक हो रहे परिवर्तनो की प्रस्तुतियाँ भी है। यही प्रस्तुतियाँ ही 'नयी कविता' की मानसिकता से इन्हे अलगाती है।

नयी कविता वास्तव मे राजनैतिक बोध की कविता रही है, जो कि पुराना न होकर बिल्कुल नया है क्योकि भारत एक नया राज्य है। जाहिर बात है इस राजनैतिक बोध की कोई परम्परा नही हो सकती और जो है भी, वह पराधीनता की है जिसमे सम्पृक्तता का भाव सम्भव ही नही है। इस कारण से इन कवियो के पास निखालिस अपना समय है जिस कारण से इनमे 'सत्ता' की विरूपताएँ ही अधिक मिलती है। (जैसे कि रघुवीर सहाय मे)। इसके पीछे व इसके बीच के परिवर्तनो का कोई स्पष्ट बोध दिखायी नही देता और जो दिखायी भी देता है (मसलब पराधीनता का साम्राज्य) वह भी विरूपित ही है। **यह नयी कविता की सबसे बड़ी सीमा है।**

दूसरी ओर साठोत्तरी हिन्दी कविता के लोकधर्मिता का एक लम्बी परम्परा है जो अनादिकाल से चली आ रही है। लोक वस्तु की विविध अभिव्यजनाएँ सदियो से मिलती रही है जिनमे अच्छाई-बुराई दोनो के गहरे लक्षण मौजूद है। अत. साठोत्तरी के इस धारा के कवियो के लिए यह आसान था कि अपने समय का मूल्याकन पिछले समय व सस्कृति बोध के सापेक्ष कर सके। इससे आगामी समय की गूँज भी इन्होने पकडने मे सफलता हासिल की है। इनका भीतर की ओर झुकाव ही एक ओर जहाँ कविता को कविता रहने देता है, दूसरी ओर आने वाले समय की आहट भी देता है।

इन दो धाराओ को रघुवीर सहाय व केदार नाथ सिह मे देखा जा सकता है। पहले की धारा मे सत्ता प्रमुख है और ये जडो व परम्परा की चिता नही करते। विष्णु खरे, धूमिल, लीलाधर जगूडी से लेकर 90 के दशक के विमल कुमार, सजय चतुर्वेदी, देवी प्रसाद मिश्र व कुमार अबुज तक मे इसे देखा जा सकता है। दूसरी धारा मे लोक पक्ष प्रमुख है जिसके लिए इन सब मे जडो की गहरी ललक है और जीवन का बडा फलक है। विजेन्द्र, ऋतुराज, ज्ञानेन्द्रपति, अरुणकमल से होकर निलय उपाध्याय व एकात श्रीवास्तव तक मे इसे देखा जा सकत है। यूँ 90 के दशक मे यह विभाजन

करना कठिन है, क्योकि दोनो प्रवृत्तियाँ एक दूसरे के निकट आयी है। प्रवृत्तियो की यह निकटता ही अतिम दशक की उपलब्धि है, क्योकि यहाँ के कवि मे राज्य सत्ता से लेकर लोक चेतना तक के उभार देखे जा सकते है। शायद इसका कारण यह हो कि अतिम दशक तक आते आते राज्य थोडा पुराना पड गया है (50 साल के बाद)। समाज तो पुराना था ही। अत अब ये दोनो ही बगैर किसी विभाजन के सामने आते है। **अत: नवोत्तरी काव्य परिदृश्य ने 47 से चली आ रही 'फॉक' को पाटने की कोशिश की है।** सभव है अगली शताब्दी मे यह फॉक पूरी तरह पट जाय। कविता का चेहरा तब शायद और भी सुन्दर लगेगा। ऐसी प्रवृत्ति फिलहाल कुमार अबुज, देवी प्रसाद मिश्र व निलय उपाध्याय मे दिखायी पडती है। इसके पहले ज्ञानेन्द्र पति मे और राजेश जोशी मे मिलती है। इसके पहले निराला मे। निराला शायद इसीलिए आज की कविता के केन्द्र मे है और यह 1997 के उनके जन्म शताब्दी समारोह से स्पष्ट है।

इसके साथ यहाँ पर कविता के आगामी विकास की सीमाओ की भी जानकारी अपेक्षित है। यह बताना जरूरी है कि केदार नाथ सिह व रघुवीर सहाय की काव्यगत परिपक्वता आगे के कवियो मे कही कही लडखडाई भी है। स्वय केदार नाथ सिह बाली लोकधर्मिता, जैसा कि कहा गया है, बाद के कवियो मे विकसित होती आई है, किन्तु वह 'लय' जो शब्दो के भीतर चलती है, जो अनुभुतियो की लय होती है, बाद के कुछ कवियो में छूट गयी है जिससे उनमे अतिशय उतावली के कारण 'विचलन' दिखायी पडता है। यही पर अपनी इस परम्परा का विभाजन भी दिखायी पडता है जिसे एक प्रकार 'नव-रूढिवाद' ही कहा जा सकता है, जहॉ लोक जीवन की प्रस्तुतियॉ भर है, उनकी अनुभूति प्रवण झकृतियाँ नही है। इस लय का लोप वडा खतरनाक है और ऐसा इन कवियो का कविता की पूर्व परम्परा के ज्ञान न होने से ही है। *इन*

कवियो को धान की जडो मे जाने के साथ हिन्दी कविता की जडो मे भी जाने की जरूरत है, तभी सच को नये सिरे से सुनने की सामर्थ्य मिल सकेगी।

दूसरी ओर रघुवीर सहाय की परम्परा भी इसी सरलीकरण का शिकार हुई है। रघुवीर सहाय ने जिस खबर को साधा था, उसमे 'वस्तु' के मौलिक स्वरूप का उद्घाटन होता था। कविता खुलती थी, बढती न थी। बाद के बहुत से कवियो मे कविता सिर्फ बढने लगी जिससे कवि कर्म की सार्थकता ही खतरे मे पड गई। बाद के कवियो ने इसे इतना अधिक खीचा कि उसकी elasticity ही समाप्त हो गई। इस प्रवृत्ति के सबसे अद्भुत जीव प्रयाग शुक्ल व गिरधर राठी है और भी बहुत से कवि है, जो धीरे धीरे 'उत्तर-आधुनिक' हो गये। स्वय विष्णु खरे इससे नही बच पाये। गगन गिल जैसे महिलाओ का अधिकाश लेखन भी इसका शिकार हो गया क्योकि इन सबमे 'अनुत्तेजक फैलाव' है, जो भूमि की अनुर्वरता का परिणाम रहा है। अब या तो इनको भूमि का सज्ञान (कविता का मूड) ही नही है, या फिर भूमि ही ऊसर है!

इस पृष्ठभूमि, विशेषताओ और लक्षणो के आधार पर अब हम **साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक सौन्दर्य के रूपों** का मूल्याकन कर सकते है। इसके पश्चात हम कुछ विशिष्ट कवियो का मूल्याकन करेगे।

1 एक रूप तो वहाँ मिलता है जहाँ कवि निर्जीव वस्तुओ मे जीवन तलाशता है क्योकि यह लोक जीवन को उसकी अतिमता मे बचाने का उपक्रम है। पहले के कवि, उनके अस्तित्व के साथ उनका सकेत मात्र कर देते ते। अब का कवि उसकी प्रक्रिया को पकडता चलता है जिसमे उसकी गत्यात्मक सत्ता का बोध होता है। इसके माध्यम से कवि उसमे छिपा जीवन तलाशता है और इस विश्वास के साथ आगे आता है कि इस ससार की कोई भी वस्तु जीवन विहीन नही है। यह एक प्रकार से जीवन का विस्तारीकरण है। उसका लौकिकीकरण है। उसका विकेन्द्रीकरण है। **डा0 केदार**

नाथ सिंह की एक कविता है 'माझी का पुल' जिसमे 'पुल' एक स्थूल पदार्थ के रूप मे न आकर, अपनी समस्त गतिशीलता मे आता है। वह कहता है-

मॉझी के पुल मे कितनी ईटे है

कितने अरब बालू के कण?

कितने खच्चर

कितनी बैलगाडियॉ

कितनी ऑखे

कितने हाथ चुन लिए गये है मॉझी के पुल मे

मेरी बस्ती के लोगो के पास

कोई हिसाब नही है[9]

यह है कवि का सौन्दर्यबोध, जो ऊपर से निर्जीव दीखने वाले पदार्थ मे गतिशील जीवन देखता है। यही जीवन है, जो बस्ती के आदमी को अपनी नीद मे भी हिलाता है।-

मगर पुल क्या होता है?

आदमी को अपनी तरफ क्यो खीचता है पुल

ऐसा क्यो होता है कि रात की आखिरी गाडी

जब माँझी के पुल की पटरियो पर चढती है

तो अपनी गहरी नीद मे भी

मेरी बस्ती का हर आदमी हिलने लगता है[10]

यही दृश्य इनकी कविता 'नदी' मे भी है। यही स्थिति **डा0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविता** 'आरा मशीन' मे मिलती है, जिसमे आरा मशीन की आवाज

में उन गतिशील स्वरों को पकड़ने की कोशिश की गई है, जो अन्यथा पकड़ से बाहर है। इसके साथ ही उस 'लकड़ी' के पीछे की प्रक्रिया में आगे की संभावनाएँ भी हैं, जिसे कवि 'कुर्सी' के रूप में देखता है जहाँ 'राजा बैठेगा सिंहासन पर और वन महोत्सव मनायेगा' जब आरा मशीन चलती है तो इसके गति में जीवन की गति का एक दृष्य देखें-

दौड़े आ रहे

अगल बगल के यूकिलिप्टस

और हिमाचल के देवदारु

उसके आतंक में खिंचे हुये

दूर दूर अमरआइयों में

पक्षियों का संगीत गायब हो गया है

गुठलियाँ बाँझ हो गयी हैं

उसकी आवाज से[11]

यही स्थिति **अरुण कमल** कविता 'सुख' में मिलती है। यही बात स्व0 मान बहादुर सिंह की कविता 'सरपत' में है। जिसके बहाने कवि ने उस आदमी की बात कही है जो उसकी कविता के केन्द्र में है। 'सरपत' को कवि सजीव बनाता है-

मुझे काटो

मैं नये नये कल्लों में फूटूँगा

मुझे जलावो

सावन का हरा आतिश बन छूटूँगा

मैं माटी का मन हूँ मैं जन हूँ...[12]

यही स्थिति **एकात श्रीवास्तव** (कुटुम्ब कविता) व बोधिसत्व (टूटी दियरी) तक चली आती है। एकात की यह कविता तो बिल्कुल ताजा है जिसमे निर्जीव खण्डहर मे जीवन के तलाशने की प्रक्रिया है। यहाँ क्षय-बोध भी है। कवि कहता है-

'एक स्त्री आती है भटकती हुई

पूछती हुई कि यहाँ एक घर था

जहॉ अब खण्डहर है

कहॉ चला गया वह कुटुम्ब जो यहाँ रहता था[13]

यह 'खण्डहर' **बोधिसत्व** मे पहले ही आता है। कवि कहता है-

महल जिसमे कभी

दिया जलता था

अभी है अभी है

उसकी निशानी टूटी दियली

अभी है, उस दियली मे

तुम्हारी अँगुलियो के निशान

ओ कुम्हार।[14]

विनोद दास तो आलू के छिलके मे जीवन देखते है- "मुझे लगा कि कितना कुछ अच्छा बचाया जा सकता है/ इस तरह/ इस पृथ्वी पर।" इस प्रकार हम देखते है कि साठोत्तरी हिन्दी अपने जडो के प्रति ललक रखते हुए निर्जीव को भी सजीव बनाती है। यह जीवन चूँकि दबा है, छिपा है। अत भाषा कुछ बिम्ब प्रधान भी होती है। यहाँ शब्द काँपते है। थरथराते है। दरअसल ये सारे कवि अनुनादो (resonance) के कवि रहे है। पहले वस्तु को हिलाते है। फिर उससे निकलने वाली ध्वनियो

को सुनते है। यह गत्यात्मकता ही इन्हे लोक सौन्दर्य प्रदान करती है। **आलोक वर्मा** के पहले कविता सग्रह 'धीरे धीरे सुनो' की एक कविता 'यह पेड हरा है' की इन पक्तियो से हमारी बात और भी अधिक पुष्ट होती है- "सचमुच/ कितना हरा है पेड/ कि अनवरत पतझड के बाद भी/ कभी भी खत्म नही होगा/ इस धरती का हरापन"।

2 साठोत्तरी हिन्दी कविता मे **प्रकृति का सूक्ष्म रूप** भी लोक सौन्दर्य की उपस्थिति को दर्ज करता है। यहाँ प्रकृति पहले तो मानवीय रूप मे आती है, दूसरे वह मनुष्य के क्रिया व्यापार को बढाती है। वह अलग से आयातित नही लगती, बल्कि जीवन के सामान्य क्रियाकलापो के बीच आती है। यह व्यक्ति के जीवन की प्रति-कृति के रूप मे आती है। प्रगतिशील कवियो के यहाँ जो प्रकृति रूपी नदी उदास थी (केदार नाथ अग्रवाल) वह केदार नाथ सिह मे आकर गतिशील है, लघुता मे विराट है। वह अदृश्य है, लेकिन सतह के नीचे है। लोगो की अपेक्षाओ मे है। यहॉ 'धूप' है, लेकिन प्रगतिशीलो की जाडे की नही है। वह क्वार की धूप है, जो जीवन-बोध उत्पन्न करती है। 'रास्ता' कविता मे (अकाल मे सारस) केदारनाथ सिह प्रकृति के इसी रूप को पकडते है। यहॉ 'क्वार' की तबियायी धूप मे/ नहाये हुए तीन जन' जब कछार मे चलते जाते है और रास्ता अचानक समाप्त हो जाता है तब जहॉ रास्ता खुलता है वह 'पके हुए ज्वार के दूर तक फैले सिर्फ खेत ही खेत थे' जिसमे बूढा किसान काम कर रहा था। यह वह प्रकृति है, जिसमे रास्ते बहुत है। तय हमे करना है।

इस रूप मे यह वह प्रकृति है जो हमारे भावयत्र को गतिशील करती है। इसमे सौन्दर्य उसके खुर्राटपन मे है। खुद **अरुण कमल** 'सौन्दर्य' कविता मे प्रकृति के इसी पक्ष को उभारते कहते है-

गरजता है गगन

और बिजलियो को देह मे सोखने को उद्यत

गरजते है धरती की ओर से

ये वृक्ष

ठहरेगा कौन इस राह पर आज

देखेगा कौन इन सघर्षरत वृक्षो का

दुर्द्धर्ष सौन्दर्य[15]।

यह 'दुर्द्धर्ष' सौन्दर्य ही वास्तविक सौन्दर्य है। यह नयी काव्य सवेदना है। यही मुक्तिबोध की 'सच-चित-वेदना' की मानसिकता है। ऑधी का यही सौन्दर्य 'ऑधी की एक रात' (अपनी केवल धार मे सकलित) कविता मे भी मिलता है। यही स्थिति **स्व0 मान बहादुर सिंह** की कविताओ मे भी मिलती है जिसमे 'वसत हुलास' (कृति ओर मार्च 97) कविता महत्व की है। यहाँ सरसो का सघर्ष व्यक्ति का सघर्ष है। सरसो अपने सघर्ष के माध्यम से व्यक्ति को कर्मरत बनाती है।

देखते नही क्या

सूखने के बाद हरियाती रही है घास।

यह प्रकृतिगत सौन्दर्य *निलय उपाध्याय* तक मे मिलता है जिसमे 'धान का कटोरा' व 'सरसो' का पौधा' कविताएँ महत्वपूर्ण है। इनमे प्रकृति की सम्पन्नता के चित्र है धान की पौध अच्छी है। वह कैसी लगती है।-

पृथ्वी

बहुत खुश है आज

चूल्हे पर चढे तसले की तरह

भारी और गर्म।[16]

एकांत श्रीवास्तव तक तो यह बारहमासा के रूप मे मिलता है जो आधुनिक बारहमासा का ही रूप है। **विजेन्द्र व ऋतुराज** मे भी यह प्रकृति आती है।

3- परिवर्तन की भावना, उसकी पहचान का सकल्प, दोनो ही साठोत्तरी कविता मे आते है। दरअसल यहाँ कवि की निगाह एक प्रकार के तुलनात्मक सवेगो पर रहती है। कवि बराबर अपने समय को, अपने लोक जीवन को पहचानने की कोशिश करता है। नयी कविता का मुख्य स्वर यदि राजनीति रही है, तो साठोत्तरी कविता समय के अतर्विरोध व उसकी जटिल सरचना की कविता रही है। इसी पहचान परक दृष्टि व भाव के कारण कही कही कवि लोक जीवन के निकट जाते हुए ऐसा आभास देता है कि अजनबी है। दरअसल यह अजनबीपन, उसका लोक जीवन के प्रति असम्पृक्तता का परिणाम न होकर, उसमे आये परिवर्तनो का प्रतिफलन ही है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इसके पहले की कविता पाये हुए को अभिव्यक्त करता है। वह लोक जीवन की विविध प्रस्तुतियो की कविता है, जबकि साठोत्तरी कविता मे एक प्रकार का प्राप्य भाव है, पाने की ललक है। जाहिर है, यह पाना एक बदले सदर्भ मे ही सभव है। अत लोक जीवन की रूढियाँ नही है। उसमें एक गतिशीलता है। बेचैनी है। छटपटाहट है। स्वय **केदार नाथ सिह** की कविता इसका प्रमाण है। यहाँ अब प्रगतिवाद का किसान, मजदूर, धोबी आदि जातिसूचक के रूप मे न होकर उसके क्रियाकलापो की अभिव्यक्ति है। बोझे, दाने व रोटी कविता मे इसे देखा जा सकता है। 'बोझे' कविता मे तो कवि आरम्भ से ही इन परिवर्तनो पर निगाह गडाये रहता है। कवि सिर्फ इतना ही कहता है-

और कोई है जो लगातार

रख रहा है निगाह

एक एक बोझे पर।

ये बोझे जो 'एक मिट्टी के घर की धरन व शहतीरो' से जुडे है, लगातार उठाये जा रहे है और एक आदमी निगाह लगाये है। यह कुछ और नही, शहर की निगाहे है। उपभोक्तावादी मनोवृत्तियो का सकेत है। लेकिन इसका उल्लेख स्पष्टतया कवि ने कही नही किया है। यह है परिवर्तनो को लक्षित करना और कहना कि -

वहॉ कुछ है

कुछ एकदम नया और बेहद खूबसूरत सा है

जिसे फिर से खोला जा रहा है

फिर से बॉधा जा रहा है[17]

'दाने' कविता इसी की अगली कडी है, जिसमे दाने मडी जाने से मना करते है। यह मडी ही वह व्यवस्था है जिसने लोक जीवन को विरूपित किया है। जहॉ कही लोक जीवन के इन 'विरूपित' करने की बात आती है कवि सतर्क हो गया है। अत लोक जीवन की सतर्कता, अपने मोर्चे पर डटे रहने का सघर्ष ही इन कवियो की विशेषता है। यह सतर्कता ही है कि केदार जी अपनी एक कविता मे पके दानो के भीतर घुसकर आटा बनने तक की पूरी प्रक्रिया मे शब्दो के माध्यम से अपनी उपस्थिति का अहसास कराते है। सवेदना के पीछे की यही दृष्टिगत सतर्कता इन कवियो को भावुकता के साथ साथ ठोस यथार्थ का साक्षात्कार कराती है। यही ठोस यथार्थ **ज्ञानेन्द्र पति** की कविता 'सडक पर' मे आता है, जहाँ अनाज मण्डी को जाती एक बैलगाडी द्वारा छोडी गई लीको के पीछे कवि चलता हुआ कुछ सोचने लगता है। वह कुछ सोचना ही वह यथार्थ है, जिसमे कवि परिवर्तनो के बारे मे सोचता है। इसी स्थिति को अपने ढग से पकडते है **कुमार अंबुज** अपनी कविता 'इन दिनो हर रोज'-

इन दिनो हर रोज

नये सिरे से पहचानना होता है चीजो को

X X X

हर रोज पहचाननी होती है हॅसी मे छिपी चालाकी

सवेदना मे छिपी हिसा

X X X

इन दिनो हर रोज ही पाना होता है

यही एक जीवन[18]।

यही परिवर्तन को एक दूसरे धरातल पर **नवल शुक्ल** पकडते है अपनी कविता 'पिता और उनके पिता' मे। यह एक प्रकार की उर्ध्वाधर पकड है (Vertical)। इसमे कवि अपने पिता व उनके पिता की बातो के आधार पर अपने पिता होने की स्थिति की कल्पना मात्र से काँप जाता है। वह समय को अचानक छोटा करके अपनी उम्र की बढोत्तरी कर चौक जाता है और कहता है-

मै अपने पिता

और उनके पिता के बारे मे

जानने का बाद

अपने बारे मे सोचता हूँ

और ठहर जाता हूँ।[19]

4- साठोत्तरी हिन्दी कविता के लोक सौन्दर्य का रूप **आत्म निरीक्षण** के रूप मे भी उभरता है, जो लोक व्यापारो को लेकर ही किया गया है। स्वय केदार नाथ सिह की एक कविता 'मुक्ति' मे इसके लक्षण मिलते है। कवि कहता है- "मै लिखना चाहता हूँ पेड/ यह जानते हुए हुये भी कि लिखना पेड हो जाना है"[20] वहाँ शब्द व आदमी के पारस्परिक क्रियाव्यापारो की चेष्टा की गयी है। यह आत्म-निरीक्षण ही

इस समय के बहुत सारे कवियो को अतर्जगत का कवि बनाता है, जहॉ 'वस्तु' के भीतर की ताजगी भरी उष्मा का अदाज मिलता है। हर 'वस्तु' अपनी जडो मे जाती है और वहाँ से वस्तु बनने तक की पूरी प्रक्रिया का आभास देती है। इसी कारण 'शब्द' अपने पूरे सस्कार मे आते है। इस रूप मे साठोत्तरी कविता का अधिकाश भाग 'आतरिक सवेगो' की मार्मिकता से गहरा सम्बन्ध रखता है। इन्ही आतरिक सवेगो की स्मृति परक अभिव्यक्ति **कुमार अंबुज** की एक महत्वपूर्ण कविता 'रात' मे मिलता है। इसमे स्मृति की सर्जनात्मकता, क्षय-बोध की जगह प्राप्य बोध, ध्वनि व स्पर्श मे विस्तार पाती सवेदनाएँ देखने योग्य है। आत्म निरीक्षण, यहाँ आत्मीय-निरीक्षण से होता हुआ कविता को बेहद 'सघन' बनाता है और 'रात' जैसी स्थिर वस्तु को स्पर्श के माध्यम से गतिशील बनाता है। कवि कहता है-

कुछ जगहो पर जाडा है और रोशनी की गर्माहट
रात मे असीम जगह है जो चीजो के
एक तरफ सिकुडने से बनी है
चीजे जो गायब नही हुई है और सॉस ले रही है
यह रात है जिसमे स्पर्श ही सबसे बडा विश्वास है।[21]

यह आत्म-निरीक्षण ही, अनुपस्थित को उपस्थित करता है। ये कवि प्रदर्शन की कविता नही लिखते। इनमे एक गहरा जीवन दर्शन होता है। यह गहरे लोक जीवन बोध व सास्कृतिक बोध से उपजता है। इसीलिए ये कविताएँ किसी बूढी ऑख की तरह कुछ खोजती चलती है। इनमे किसी अनुपस्थिति की पीडा का भाव बराबर देखा जा सकता है। नयी कविता के कवि मे यह तलाश नही रहती। उसमे एक उपस्थित का अहसास होता है और कविता उसी का विस्तार करती है किन्तु लोक सौन्दर्य युक्त कवियो मे यह अनुपस्थित हमेशा ही रहती है जैसे केदारनाथ सिह, ज्ञानेन्द्रपति, राजेश

जोशी, अरुण कमल से लेकर निलय उपाध्याय तक। यही ही प्रकारान्तर से पाने के सघर्ष को भी जागृत करता है। केदार जी की कविता 'टमाटर बेचने वाली बुढिया' मे इसे देखा जा सकता है। इसमे टमाटर के पीछे की पूरी प्रक्रिया है जिसे बुढिया ही समझती है, क्योकि टमाटर एक वस्तु नही रह जाता। वह बुढिया की इच्छा होता है। **विजेन्द्र जी** मे भी यह मिलता है। 'यहॉ भी जीवन है' कविता महत्वपूर्ण है, क्योकि ये उस जगह देखते है, जहाँ अन्यथा कोई नही देखता। सुअरो के क्रिया कलाप, कूडे की जगह, गदी नालियो आदि मे ये इसी सौन्दर्य को देखते है।[22]

5 वास्तव मे यह साठोत्तरी हिन्दी कविता के 'भाषाई आतरिकता' का ही परिणाम है और यह इसकी निजी विशेषता है। इसी कारण से ग्रास रूट पर चल रहे अमानवीकरण की प्रक्रिया की पहचान सभव होती है। इस दृष्टि से अरुण कमल की कविता 'सुख'[23] महत्वपूर्ण है। एक 'घर' को आधार बनाकर कवि उसके भीतर पूरी ताकत से प्रवेश करता है। फिर एक एक दृश्य को उधेडता चलता है-

जहॉ तुम्हारा शयन कक्ष है वही

ठीक उसके नीचे याद करो

कोई वृक्ष था जामुन का

नीव पडने के पहले

छोटी गुठली वाले काले जामुनो का वृक्ष

वही वृक्ष तुम्हे हिला रहा है

ऐसी ही स्थिति 'शोक'[24] कविता मे मिलती है जहाँ 'नदी' के अस्तित्व की तलाश है। कुमार अबुज अपनी कविता 'किवाड' मे इसी भाषाई आतरिकता के सहारे समूची मानवीय स्थितियो का सधान करते है जिसमे 'किवाड' के भीतर प्रवेश करते रहते हैं।

जब ये हिलते है

मॉ हिल जाती है

X X X

ये पुराने है लेकिन कमजोर नही

इनके दोलन मे एक वजनदारी है

जब ये खुलते है

एक पूरी दुनिया

हमारी तरफ खुलती है।[25]

राजेश जोशी अपनी कविता 'बच्चे काम पर जा रहे है' मे (नेपथ्य मे हॅसी) इसी शिल्प का सहारा लेते है। **ज्ञानेन्द्रपति** की कविता 'बनता पुल', (शब्द लिखने के लिए ही यह कागज बना है) भी इसी का आधार लेती है। **बोधिसत्व** की कविता 'टूटी दियरी' (सिर्फ कवि नही) मे भी ऐसा ही है। ऐसी ही स्थिति **विमल कुमार** के सग्रह 'सपने मे एक औरत से बातचीत' की कविता 'सम्बन्ध' मे मिलती है- 'हम जब कभी बैठते है, आगे वाले कमरे मे/ झॉंकते है खिडकी से दूर, जीवन के बारे मे/ बातचीत के बीच अकसर होता है महसूस/ रसोईघर मे कुछ जल रहा है।' इन सबमे कवि अपने अपने ढग से डूबता है और इन सबके केन्द्र मे केदार नाथ सिह है। वास्तव मे यह उनकी खोज है, जिस कारण से हमने उन्हे साठोत्तरी का महत्वपूर्ण कवि माना है। बाद के कवियो मे जो भी 'क्षय-बोध' आता है। उन सबके प्रेरणा स्रोत ये ही है। 'टमाटर बेचने वाली बुढिया' (अकाल मे सारस), जानवर (यहॉं से देखो), नमक (उत्तर कबीर) आदि ऐसी ही कविताएँ है जिनमे हर 'वस्तु' के पीछे एक मानवीय क्रिया कलाप है। सवेदनाएँ हैं। सघर्ष है। वस्तुओ का मानवीकरण और

इस आशय से उनका 'प्रसरण' बडा ही महत्वपूर्ण है। भाव प्रसरण की इस केदारीय खोज के साथ यदि ज्ञानेन्द्रपति की शब्द प्रसरण वाली सत्ता को जोड दिया जाय, तो कविता का चेहरा सम्पूर्णता मे निखर **उठता है। नयी कविता का 'शब्द संयोजन', साठोत्तरी मे यूँ 'शब्द-प्रसरण' बनता है।**

केदार जी की कविता 'माझी का पुल' ऐसी ही कविता है। 'जानवर' कविता मे सहज जीवन (गॉव) मे असहज जीवन (शहर) का हस्तक्षेप दिखाया गया है। यह देखना ही साठोत्तरी कवि को महत्व प्रदान करता है। तब कोई आश्चर्य नही कि कवि केदारजी का एक सग्रह 'यहाँ से देखो' ही है। यहाँ कविता की पूरी सरचना, उसके भावनात्मक सवेग, बुने जाने के विरुद्ध है। इसे केदार की समूची काव्य प्रक्रिया मे देखा जा सकता है।

'अकाल मे सारस' सग्रह की पहली ही कविता 'ओ मेरी भाषा/ मै लौटता हूँ तुम में'। इसी तरह इस सग्रह की दूसरी कविता है- 'एक छोटा सा अनुरोध' जिसे कवि बाजार से अधिक खेतो का साक्षात्कार करता है। ऐसी और भी कविताएँ है जिससे पता चलता है कि कवि 'उत्तर-औपनिवेशिकता' के दबाव के कारण शहर से बेचैन है और स्मृतियो को पाना चाहता है। दरअसल यही बात, इन्हे प्रगतिशील कवियो से अलगाती भी है। हम जानते है कि प्रगतिवाद मे जहाँ राजनैतिक सत्ता का विरोध था। नयी कविता मे सास्कृतिक सामाजिक सत्ता के प्रति विद्रोह था। जाहिर है सस्कृति पर हमला स्वतत्र भारत मे ही तेज हुए और इसी ने सबसे अधिक स्मृतियो को नष्ट किया है। उसकी जडो के प्रति आकर्षण पैदा करता है। इसी कारण इन कवियो का यथार्थबोध अधिक सघन है। प्रगतिवाद मे लोक जीवन को पाने से अधिक उसे विस्तार देने का सकट था। उनके यहाँ एक सुनिश्चित सत्ता के प्रति सघर्ष है। अत ये कवि भाषा की आतरिकता से अधिक भाषा के विस्तारीकरण मे विश्वास करते है।

यह साठोत्तरी मे आतरिक हो जाता है। **प्रगतिवाद मे दर्द से अधिक तनाव है। साठोत्तरी मे ही दर्द है। जाहिर है कि दर्द वहॉ अधिक होता है, जहॉ संवेदनाएँ अधिक सघन होती है। अत: प्रगतिवाद जहां तनावो की कविता है, वहॉ साठोत्तरी दर्द की कविता है।**

भाषा की ऐसी आतरिकता का सुन्दर उदाहरण **'नमक'** (उत्तर कबीर मे सकलित) कविता है, जहॉ यह स्पष्ट होता है कि 'नमक' ही सम्पूर्ण कार्य व्यापारो को जन्म देता है। सम्बन्धो मे जब कडुवाहट होती है, तब 'नमक', जो कि विश्वास व सौहार्द्र का प्रतीक है, भी फीका लगता है। इसे भी केवल 'कुत्ता' पहचानता है, क्योकि वह वफादार होता है। इस प्रकार 'नमक' का यह भाव सौन्दर्य, लोक सौन्दर्य की वफादारी को जन्म देता है, क्योकि यहॉ नमक मे मनुष्यता का आरोप किया गया है।

6- इस भाषाई आतरिकता का ही परिणाम रहा है कि पिछले तीन दशक की कविताएँ बदले सौन्दर्यबोध व प्रभाव की कविताएँ रही है। आज जब उत्तर-औपनिवेशिक समय मे सौन्दर्य उत्पाद के रूप मे उत्पात मचाने लगा, तब साठोत्तरी के इन लोकधर्मी कवियो ने इस उत्पात को रोकने के लिए (और उसके समानातर भी) 'रूप' से अधिक 'भाव' पर बल दिया और इस 'भाव' के माध्यम से 'अभावो' की ओर इशारा किया। यही कारण है कि इन लोगो ने बहुत ही स्थूल व निर्जीव चीजो तक मे जीवन देखा जिसका आरम्भ यूँ तो निराला मे ही हो चुका था। निश्चित रूप मे इसके पीछे उत्तर-औपनिवेशिक दबाव काम कर रहे थे जिसने एक ओर तो गाँव-शहर के बीच की दूरी को कम किया, किन्तु व्यक्ति व्यक्ति की दूरी को बढाया भी।

इस प्रकार साठोत्तरी की ये लोकधर्मी कविताएँ 'उत्तर औपनिवेशिक' काल की उपज है। इसका उभार दो रूपो मे मिलता है- पहला तो इसके दबाव मे कविता लोकोन्मुखी होकर सास्कृतिक-पारम्परिक चेतना की उद्भावक बन गई और दूसरा यह कि इसके

दबाव मे कविताएँ काल का प्रतिपक्ष रचने लगती है जिसमे तीखा समय बोध है। उसकी विसगतियाँ है। विरूपण का शिकार होता मनुष्य है। ये दोनो ही प्रवृत्तियाँ स्वतत्र भारत मे साथ साथ चलती विकसित होती रही है। जाहिर बात है, पहले मे प्रतिक्रिया से अधिक क्रिया है। इसीलिए जीवन है। दूसरे मे प्रतिक्रियाये है। इसीलिए जीवन की बेचैनी है। जीवन-मर्म है। तब यह सहज ही कहा जा सकता है कि जीवन-मर्मिता से अधिक जीवन धर्मिता का मूल्य है और पहले प्रकार की कविताएँ जीवनधर्मी है। बेचैन दोनो ही है किन्तु एक बेचैन वे है जिनकी पीडा उनके चैन के हरण से जुडती है। इसलिए कही न कही आत्मगत होती है, जबकि दूसरे बेचैन वे है जिनकी पीडा दूसरे के चैन के हरण से जुडती है। यह दूसरा प्रकार ही जीवनधर्मी होता है, जो अपनी जडो मे जाते है। उसे टटोलते व उसकी परम्परा की पहचान करते है। इन्ही मे extension of language से अधिक extinction of language की प्रवृत्ति पाई जाती है। इनमे Urge to be होता है, न कि seem to be की भावना। जाहिर है, जहाँ होने की ललक होगी, वहाँ शक्ति होगी। इस प्रकार इन लोकधर्मी कवि की अपनी शक्ति है और यह शक्ति है- कार्य करने की क्षमता। मतलब रचने की क्षमता।

7- **मिथकीय** धरातल पर भी लोक सौन्दर्य का एक नया रूप यहाँ मिलता है। पहले क्या था कि मिथक लोक मे ही समकालीन जीवन सदर्भो का रूपातरण होता था, जैसे गुप्तजी, दिनकर, प्रसाद, निराला आदि मे। बाद मे ये मिथकीय लोक या तो रहे नही और यदि रहे भी तो इनमे समकालीन जीवन सदर्भ हस्तक्षेप करते है, जिससे अपनी उपस्थिति का तीखा अहसास कराते है। धर्मवीर भारती का 'अधा-युग' ऐसा ही है। साही व कुँवर नारायण मे है। केदारनाथ सिह के 'बाघ' मे भी है। जहाँ त्रिलोचन आते है। कही कही समकालीन लोक मे मिथक सदर्भ भी आते

है जिनमे अपना तीव्र सास्कृतिक बोद होता है। जैसे मुक्तिबोध मे 'मनु' आदि का आना। बाद के उत्तर-औपनिवेशिक युग मे समकालीन जीवन बोध व मिथक एक दूसरे मे हस्तक्षेप करते देखे जा सकते है।

स्वय **केदार नाथ सिह** की कविता 'भिखारी ठाकुर' (उत्तर कबीर) मे समकालीन जीवन सदर्भो के बीच चर्चिल का आना एक प्रकार का हस्तक्षेप ही है जो उत्तर-औपनिवेशिक काल की एक भयकर सच्चाई को रेखाकित करता है। 'बुद्ध के बारे मे सोचना' (यहॉ से देखो) मे भी यही मिथक, समकालीन जीवन सदर्भो मे रूपातरित होते है जैसे यह कि "सर्दियो की एक रात मे/ बुद्ध के बारे मे सोचते हुए/ मुझे लगा, यह करुणा नही/ अपने कम्बल के बारे मे सोचना है।" 'अकाल मे सारस' सग्रह के "कुछ सूत्र जो एक किसान ने बेटे को दिये" कविता मे कवि ध्रुवतारा के मिथक को तोडता है और 'कुत्ते के भौकने' के नये मिथक का निर्माण करता है। कैसा जीवन है कि कवि को ध्रुवतारा से अधिक कुत्तो के भूकने पर भरोसा है। ऐसा इसलिए कि कवि जीवन अनुभव पर अधिक विश्वास करता है, न कि इतिहास व उसके मिथक पर। वह कहता है "कभी अँधरे मे/ अगर भूल जाना रास्ता/ तो ध्रुवतारा पर नही/ सिर्फ दूर से आने वाली/ कुत्तो के भूँकने की आवाज पर/ भरोसा करना।" जाहिर सी बात है, ध्रुवतारा मे स्थूलता है, जबकि कुत्तो के भूँकने मे गतिशीलता! पहला इतिहास है, दूसरा अनुभव। *पहले इतिहास को अनुभव से कम महत्व देना, फिर अनुभव को ऐतिहासिक महत्व प्रदान करना, इन कवियो की विशेषता है।*

दरअसल पहले मिथक समकालीन जीवन सदर्भो मे इस कारण रूपातरित होते थे कि वे 'मिथक' ही उदात्तता को धारण करते थे। जैसे गुप्तजी की यशोधरा मे यशोधरा सामान्य नारी पात्र का आदर्श रूप उपस्थित करती है। प्रसाद मे मनु व श्रद्धा ही सामान्य आदमी के द्वन्द्व बनते है। निराला मे 'राम' सामान्य आदमी के सघर्ष बनते

है। तुलसीदास मे रत्नावली ही 'भारती' बन जाती है। साठोत्तरी मे ऐसा नही होता। यहाँ हस्तक्षेप की मुद्रा होती है।

अरुण कमल ने 'स्नान पर्व', कविता मे इसी लोक रूढि को तोडा है। यहाँ इसे 'जीवन आसक्ति' के रूप मे देखा गया है। ऐसी ही एक कविता केदार जी के यहाँ लोक रूढि के रूप मे आती है। 'पर्व स्नान' कविता मे (अकाल मे सारस) केदारजी इसका मजाक उडाते है-

ऊपर कौये मडरा रहे थे

और नीचे-

कॉपते हुए जल मे

अमरता की छपाछप होड मची थी।

केदारजी का यह 'छपाछप', अरुण कमल मे 'छपछपाकर' हो जाता है। जाहिर है पहले का शब्द ही व्यग्यपूर्ण है, जबकि दूसरे का वृत्ति प्रधान। यह समय का फर्क है। एक का 'पर्व-स्नान' रूढिगत है, दूसरे का 'स्नान पर्व' जीवनगत। सहज। सामान्य क्रिया व्यापार। **ज्ञानेन्द्र पति** की कविता ''सक्राति बेला' मे भी इसे देखा जा सकता है।

इस प्रकार साठोत्तरी कविता की एक बडी सच्चाई हस्तक्षेप की भावना है। यह पहचानने की ललक व पाने का सघर्ष दोनो की ही अभिव्यक्ति प्रदान करता है। यही इन्हे पीछे की ओर झाँकने की प्रेरणा देता है और उस झाँक झूँक मे अपना अगला मार्ग तलाशने का विश्वास भी पैदा करता है। *कही कही यह झॉक-झूॅक की अधिकता लोक कथाओ, लोक गीतो के अनुवाद मे दिखायी देती है, जो यहॉ वहॉ, जहॉ तहॉ घास फूस की तरह उग आई है।* पर अच्छा इतना ही है कि उनमे भी एक गहरा प्रेम भाव, बचाने की छटपटाहट दिखायी देती है, हालाँकि यह भी किसी लोक कथा

के किसी नायक की, अपने नायिका के प्रति व्यक्त की गई अनुरक्ति ही हो, तो इसमे आश्चर्य नही करना चाहिए। इसी कारण से इन कवियो की कविताएँ असमय वृद्धत्व का शिकार हो गई है।

8- लोक कथाओ के दृष्टिकोण से भी लोक सौन्दर्य के रूपो की जॉच की जा सकती है। साठोत्तरी हिन्दी कविता मे ये स्थूल कथाये मात्र न होकर अपने जीवन व समय सदर्भो से जुडी होती हैं। वास्तव मे ये कथाये स्वय एक दूसरी कथाओ को रचती चलती है। इसका यह स्वरूप **केदार नाथ सिंह** की कविता 'दत कथा' (यहाँ से देखो) मे देखा जा सकता है। यूँ तो यह किसी कथा को आश्रित बनाकर कविता बनाई गई है, लेकिन अपनी समूची कवि प्रक्रिया मे इसमे 'भाषाई आतरिकता' का प्रचुर समावेश मिलता है। 'एक नगी तलवार' स्वय एक कथा के रूप मे आती है और कवि कहता है-

बहुत सी कहानियॉ है

तलवार के बारे मे

और लोगो के बारे मे

और उसके बारे मे जो तलवार व लोगो के बीच

न जाने कब से उलझा पडा है

इन दतकथाओ को नये सिरे से पकडने की बेचैनी इसी सकलन के 'कस्बे की धूल' कविता मे दिखायी देती है जहाँ इसी 'धूल के उडने मे कवि जीवन देखता है और दतकथाओ मे अभिव्यक्ति जीवन मे विश्वास करता है कि शहर जो कि प्रदूषित है गाँव को विरूपित कर रहा है, किन्तु यदि वहाँ धूल है, तो कम से कम उसमे पैरो की आहट तो मिल ही जाती है-

सचाई यह है कि इस सारे माहौल मे

सिर्फ यह धूल है

सिर्फ इस धूल का लगातार उडना

जो मेरे यकीन को अब भी बचाये हुए है

नमक मे

पानी मे

और पृथ्वी के भविष्य मे

और दतकथाओ मे।

दतकथाओ मे मे विश्वास का आधार यह 'धूल' कवि की लोक चेतना की गहरी सम्पृक्ति का सूचक है। ऐसी कविताओ मे आप जनश्रुतियो का छायानुवाद नही पाते, बल्कि उन्हे पुनर्सृजित करने की सकल्पनाएँ मिलती है। सृजन की यह उद्दाम लालसा किसी अतीत के सम्मोहन मे न होकर आगत के प्रति एक प्रकार की टिप्पणी है और सचेतनता भी। 'लोककथा' (नये इलाके मे) शीर्षक से ही **अरुण कमल** की एक अपेक्षाकृत कमजोर कविता है, जिसमे मरे बेटे को कधा देने के लिए बाप का गॉव के लोग साथ नही देते और इसके पीछे उन्ही हत्यारो का डर होता है। यहाँ भी लोक कथा के आधुनिकतम मर्म तक पहुँचने की चेष्टा की गई है। ऐसी ही एक कविता युवतम कवि **जितेन्द्र श्रीवास्तव** की 'सोनचिरई' है, जिसमे एक नारी के बॉझ होने का वृत्तात मिलता है। कविता, हालाँकि बुनावट मे कमजोर है, लेकिन अपने अभिव्यक्ति मे आधुनिक है। यह पहल-59, सितम्बर-98 के अक मे प्रकाशित है।

लेकिन कही कही धकाधक अनुवाद की प्रवृत्ति भी मिलती है जो घातक है।

9 साठोत्तरी हिन्दी कविता मे लोक सौन्दर्य का एक रूप वहाँ मिलता है, जहॉ **चरित्रो का उभार दिखायी देता है।** निराला के मूल्याकन मे हमने इस बात का

उल्लेख किया है और यह दिखाने की कोशिश की है कि निराला से आरम्भ हुए चरित्रो के लौकिकीकरण की प्रक्रिया साठोत्तरी हिन्दी कविता मे बढती है और पूरे उभार पर होती है। यह ही सतह के नीचे अमानवीकरण की प्रक्रिया की पहचान कराता है। इसका आरम्भ केदार नाथ सिह की बहुत सारी कविताओ से होता है। केदार जी के यहॉ नूर मिऑ है (सन् 47 को याद करते हुए), जगरनाथ दुसाध है (जगरनाथ), बूढा गडेरिया है (गडेरिये का चेहरा), टमाटर बेचने वाली बुढिया है (टमाटर बेचने वाली बुढिया) बूढा मल्लाह (मैने गगा को देखा), बसी मल्लाह है (माझी का पुल)। इन सभी मे एक प्रकार की खोज है। कही आँखो के माध्यम से, तो कही आवाज व गूॅज के माध्यम से। यह भी सघर्ष का एक प्रकार है, जो आतरिक है। इसमे विचार सक्रियता का सौन्दर्य देखने लायक है।

केदार जी के अधिकाश चरित्र अपने आतरिक सघर्ष के साथ उपस्थित होते है। 'टमाटर बेचने वाली बुढिया' मे तो बुढिया का चरित्र मे मॉ का चरित्र देखना अद्भुत है। लोक सौन्दर्य का यह रूप अद्भुत है जहाँ बुढिया कुछ न कुछ छुपाती है। उसका 'सकोच' उस समस्त जीवन को व्यक्त कर रहा है जिसके लिए उसने सॅघर्ष किया है। बुढिया की छिपाने वाली हरकत और उसकी चुप्पी दोनो ही लोक जीवन की विडम्बनाओ की अभिव्यक्ति करते है। ये वे सघर्ष हैं, जिनसे जीवन अँटा पडा है। यही स्थिति माँझी के पुल के वशी मल्लाह की है और यही बूढे गडरिये की है। कवि कहता है-

मेरे दोस्त, कितना मुश्किल है

भरी सडक पर एक पत्ते की तरह उडना

और इस शहर दिल्ली मे

सुबह से शाम तक

अपनी चेतना के अदर

एक बूढे उदास गडेरिये का चेहरा

लिये-लिये फिरना?[26]

ऐसे ही चरित्र कवि **विजेन्द्र** की कविताओ मे मिलते है। नूर मियॉ, (धरती कामधेनु से प्यारी), लादू (दरती कामधेनु से प्यारी कविता), मागो, अल्लादी शिल्पी, बैनी बाबू (ऋतु का पहला फूल) आदि ऐसे ही चरित्र मिलते है। नूर मियॉ का सघर्ष तो देखने लायक है-

कच्चा लोहा पका रहा है

लौहसारी को तपा रहा है

होठ काटकर ऑख मीचता

चाम धौक कर पेट पालता।

'लादू' मे सघर्ष की चेतना है। प्रकृति भी उसका साथ देती है। भेडो को मरने के पश्चात भी वह हार नही मानता। यही स्थिति **स्व0 मान बहादुर सिंह** की कविताओ मे मिलती है जिनमे जीवित चरित्र है या फिर चरित्रगत जीवन है। यहॉ गोसाई प्रधान है, मास्टर जी है, बकरी चराता मजनुआ है। करमू है। मटरू है। यह बदलता हुआ गाँव का चरित्र है। यहाँ मँहगीना प्रेम की व्याख्या करती है-

प्रेम इस दुनिया के खिलाफ है

वह इसका बना बनाया सडियल रसम तोड

आदमी को लेकर बाहर चला जाता है

प्रेम आजादी का नाम है..

इस प्रकार की कविताओ पर **डा0 विजय बहादुर सिंह** की टिप्पणी महत्वपूर्ण

है- 'इस कवि ने समकालीन काव्य परिदृश्य पर जो रेखा खीची है, वह बहुत अनगढ व मोटी होकर भी अपनी सजीवता मे इतनी मुखर है कि शब्द व अर्थ के उलझनपूर्ण तनावो और नगर मानसी किताबी अर्थच्छायाओ की आकृतिहीनता स्वयमेय सिद्ध हो जाती है   मानबहादुर सिह की कविताएँ अपने ठेठ अदाज व अनगढ स्वभाव मे हिन्दी कविता के महानगरीय आभिजात के इन्ही घरानो के लिए चुनौती है। इन कविताओ मे एक जानी पहचानी आँचलिक जीवतता व सृजनात्मक टटकापन है। ये कविताएँ केवल आस्वाद मे ही बदलाव पैदा नही करेगी, काव्य व कला के गीत हमारी निगाह मे भी फेर बदल करेगी[27]।

काव्य के प्रति हमारी निगाह को बदलने बाली **ज्ञानेन्द्रपति** कविताएँ इस दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण है। केदार मल्लाह, चेतना पारीक, बनानी बनर्जी, राम खेलावन, सगीर मियाॅ से लेकर खुॅटकढवा तक ऐसे ही चरित्र है जो कवि की लोक चरित्रो के प्रति रुझान पैदा करता है। *वास्तव मे दुर्लभ चरित्रो की पकड से काव्य वृत्त मे बढोत्तरी होती है जिसका परमाण है- 'खूॅटकढवा' का चरित्र।* उसके कर्म वृत्ति को कविता मे पूरे आत्म-विश्वास से पकडकर कवि ज्ञानेन्द्र ने चरित्रो पर अपनी अमिट छाप छोडी है और प्रकारातर से बहरे सहृदयो (!) के लिए कान साफ करवाने का भी सकेत किया है-

यह खौटकढनी क्या बताये कहाँ तक जाती है
और यह पपडी पकडनी बहुत नाजुक है, नाजुक
जबर जिद्दी मैल को भी मलाई सा उतार लाती है
जिला जवार मे पुरखो ने
जिनके भी कान कुरेदे
वे अखीर तक झुरकुट बुढापे तक

चूहो की खटपट से जगते रहे

चोर उनके घर क्या घुसते![28]

बाद मे **कवि हरीश चन्द्र पाण्डे** ने 'हिजडे' जैसे महत्वपूर्ण, किन्तु दुर्लभ चरित्रो पर कविता लिखकर इसी 'कवि वृत्त' का विस्तार किया है। उनके बारे मे कवि कहता है कि वे बार बार सघर्ष करके जागृत होने की कोशिश करते है, बावजूद उसके कि व्यवस्था से उनका सामजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित नही हो पा रहा है-

सारी नदियो का रुख मोड दिया जाय इनकी ओर

तो भी ये फसल न हो सकेगे

ऋतु वसत का ताज पहना दिया जाय इन्हे

तो भी एक अकुआ नही फूटेगा इनमे

इनके लिए तो होनी थी ये दुनिया

एक महा सिफर

लेकिन

लेकिन ये है कि

अपने व्यक्तित्व के सारे बेसुरेपन के साथ गा रहे है

जीवन मे अकुवाने के गीत।[29]

ऐसे ही चरित्र **मदन कश्यप, बोधिसत्व** व **नवल शुक्ल** मे भी आते है। मदन कश्यप मे हलवाहाभाई व बाँके मियाँ है, तो बोधिसत्व मे सुख्खू मुसहर है। **नवल** मे मजदूर है। मदन कश्यप के चरित्र हलवाहे भाई मे जहाँ अमानवीकरण की पकड है जिसमे 'एक मुट्ठी भात की तडप है'। बाँके मियाँ मे साम्प्रदायिकता के उन्माद मे जीवन की टूटन है। कवि कहता है-

मगर कही कुछ गडबड है

कि घी के दीये की रोशनी व अगरबत्तियो की खुशबू

अब रोक नही पा रही है

इस बदबू व अँधेरे को।[30]

बोधिसत्व की कविता 'सुख्बू मुसहर' मे एक मजदूर का अपने हक के लिए प्रतिवाद है और काम छोडने का सकल्प है। यह इसका सकेत है कि अब बहुत अत्याचार सहन नही होगा। **निलय उपाध्याय** मे 'कइली' एक चरित्र है जिसमे एक काइयॉपन है। नियति का साक्षात्कार है। एक व्यक्ति के द्वारा थोडा अन्न चुराये जाने पर बडी मार्मिक अभिव्यक्ति है। कवि उस पर गुस्सा नही करता, बल्कि कहता है-

फिर भी आना काम पर

इतना सा अन्न तो धरती भी चुरा लेती है

मै भी ऐसे ही लौटता हूँ दफ्तर से

रोज रोज [31]

ऐसे ही कविता-फलक का विस्तार होता है। यही कविताएँ अपने 'वस्तु' के प्रति accessible होती है। 'हरिकिसुना' एक दूसरा चरित्र है जो कविता के अत मे सहानुभूति व करुणा का पात्र होता है।

इस प्रकार हम देखते है, कि साठोत्तरी हिन्दी कविता मे जैसे जैसे चरित्रो की पकड बढती गई है, वैसे वैसी कविता का वृत्त बढता गया है। यह ही लोक चरित्रो का विकेन्द्रीकरण है।

10. इस प्रकार हम देखते हिन्दी कविता में जब कभी 'कविता में लोक

जीवन के शास्त्र की बात उठेगी, जो कि उठेगी ही, तो यही कवि व कविताएँ इसका प्रतिनिधित्व करेगी क्योकि यहॉ ही लोक स्मृतियों व लोक स्थितियो की सम्पृक्ति का भाव मिलता है। मिथक व यथार्थ का यह लोक जीवन बोध हिन्दी कविता को एक प्रकार की वस्तुनिष्ठता प्रदान करता है और इसका कारण यही है कि इनके यहॉ एक तटस्थ दृष्टि मिलती है। वह दूरीगत तटस्थता जो किसी अच्छी रचना के लिए अनिवार्य होती है। इन कवियो मे 'स्मृतियो के पुनरीक्षण व अपने वर्तमान परिस्थिति के सतत अन्वीक्षण' की लालसा ही इन्हे असमय वृद्धत्व से रोकती है। (हालॉकि इसके कुछ अपवाद अवश्य है) इनमे प्रगतिवाद की न तो आतुरता दिखायी देती है और न ही नयी कविता की अनातुरता। ये किसी प्रकार के अनवधिक्यता के शिकार भी नही है। अपने कविताओ के माध्यम से ये स्वय ही समय रचते है और समय के माध्यम से कविताएँ। समय रचना इन कवियो को अधिक महत्वपूर्ण बनाती है क्योकि इन्हे पता होता है कि लोक जीवन की पम्परानुगत प्रवृत्ति के साथ साथ अपने समय के बदलते यथार्थ से सम्पृक्ति भी जरूरी है। इसीलिए इनके यहॉ "लोक की आनुष्ठानिक विशेषताएँ" लगभग नही है या है भी तो परिवर्तन को रेखाकित करने भर की। **ये कवि जीवन को ऑगन की तरह चीन्हते है, तुलसी की तरह धारण करते हैं, नीम की तरह स्पर्श करते है, गॉव के बगल से बहते नाले को महसूस करते हैं, गॉव की तरफ आ रही गाड़ी को घूरते हैं, अधड़ मे गिरते आम को लोकते है और बोरसी की आग को तापते है, जो या तो जाड़े मे ठिठुरते आदमी को ताप पहुॅचाती है या फिर दूसरे घरों मे चूल्हा जलाने के काम आती है।** 'धूल' तक मे इन्हे जीवन दिखायी देता है और यह अकारण नही है कि तीसरा सप्तक मे केदारजी, साही व सर्वेश्वर की कविताओ मे ऑंगन की चिताये उभर कर आती है। 'नीम भी खूब आई है।"

सक्षेप मे साठोत्तरी हिन्दी कविता मे लोक-सौन्दर्य के ये ही रूप है। शेष जो इधर उधर मिलते है, उसे अब हम कवियो के विश्लेषण के क्रम मे स्पष्ट करने की कोशिश करेगे। आरम्भ मे ही हम यह बतलाना प्रासगिक समझते है कि यहॉ पर हमने केवल उन कवियो को लिया है जो लोक सम्पृक्तता के आधार पर आरम्भ कर लगातार उससे जुडे रहने की कोशिश कर रहे है। ऐसे भी बहुत से कवि रहे है, जो आरभ मे 'लोक' से शुरु करते है, लेकिन बाद मे इस भावभूमि को छोड देते है। उन्हे हमने यहॉ नही लिया है, क्योकि उनमे एक प्रकार का अवसरवाद दिखायी देता है जो यहाँ वहॉ मुँह मारने जैसा बन पडा है। इसके अलावा भी हमने अपने विषयगत सीमा के कारण उनको नही लिया है, जो अन्यथा बेहद महत्वपूर्ण है। शायद हमारा विषय ही उनकी कविताओ के विश्लेषण के लिए छोटा है। इनमे विष्णु खरे, विनोद कुमार शुक्ल से लेकर देवी प्रसाद मिश्र, सजय चतुर्वेदी व कुमार अबुज तक की कविताएँ है।

अब जहॉ तक 'लोक' से आरम्भ करने की बात है, तो यह बडा ही आसान काम है, जैसे 'कविता' से साहित्य सृजन को आरम्भ करना। किन्तु लोक अभिव्यक्ति को बचाये व बनाये रह ले जाना बूते की बात है और ऐसा जिसने किया है, उसको हमने मन लगाकर पढने की कोशिश की है और तदनुसार जगह भी दी है। **तब ठीक ही है कि यदि कविता, कवियो के लिए चुनौती है, तो लोक, कविता के लिए।** हमने इसी चुनौती को स्वीकार करते अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

ख : कुछ प्रतिनिधि कवि

केदार नाथ सिंह

केदारनाथ सिह का जन्म 1934 मे होता है। तीसरा सप्तक (1959) की कविताओ से उनकी पहचान बनती है और पहला कविता सकलन- 'अभी बिल्कुल अभी' 1960 मे प्रकाशित हुआ। उसके बाद 'जमीन पक रही है' (1980), 'यहाँ से देखो' (1983), अकाल मे सारस (1988), 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ' (1995) प्रकाशित हुए है। 'बाघ' (96) उनकी लम्बी कविता है।

केदार नाथ सिह की कविता **एक 'बोरसी' की आग की तरह धीरे धीरे बढ़ती है और फिर धधकती है। यह उसके आसपास की एक बतकही की तरह मालूम पड़ती है, जो ऊपर से बिना प्रयास के, साधारण मालूम पड़ती है किन्तु जिसके नीचे सच्चा जीवन धधक रहा होता है।** जिसे उसकी सम्भावनाओ की तलाश करनी हो, वह उसे खोदे। फिर वह उससे उठती अग्नि शिखा को देखेगा। उसकी दाहकता को तभी समझ पायेगा। यह वह बोरसी की आग है, जो ताप भी देती है और चूल्हे भी जलाने के काम आती है। यह वह आग है जिसके आसपास लोक जीवन रचा बसा है, जिसमे अनत कथाये, सैकडो स्मृतियो मिलती है। स्वय अपनी एक कविता मे वे इसका सकेत देते है। कविता है- 'शीतलहरी मे एक बूढे आदमी की प्रार्थना'।(1982) इसमे कवि ठढक के मौसम मे कोयले और बोरसी की इच्छा करता है और कोयले के लिए 'हमदर्द कोयला' का प्रयोग करता है। कोयला सदियो से लोक जीवन की बोरसी को जलाने के काम आता रहा है किन्तु कवि है कि उसकी हमदर्दी को पकडता है। कविता आरम्भ मे ही दहकते कोयले और हमदर्द

कोयले से पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है। 'दहकना और हमदर्द' का प्रयोग एक साथ। यह है कि लोक रूढियो का अतिक्रमण।

ईश्वर

इस भयानक ठड मे

जहॉ पेड के पत्ते तक ठिठुर रहे है

मुझे कहॉ मिलेगा वह कोयला

जिस पर इन्सानियत का खून गरमाया जाता है

एक जिन्दा

लाल

दहकता कोयला

मेरी अँगीठी के लिए बेहद जरूरी

और *हमदर्द* कोयला।[32]

कविता आगे बढती है और कोयला अपना स्वरूप पहचानता है। उसके बारे मे कहते हुए कवि उसकी सार्थकता को पाना चाहता है और इस पर चढाये गये सभ्यता के आवरण को परत दर परत उघाडता है जो उसकी बढी काव्य सवेदना, वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान से बढी हुई तदाकार परिणति, कुल मिलाकर हृदय की मुक्तावस्था का द्योतक है। उसके बारे मे कवि कहता है कि शहर मे भी वह हालाँकि बहुत जरूरी है, लेकिन छिपाकर रखा जाता है। 'इस ठड से अकडे हुए शहर मे/ जहाँ वह हमेशा छिपाकर रखा जाता है/ घर के पिछवाडे/ या गुसलखाने की बगल मे/ हथेलियो की रगड मे दबा रहता है/ जो इरादो मे होता है/ जो यकायक सुलग उठता है याददाश्त की हदो पर/ पस्ती के दिनो मे . ,'। यहाँ ध्यान देने की बात है कि कोयला, एक स्थूल पदार्थ

या वस्तु न रहकर कविता मे गतिशील होकर मानवीय क्रिया व्यापारो का सृजन करता है। एक एक पक्तियाँ गतिशील हो उठती है जिसमे प्रकारातर से उपेक्षित के अपेक्षित का भाव भी अतर्निहित है। कविता का अत होता है आह्वान मे, जिसमे सघर्ष का प्रबल पक्ष उभरता है। मोहक ठडापन से मुक्ति का प्रयास दिखायी देता है लेकिन इसके लिए चमत्कृत करने का उपक्रम बिल्कुल नही। आश्चर्य है कि केदारजी कही भी 'वस्तु' को विषय' पर आरोपित नही करते। वह धीरे धीरे खुद ही उभरती है-

मेरे ईश्वर

क्या मेरे लिए इतना भी नही कर सकते

कि इस ठड से अकडे हुए शहर को बदल दो

एक जलती हुई बोरसी मे (वही)

मजे की बात है कि यह सब 'एक बूढे आदमी' के चरित्र के माध्यम से घटित होता है, जो शायद इसका भी सकेत है कि युवा मानस मे सघर्ष भरा विक्षोभ नही है। यह पीढियो का अतराल है और उससे मुक्ति का प्रयास भी। यह कविता किसी भी ठडेपन के विरुद्ध है, यह किसी भी कोण से देखा जा सकता है।

इस तरह से बतकही का अदाज, केदार का अपना अदाज है, जिसके माध्यम से गम्भीर बात को भी सहजता से वे कहते है। 'धूमिल' की तरह उन्हे अतिरिक्त सजग प्रयाग नही कहना पडता। केदारजी ने ऐसा जडो के प्रति अपनी गहरी ललक के कारण ही किया है। शायद यही कारण है कि उनकी प्राय कविताओ मे "अब क्या करूँ", शब्द आता है, जैसे कोई कथावाचक, कथा कहते कहते अचानक 'अब आगे क्या' कहकर कहानी मे कौतूहल उत्पन्न कर डालता है। यह कौतूहल ही वस्तुत किसी रचना को विस्तार देता हुआ, उसकी जडो के प्रति एक गहरी ललक बनाये रखता है। वाक्य के माध्यम से समूची कथा, समूचा परिप्रेक्ष्य एक बिन्दु पर आकर सिमट जाता

है जिससे कविता समेट समेट कर आगे बढती है। कवि एक एक सदर्भ की जीवतता को बनाये और बचाये रखना चाहता है। वस्तु के प्रति यह निरन्तरता, वास्तव मे कवि की 'निजता' का परिणाम ही है, जिसे केदार जी की कविताओ मे देखा जा सकता है। यह एक प्रकार की *'केचुआ शैली'* है। (इसे गलत अर्थ मे न समझकर, मिट्टी की उर्वरता को बढाने के सदर्भ मे ही समझा जाना चाहिए। केचुआ, पिछले भाग को समेटकर ही आगे बढता है!)

बतकही के अदाज और उसके माध्यम से जडो तक पहुँचने की प्रक्रिया केदारजी मे आरम्भ से ही मिलती है। स्वय 'अभी, बिल्कुल अभी' की पहली ही कविता 'प्रक्रिया' इसका प्रमाण है जिसके माध्यम से कवि अपने कवि की सार्थकता का महसूस करता है। कुछ ऐसी ही बात वह 'अनागत' (इसी सकलन मे) और 'कमरे का दानव' (इसी सकलन) कविता मे भी करता है, क्योकि यहाँ पर कवि अपने पहचानने मे अपनी जडो को ही पहचानता है और ये लोक सदर्भो मे ही रची बसी है तभी तो वह अप्रस्तुत के रूप मे फूलो को, त्यौहारो को, साँझ के मौसम को, प्रस्तुत करता है। 'प्रक्रिया' कविता मे तो वह कहता ही है- "जडे रोशनी मे है/ रोशनी गध मे/ गध विचारो मे/ विचार स्मृतियो मे/ स्मृतियाँ रगो मे "।

इन्ही जडो के प्रति आशक्ति कवि को 'बुने जाने के विरुद्ध' ले जाती है जिसमे कवि हर बनावट को नकारता है। सभ्यता के आवरण को हटाकर वस्तु के प्रकृत रूप को प्रस्तुत करता है, जिसका मूलाधार 'कर्म सौन्दर्य' पर ही टिका है। इसी के कारण प्रकृति के गतिशील चित्र इनकी कविता मे मिलते है और यह कोई आश्चर्य का विषय नही है कि इस प्रवृत्ति के सकेत इनके हर सकलन के अत मे मिलता है। यह सयोग से कुछ अधिक ही है, लेकिन 'अभी, बिल्कुल अभी' से लेकर 'उत्तर कबीर' तक की रचनाओ मे इसे देखा जा सकता है। 'अभी, बिल्कुल अभी' की अतिम कविता

'एक छोटा सा मौन' मे इस बुने जाने के विरुद्ध एक पतग है। कविता तमाम बुने जाने की बातो को कहते कहती है- "सिर्फ एक बच्चे की इकली पतग बुन दिये जाने के विरुद्ध उड रही है" (पृ0 88) 'जमीन पक रही है' सकलन की अतिम कविता 'सादा पन्ना' सारे शब्दो के बुने जाने के बावजूद सादा पन्ना ही बचाती है। हम देख सकते है कि पहले मे जहाँ पतग है, दूसरे मे सादा पन्ना। दोनो ही उडने व फडफडाने को उद्यत है। 'यहाँ से देखो' सकलन की अतिम कविता 'घोषणा' कहती है कि 'जहॉ बहुत कुछ नष्ट (बुना हुआ) हो चुका है, वहाँ अभी भी बहुत कुछ बाकी है।' यह भी उसी पतग का विस्तार है। 'अकाल मे सारस' कविता सकलन का अत भी अतिम कविता 'प्रिय पाठक' के इसी विरुद्धता के साथ होता है, जिसमे कवि 'कागज का एक टुकडा' छोडे जाते है। यह टुकडा चिडिया के पर जैसा होता है, जिसमे उडान व उठान दोनो की बेचैनी समाहित है। 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ' की अतिम कविता 'उत्तर कबीर' स्वय मे अपनी सास्कृतिक चेतना को पकडने की इच्छा से लिखी कविता है। यहॉ भी कवि 'कबीर' के नाम को 'कताई मिल' मे बुने जाने के विरुद्ध ही सोचता है। यहाँ तक कवि का स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह वाला भाव सास्कृतिक चेतना से जुडता है। यहाँ कवि 'सारी बुनावट के बाद और उसके बावजूद भी, उस सूत को प्राप्त करना चाहता है, जो कही से भी खीचो, कही से भी तानो, कम पड जाती है।' इस सूत के तोडे जाने के विरुद्ध कवि आवाज देना है।

कवि केदार जी के पास यह भाव वास्तव मे शहर मे हो रहे विस्थापन की आशका से आता है, जो, जैसा कि था, पहले प्रतिरक्षा के भाव की ही उपज था। यहाँ कवि पर 'शहर' का दबाव, बल्कि शिष्ट का दबाव, इतना ज्यादा है कि बार बार वह गाँव की ओर जाता है। पहले यह एक लाचारी रहा है, बाद मे यह आत्म विश्वास व आत्म-प्रसरण का कारण भी बना। इस रूप मे कवि स्मृतियो को भी बचा रहा होता है,

जिसके माध्यम से समूची, परम्परा व सस्कृति की भी रक्षा का उपाय सोचता है। 'अकाल मे सारस' और 'उत्तर कबीर और अन्य कविताओ', सकलनो मे यह दबाव अधिक दीखता है। 'चिट्ठी', (अकाल मे सारस), गाँव आने पर (उत्तर कबीर) कविताओ मे इसे देखा जा सकता है। वह कहता है-

छू लूँ किसी को?

लिपट जाऊँ किसी से?

मिलूँ

पर किस तरह मिलूँ

कि बस मै ही मिलूँ

और दिल्ली न आये बीच मे।[33] (गाँव आने पर, उत्तर कबीर मे सकलित)

इन सबके पीछे केदारजी की एक बडी विशेषता है 'अनुभूति का प्रसरण' (articulation of sensibility)। यह 'अनुभूति-प्रसरण' मुझे केदारजी की कविता को बार बार पढने के लिए उद्यत करता है और यह 'अनुभूति' प्रसरण, ज्ञानेन्द्रपति मे विलक्षण 'शब्द-प्रसरण' के रूप मे मिलता है। केदार जी के यहाँ अनुभूतियो का बडा सघन फैलाव है जो उस समय दीखता है जब वे इसे articulate कर रहे होते है। यूँ यह articulation कविता मे एक प्रकार के सपाटबयानी का खतरा भी उत्पन्न करता है, किन्तु केदार जी मे यह वस्तु के कई स्तरो पर एक साथ घटित होता है व जिसमे 'वाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्त प्रकृति का सामजस्य' 'बडा दुर्लभ ढग से मिलता है। इस सामजस्य से ही सौन्दर्य का उद्‌घाटन होता जाता है, जो कवि की 'वस्तुगत निजता' का ही परिणाम है। यह लक्षण उन कविताओ मे विशेष तौर पर मिलता है जिसमे कवि 'कही बहुत दूर से सुन रहा होता है। वहाँ पर 'वस्तु' की अपनी गर्मी से शब्द पिघलते है, जिससे पुराने विषय मे भी नये भावो का सचार होता जाता है। ये ही वे कविताएँ है जिनमे

'बोझिल प्राप्ति' की अनुगूँजे है, जिनमे सन्नाटा है और जिसमे लगातार 'टूटने व छूटने' की पीडा है। इनमे शब्दो की आहट मे शब्द कॉपते है, थरथराते है और दूर की यात्रा करते है। यह उस जीवन की तलाश है, जो प्रत्यक्ष के नीचे दबा है। इसीलिए ये कविताएँ जितना भीतर जाती है, इतना ही बाहर है। कवि यात्रा तो भीतर की ही करता है, लेकिन उसमे बाहर की दुनिया समानातर रूप मे विकास पाती है। उनमे डा0 परमानद श्रीवास्तव के शब्दो मे इसे हम 'क्षय-बोध' भी कह सकते है। यूँ क्षय बोध से अधिक यह 'बोझिल प्राप्ति' से ही जुडा है। यह एक प्रकार Within the surface फोटोग्राफी है। 'नदी' कविता मे कविता उस नदी के स्त्रोतो तक जाता है जो किसी भी सभ्यता (घर) के नीचे दबी है। नदी का चित्रण करते करते कहता है-

नदी जो इस समय नही इस घर मे
पर होगी जरूर कही न कही
किसी चटाई
या फूलदान के नीचे
चुपचाप बहती हुई।

फिर वह इसका मानवीकरण करता हुआ कहता है-

कभी सुनना
जब सारा शहर सो जाय
तो किवाडो पर कान लगा
धीरे धीरे सुनना
कभी आस पास
एक मादा घडियाल की कराह की तरह

सुनाई देगी नही।[34]

(1983 नदी 'अकाल मे सारस' मे सकलित)

आप देख सकते है कि केदार जी किस तरह से 'सन्नाटे के स्वर' को पकडते है। यह एक प्रकार से कोलाहल से निजात पाने की कोशिश भी है और जडो के प्रति गहरी ससक्ति। 'नदी और बूढे' केदार जी मे खूब आते है। दोनो निश्छल है। सहज है। लोक जीवन मे रचे बसे है। सामाजीकरण की प्रक्रिया से गहरे सम्पृक्त है। 'मॉझी का पुल', इस दृष्टि से सुन्दर कविता है जिसमे कवि ने पुल की 'प्रक्रिया' मे अलक्षित जनो को बडी बारीकी से पकडा है। जो प्रत्यक्ष है, वह वास्तव नही है। जो वास्तव है, वह प्रत्यक्ष नही है। यह है कवि की मान्यता और इसीलिए वह मैल की परतो को बार बार धोता है। यह उसके और साठोत्तरी के बढे काव्य बोध का सूचक है। कवि कहता है-

ऐसा क्यो होता है कि रात की आखिरी गाडी

जब मॉझी के पुल की पटरियो पर चढती है

तो अपनी गहरी नीद मे भी

मेरी बस्ती का हर आदमी हिलने लगता है?[35]

आदमी क्यो हिलता है, इसका भी सकेत कविता अपने अत मे करती है-

'मै खुद से पूछता हूँ/ कौन बडा है/ वह जो नदी पर खडा है मॉझी का पुल/ या वह जो टँगा है लोगो के अदर'।

इस प्रकार केदार जी की कविता से गुजरना एक बीहड पुल के नीचे से गुजरना है जिसके ऊपर शोर है। भीतर सन्नाटा है। कवि बार बार इस सन्नाटे को तोडता है जिसके लिए वह 'शब्दो' को वैसे ही हिलाता है जैसे दूर आती ट्रेने पटरियो को

हिलाती है। बस जरा कान लगाकर सुनने की देर है! जाने के बाद भी यह ध्वनि सुनाई देगी। यह केदार जी की अपनी शिल्पगत विशेषता है कि पहली ही पक्ति मे जो कहते है, उसमे उसकी एक लम्बी पृष्ठभूमि व सदर्भ होता है और अतिम पक्ति मे भी वह होता है, जो पाठक का बढा सौन्दर्यबोध ही ग्रहण करता है। इनकी कविता, कविता के आरम्भ होने के पहले और अत होने का बाद मे ही होती है उस जगह को पकडना ही सहृदय का ध्येय होना चाहिए। पुल के हिलने मात्र से बस्ती के आदमी का हिलना, वस्तुत उस 'स्थिति' को झकझोरना ही है, जो स्थूल है और उसके गतिशील सदर्भ को प्रस्तुत करना है। इसे ही वह 'आवाज' कविता मे सुनता है, जिसमे चक्की की आवाज मे उस वातावरण को पकडता है जिसमे माँ की आवाज छिपी होती है। यह जडो मे जाना है। अनुभूति को फैलाना है। कवि कहता है-

'मुझे लगा कि मुझे एक दाने के अन्दर/ घुस जाना चाहिए/ पिसने से पहले मुझे पहुँच जाना चाहिए/ आटे के शुरू मे/ चक्की की आवाज के पत्थर के नीचे/ मुझे होना चाहिए इस समय/ जहाँ से/ गाने की आवाज आ रही थी/ यह माँ की आवाज है- मैने कहा/ चक्की के अन्दर माँ थी।'

(1976 'जमीन पक रही है' मे सकलित)

'चक्की की आवाज' के कोलाहल मे माँ की मधुर आवाज को सुनना ही इस कवि की विशेषता है। 'रोटी' (जमीन पक रही है), 'टमाटर बेचने वाली बुढिया' (1977- 'जमीन पक रही है' मे सकलित) कविताएँ भी इसी आधार की कविताएँ है।

यह सब ही है 'अनुभूति-प्रसरण'। 'अपने ही वजूद के ताप से पिघलते हिम मानव का चित्र'! यह उनकी कविता सकलन 'उत्तर-कबीर' तक मे देखा जा सकता है। यही है भाषा की आतरिकता और आतरिकता की भाषा! जिसे हमने 'आवाज' कविता मे देखा। इसे 'नमक' (उत्तर-कबीर) कविता मे भी देखा जा सकता है। यही है चक्रिय

छेद। यह spiral hole ही poetic whole है जिसे कवि ने साधा है। नमक के माध्यमसे कवि ने रिश्तो की कडवाहट तक को पकडा है जो एक 'समाजशास्त्रीय' अध्ययन की अपेक्षा रखती है। 'नमक' एक विषय है। उससे अनेक 'वस्तु' का उद्घाटन होता है और अत होता है-

'न सही दाल/ कुछ न कुछ फीका जरूर है/ सब सोच रहे थे/ लेकिन वह क्या है?/ नमक को लगा/ उस समूचे घर मे एक कुत्ते के अलावा/ इसे कोई नही जानता (नमक उत्तर कबीर मे सकलित)

भाषा की यह आतरिकता, उनके कविता मे, नमक की तरह ही घुली होती है। 'नमक' के माध्यम से कवि इसे लक्षित भी करना चाहता है जिसे 'गूँज', 'कुएँ', 'खोपडी', (सभी 'उत्तर कबीर' मे सकलित) मे देखा जा सकता है। 'गूँज' कविता तो विलक्षण है,, जिसे उसी समय मे लिखी, अपेक्षाकृत एक युवा कवि, अरुण कमल की 'सुख' (नये इलाके मे) कविता मे देखा जा सकता है। यह 'गूँज' बोझिल-प्राप्ति की अनुगूॅज ही है। यही 'क्षय-बोध' भी है। यही आतरिकता है। यही, पता नही क्या क्या है। इसमे 'गूॅज' कविता मे कवि 'घर' के बाहरी भरेपन मे लगातार एक 'खालीपन' गूॅज सुनता है और यह खालीपन, शोषित मनुष्य की ध्वनि के कारण ही है। कवि कहता है-

'इस घर मे/ एक गूँज है/ एक बरसो पुरानी/ थकी हुई गूॅज/ जिसे छिपाने से कोई फायदा नही/ उसके बारे मे सारे वृद्धजन/ और मेरी भाषा के सारे पचाग/ चुपचाप सहमत है/ कि वह मेरे समय की बर्फ पर/ किसी हिम मानव के पैरो के/ चलने की आवाज है/'

आगे इसी पैरो की आवाज को पहचानता कवि कहता है-

'अभी पिछली ही शाम/ मैने अपनी गली के एक गीत मे/ उस आवाज

की हल्की सी/ धमक सुनी/ और मेरी शिराएँ अबतक/ झनझना रही है'

ध्यान दीजिए, 'गीत' शब्द मे उसी लोक जीवन मे रचे बसे 'लोगो' का चित्र है। उसकी हल्की धमक और झनझनाहट! कितनी सुन्दर पक्तियाँ बन पडी है। इस अत मे कवि निष्कर्ष देता है। जिसमे इसका भी सकेत है कि 'अस्मिता का होना' कितना जरूरी है और जहाँ 'अस्मिता ' नही है, वहाँ पहचान नही है। यह मुक्तिबोध के 'अस्मिता की तलाश' की ही अगली कडी है।

मेरे समय का नायक

कोई योद्धा

एक अदृश्य और असाध्य हिम मानव है

जो अपने ही वजूद के न होने के ताप से

आहिस्ता आहिस्ता गल रहा है।[36]

लेकिन यह भी सच है कि जितना ही यह मनुष्य गल रहा है उतना ही दूसरे का 'कुआँ' या 'तालाब' भर रहा है। आशय यह भी कि दूसरो का 'भरना', इस हिम मानव के 'गलने' से जुडा है फिर भी कितनी विडम्बना है कि सम्पन्न वर्ग, इसे नही पहचानता। यह अमानवीकरण की प्रक्रिया का उद्घाटन भी है जो सतह के नीचे बराबर चल रही है। 'कुएँ' कविता मे भी यही स्वर है, जिसको पाटता जाता देखकर कवि उदास है। ये कुएँ, लोक जीवन के स्रोत है। वे ही नष्ट हो रहे है। यह जबरी प्रक्रिया को कितने सुन्दर ढग से कवि ने उभारा है।

"बिगाडा कुछ नही/ बस घास का फैसला/ कि अब कुएँ, नही रहेगे/" यह उत्तर देने वाला भी लगभग अदृश्य है। लेकिन इस 'अदृश्य' को 'दृश्य' करना ही तो कविता

है। 'खोपडी' कविता भी इसी की अगली कडी है। जो उपेक्षित है, उसकी पहचान जरूरी है। कवि 'खोपडी' के बारे मे कहता है "और यदि वह है/ तो उसमे कही न कही/ थोडा सा मानुष अब भी बचा होगा"। इसी "थोडा सा मानुष" की तलाश मे कवि हमेशा कही बहुत दूर से सुनता रहता है और यह उसके प्रथम कविता संकलन की एक कविता 'रचना की आधी रात' (1960) मे ही मिलता है। कविता उस आवाज को पकडती है जो-

दूर बहुत दूर

कही आहत सन्नाटे मे

रह रहकर

ईंटो पर

ईटो के रखने की

फलो के पकने की

खबरो के छपने की (रचना की आधी रात 'अभी, बिल्कुल अभी' मे सकलित)

यहाँ "शब्द सयोजन" (आहत-सन्नाटे मे) से "शब्द प्रसरण" का भाव मिलता है। सन्नाटा जब आहत है, तो ध्वनि भी झॉय-झाँय की आती है। ये ध्वनि जो भी है, जहॉ से भी आती है, वह लोक प्रतीको और सदर्भो से ही आती है। यह साठोत्तरी कविता का अपना मुहावरा है, जिसमे कही बहुत दूर से जडो के कुलबुलाने की आवाजे आती है। ध्वनि के द्वारा आवाज को सुनना कवि की एक ऐसी प्रवृत्ति है, जिसे वह स्वय स्वीकार करता है। 'जाते हुए आदमी का बयान' (यहाँ से देखो) कविता में वह ऐसी ही स्वीकारोक्ति करता है, जब कहता है-

"सचाई यह है कि टूटने की आवाज/ मुझे अच्छी लगती है/ मुझे

बहुत सी चीजे महज इसलिए अच्छी लगती है/ कि मै उनके

अदर सुनता हूँ/ एक बहुत मद्धिम सी टूटने की आवाज''

यह 'टूटना' वास्तव मे अपनी जडो की ओर जाना ही है, जिसकी याद ही मनुष्य को मनुष्य बनाये रखती है। कवि इसे दिल्ली मे भी सुनता है, जिससे दिल्ली उसे अच्छी लगती है। यह कवि को प्रसन्नता भी प्रदान करती है, क्योकि दिल्ली मे मनुष्य का टूटना, वास्तव मे शहरीकरण की अपार' विसगतियो से मुक्ति का प्रयास है और लोक सदर्भो के ही पहचान की चेष्टा है।

इसी 'थोडा सा मानुष' को पहचानने के लिए केदार जी अन्य तरीका भी अपनाते है जिसमे वे पहले स्थूल विषय को ठोकते है, फिर उसकी ध्वनि को सुनते है। कही कही अतर्वस्तु से झगडते भी है। लेकिन उसे उसकी गतिशीलता मे ही पकडते है। बैल, रोटी (जमीन पक रही है), माझी का पुल (जमीन पक रही है), रसोईघर मे चाकू (अकाल मे सारस), कूडा (अकाल मे सारस), बोझे (अकाल मे सारस), कुदाल (उत्तर-कबीर), सतरा (उत्तर कबीर) कविताएँ इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इनका आयाम वहुत बडा होता है, जिस कारण से (और यह वैज्ञानिक कारण भी है), ध्वनि कम होती है और इसे सुनना ही इस कवि का ध्येय है। इसकी परिणाति ही एक प्रकार से म्हत्वाकाक्षा के टूटने के दर्द से भी जुडती है जिसमे कवि कल्पना और विम्ब के सहारे मानवीय सवेगो की उठान और फिर उनकी गिरावट को पकडता है। ये कविताये सवेगात्मक अधिक बन पडी है। 'रोटी' (1978) कविता मे ही कवि कहता है-

आप विश्वास करे

मै कविता नही कर रहा

सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूँ

वह पक रही है

और देखेगे- यह भूख के बारे मे

आग का बयान है

जो दीवारो पर लिखा जा रहा है।[37]

हम देखते है कि यहाॅ पर 'रोटी' के पकने के माध्यम से कवि 'आग' से 'धूएँ' के बीच की पूरी प्रक्रिया को पकडता है जिसमे दीवारो का स्वाद मे बदलते जाने जैसी पक्तियो के माध्यम से परिवेश का चित्रण मिलता है। इसमे दीवारो तक को मानवीय सहानभूति व करुणा से देखा गया है जो 'रसोईघर मे चाकू' कविता मे 'चाकू' के साथ किया गया है। इस मद्धिम ध्वनि को सुनने की प्रक्रिया और उसके फलस्वरूप उपजे कोलाहल की अनुगूँज सबसे अधिक 'कुदाल' कविता मे सुनाई पडती है। 'कुदाल' एक सामान्य वस्तु है, जिसका उपयोग प्राय होता है। लेकिन स्थितियाॅ ऐसी आती है कि इसको रखने की जगह घर मे नही है क्योकि 'घर' शिष्ट सामानो, सभ्यता के आवरण से आच्छादित है। समय के हो रहे परिवर्तनो को लक्षित करती यह कविता अपने वस्तु के उद्घाटन मे दूरगामी प्रभाव सकती है। इसमे भी एक कुदाल का बयान है, जो अँधेरे पर लिखा जा रहा है। आगे 'सतरा' कविता मे यही बयान सतरे का है, जो 'चमकती धूप' पर लिखा जा रहा है। कद कुदाल और सतरे दोनो का बढता है। कवि उसका विस्तार भी करना चाहता है कि परेशानी यही है कि परिस्थितियो का दबाव उस पर हमेशा बना हुआ है। "विषय के माध्यम से परिस्थिति का और परिस्थिति के माध्यम से वस्तु का उद्घाटन" करने के लिए ही ये कविताएँ महत्वपूर्ण है और रहेगी।

इसके अतिरिक्त केदारजी के यहाँ **लोक चरित्र** खूब आते है जिनके माध्यम से लोक रूढियो के तोडने का उपक्रम मिलता है। पुराने मिथको को तोडने की बेचैनी भी दिखलाई पडती है जिसके माध्यम से नये 'मिथक-लोक' का निर्माण भी होता है।

प्रकृति के गतिशील चित्र भी खूब उभरकर आते हैं जो काव्य व्यापार को आगे ले जाने में मदद करते हैं। चरित्रों में तो 'टमाटर बेचने वाली बुढ़िया' कविता में बुढ़िया और 'गड़ेरिये का चेहरा' कविता में 'गड़ेरिया' बेहद महत्व के बन पड़े हैं। इनमें भी कवि 'स्मृति' से ही काम लेता है, जिसमें आंतरिक 'कसमसाहटें' हैं। बुढ़िया जैसे चरित्र में माँ का चेहरा देखना बड़ा ही रोचक है। लोक जीवन का यह दूसरा पक्ष है, जहाँ बुढ़िया कुछ छुपाती है। इस छुपाने में 'भाव-स्फीति' न होकर, 'भाव-संकोच' है और चरित्रों के उद्‌घाटन में कवि इस शिल्प को बखूबी साधता है। यह 'संकोच'वास्तव में चरित्र के अपने संघर्ष को ही अभिव्यंजित करता है जिसे पाने के लिए बुढ़िया ने संघर्ष किया है। बुढ़िया के टमाटर को छिपाने की हरकत और उसकी चुप्पी, दोनों ही लोक जीवन के विडम्बनाओं का संकेत करते हैं। कवि कहता है-

टमाटर के अंदर बहुत सी नदियाँ है

और अनेक शहर जिन्हें बुढ़िया के अलावा

कोई नहीं जानता। (1977 : 'जमीन पक रही है' में संकलित)

यह बुढ़िया का संघर्ष और 'टमाटर' के बनने की पूरी प्रक्रिया है। शब्द-संकोच के माध्यम से कवि इसे और प्रत्यक्ष करता है-

अब बुढ़िया के हाथ

टमाटरों से खेल रहे हैं

वह एक भूरे टमाटर को धीरे से उठाती है है

और हरी पत्तियों के नीचे

छिपा देती है- माँ की तरह।

'बूढ़े गड़ेरिया' के माध्यम से भी कवि स्मृति की सहायता से लोक संदर्भ को

बचाने की पीडा से व्यथित है। बचपन मे देखा गडेरिया का चेहरा उसका पीछा करता है और कवि कहता है 'कितना मुश्किल है/ भरी सडक पर/ एक पत्ते की तरह उडना/ और इस शहर दिल्ली मे/ सुबह से शाम तक/ अपनी चेतना के अदर/ एक बूढे उदास गडेरिये का चेहरा/ लिये लिये फिरना' (1983 प्रतिनिधि कविताओ मे सकलित) इस दोनो चरित्रो को भी बूढे रूप मे कवि का लेना, वस्तुत जडो के प्रति गहरी आशक्ति का ही द्योतक रहा है। इस तरह के लोक चरित्र झुम्मन मियाँ (बिना नाम की नदी कविता जमीन पक रही है मे सकलित), जगरनाथ (1984 प्रतिनिधि कविताओ मे सकलित), नूर मिऑ (1983 सन् 47 को याद करते हुए . 'यहाँ से देखो' मे सकलित) है और मजे की बात तो यह है कि इन सभी मे स्मृति को आधार बनाकर तत्कालीन परिस्थितियो को इस तरह से प्रस्तुत किया गया है, जैसे उनके कवि की गहरी निजता रही हो। अत ये कविताएँ वस्तुगत निजता की हद तक सहज व मर्मस्पर्शी है। इन सभी मे उन परिस्थितियो के चित्रण के साथ परिवर्तन को भी लक्षित किया गया है। हॉ, यह अवश्य है कि लोक चरित्रो के माध्यम से लोक सदर्भो को उपस्थित करने की प्रवृत्ति बाद के कविता सकलनो मे कम होती गयी है। 'अकाल मे सारस' व 'उत्तर कबीर' मे नही ही है। किन्तु उत्तर कबीर मे स्वय इतिहास प्रसिद्ध नायक है एक ओर कबीर, तो दूसरी ओर भिखारी ठाकुर। दोनो का स्रोत लोक जीवन। प्रत्यक्ष। आखिन देखी। कवि को अब बडी बाते कहनी होती है जिस कारण से वह दो प्रसिद्ध चरित्रो को चुनता है, क्योकि गढा हुआ चरित्र उसके भावो को गहराई व विस्तार मे व्यक्त करने के लिए शायद नाकाफी लगा हो। इसमे कवि सफल भी हुआ है। 'उत्तर कबीर' मे तो कवि एक लोक नायक को चित्र (स्थूल) के रूप मे देखकर परेशान है। वह उस हर प्रक्रिया के विरुद्ध है जो एक गतिशील वस्तु को स्थूल बनाती है। इसमे कवि अब तक अर्जित अपने समस्त काव्यगत शिल्प का प्रयोग भी करता है। 'अब

किससे पूछूँ', 'अधेरी जडो तक उतरना चाहता हूँ', 'अब इसका क्या करूँ', 'कभी ध्यान से सुनो', आदि ऐसी पक्तियाँ है, जिनका प्रयोग कवि अब तक करता रहा है। इस कविता मे इस तरह के सभी रूपो शिल्पो को कवि ने एक साथ साधा है, जिससे 'समय मे हुए व्यापक परिवर्तन' को लक्षित कर सके। जो कोई इस अकेली कविता (उत्तर कबीर) को आत्मसात करने के हद तक समझ जाय, उसे केदार जी के कवि कौशल की पूर्णत जानकारी हो सकेगी। ऐसा लगता है कि अब तक की तमाम छोटी कविताओ को कवि ने एक साथ जोड दिया है। कवि बनावटी 'सूत' से विचलित है। 'सूत' उसके लिए कताई मिल का धागा मात्र नही है। बल्कि मनुष्य का मनुष्य से रिश्ता है। इस भाव-प्रसरण को कवि ने बडे सुन्दर ढग से साधा है-

मै उस चीख की गहरी अधेरी जडो तक

उतरना चाहता हूँ

मै धँसता चाहता हूँ पृथ्वी की पहली

अकेली चीख की तरह

हर पत्थर

हर खोपडी

और हर विचार मे

ताकि पहुँच सकूँ उस अतिम सूत तक जो सारी बुनावट मे

कही से भी खीचो

कही से भी तानो

कम पड जाता है।[38]

दूसरी 'भिखारी ठाकुर' कविता है जिसमे केदार जी भिखारी ठाकुर के 'नाच' से

आजादी के सघर्ष तक की यात्रा करते है और राष्ट्रगान की लय व विदेसिया की लय मे कही एक अटूट सम्बन्ध देखते है हालॉकि इससे वे व्यथित है कि इसका जिक्र कही नही है। यह 'नाच' वास्तव मे उन चेहरो की नाच है, क्रिया कलाप है, जिन्होने बगैर किसी प्रलोभन के आजादी की लडाई मे सघर्ष किया था किन्तु उनका उल्लेख नही है। कवि बडी मार्मिकता से कहता है कि इस 'नाच' से जुडने वालो मे महात्मा गॉधी जैसे भी थे। क्या यह उपेक्षित के अपेक्षित की तलाश नहीं है? सबाल्टर्न इतिहासकारो के लिए यह कविता बेहद उपयोगी है।

एक बात जो यहॉं बेहद महत्वपूर्ण है वह यह कि केदार जी 'नाच' की व्यापकता को पहचानने के बावजूद उसे मिथकीय स्वरूप नही देते। यह आजादी के महात्मा गॉधीय मिथक मे एक प्रकार का हस्तक्षेप है और बावजूद इसके भिखारी खुद एक मिथक नही बनने पाते क्योकि 'नाच' का रिश्ता उन सबसे है जिनकी आवाज से 'हिलने लगती थी/ बोली की सारी/ सोई हुई क्रियाएँ' यह एक साहस भरा अभिनव प्रयोग है, जो पिछले सारी रूढियो को तोडता है जिसमे मिथक ही समकालीन जीवन सदर्भो से हस्तक्षेप कराया है जिसके लक्षण अन्यत 'बुद्ध के बारे मे सोचना' (यहॉं से देखो मे सकलित) कविता देती है, या कि खुद समकालीन जीवन सदर्भो के वीच मिथक हस्तक्षेप करते है (भिखारी ठाकुर कविता मे चर्चिल का आना कुछ ऐसा ही है)। बात जो हो, इस हस्तक्षेप मे जीतता वह जीवन ही है, जो अन्यथा ढक गया था। कवि जब कहता है-

'पर मेरा ख्याल है

चर्चिल को सब पता था,' तब कवि क्या लोक की सामूहिक शक्ति की ओर इशारा नही कर रहा है? क्या चर्चिल को इसके पता होने का यह सकेत नही है कि नाच से उत्पन्न सामूहिकता की लय, बडे से बडे तोपो को भी बेकार कर देगी। इसे इस

दृष्टि से लिए जाने की जरूरत है। 'बाघ' कविता मे भी त्रिलोचन के साथ समकालीन जीवन सदर्भ इसी प्रकार हस्तक्षेप करते है।

दरअसल केदार जी की बहुत सारी कविताएँ बडे कुशल ढग से कमेन्ट्री करती जान पडती है जिनमे आरम्भ से ही रोचकता और सघर्ष विद्यमान होता है। और लो, और अब, अब देखो, जैसे शब्द उत्तेजक का कार्य करते है। ऐसा लगता है कि परिणाम अब पास है। लेकिन उसका पता अत तक नही चलता। सिर्फ रह जाती है कुछ ध्वनियाँ, जिसे लेकर पाठक अपने घर आता है और जो कभी भी गूँज सकती है। यूँ एक कुशल खिलाडी की सारी विशेषताएँ लिए वे 'वस्तु' के साथ 'कमेन्टेटर' की भाँति दौडते है।

इस प्रकार हम देखते है कि केदार जी साठोत्तरी हिन्दी कविता के लोकधर्मी चेतना के सवाहक है और उस मुहाने पर स्थित है, जहाँ से इसकी धारा निकलती है। लगभग 40 वर्षों का निरतर काव्य यात्रा मे रहते हुए वे अपनी जडो से विचलित नही है। जो कविता मे एक ओर निराला से जुडती है, तो समाज मे लोक जीवन से। यूँ निराला और लोक जीवन दोनो को फेटकर मिला दिये है। तभी तो वे कहते है "खुश हूँ- आती है रह रहकर/ जीने की सुगध बह-बहकर"। यह सुगध केदार जी मे आद्योपात मौजूद है। उनकी पूरी कविता इसी 'सुगध व सुनने' से बनी है जिस कारण से उनमे भाव व विचार एक साथ गुँथे हुए है। लेकिन इस तरह से उनकी कविता बराबर एक खतरे का शिकार भी होती रही है। मुक्तिबोध ने अपने निबध 'समीक्षा की समस्याएँ' मे लिखा है "अभिव्यक्ति के प्रयत्न-कलाकर्म-बहुत कुछ अभ्यास मे निहित है। लेखक को, अभिव्यक्ति साधना मे-काव्याभ्यास मे- न केवल विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति का अभ्यास हो जाता है, वरन् विशेष प्रकार की भाव-सवेदनाओ का भी अभ्यास हो जाता है। क्रमश दोनो तरह के अभ्यास-भाव सवेदनाओ की अभ्यासात्मकता और तत्सम्बन्धी

अभिव्यक्ति की अभ्यासात्मकता- ये दोनो मिलकर लेखक की जिस प्रकार क्षमता बन जाते है, उसी प्रकार वह उसकी कठोर सीमा भी बन जाते है '(1963 'नयी कविता का आत्म सघर्ष' मे सकलित) यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि केदार जी मे यह सीमा दिखायी देती है। भावो व शब्दो व शैली की पुनरावृत्ति से कवि को बचना होगा। लेकिन अब शायद सभव न हो। कारण यह कि अब न तो वह उत्साह है और न ही उतना अवसर। *कविता की दुनिया मे मिलते अवसर कविता मे शायद अवसर उत्पन्न न होने दे। यह भी बडी दुनिया का छोटी दुनिया मे एक प्रकार का हस्तक्षेप है।* इसे कविता मे केदार जी बेहतर ढग से कह सकते है क्योकि यह उनका शिल्प हे। और क्षेत्र भी।

लेकिन इसके बावजूद केदार जी की एक कविता से मै अपनी बात समाप्त करता हूँ-

पर मौसम
चाहे जितना खराब हो
उम्मीद नही छोडती कविताएँ।
और यह भी कि कवि के बारे मे जितना कहा जाय, कम ही है क्योकि-
कोई एक पता होता नही कवि का
वह जितनी बार साँस लेता है
उतनी बार
बदल जाता है उसका पता।[39]

विजेन्द्र : 10 जनवरी 1935 को जन्मे विजेन्द्र जी का पहला कविता सग्रह

'त्रास' सन् 1964 मे प्रकाशित होता है। इसके बाद प्रकाशित कविता सग्रहो मे 'ये आकृतियॉ तुम्हारी (1980) 'चैत की लाल टहनी' (1982), 'डठे गूमडे नील' (1983), 'धरती कामधेनु से प्यारी' (1990) और 'ऋतु का पहला फूल' (1994) है। इनकी कविताओ मे आरम्भ से ही लोक चित्रण मिलता है, जो लोकपक्ष के विविध आयामो को स्पर्श करते हुए आगे बढता है। कही कही लोक सौन्दर्य के रूप भी दृश्यमान हो उठते है, जो कही प्रकृति की रूढियो से अलग होते हुए, तो कही लोक रूढियो से अलग होते हुए चित्रो मे दिखायी दे जाते है। साठोत्तरी हिन्दी कविता की जिस धारा मे पश्चिम की रुग्ण प्रवृत्तियो से स्थानीयता की रगत देखने को मिलती है, जिसमे जन मानस की अभिव्यक्ति, श्रम और सघर्ष की विशेषताएँ सहज लक्षित की जा सकती है वे सब विजेन्द्र जी का काव्य ससार है। उनमे दृश्यो को बॉधने की कला है, जो 'दृश्याकन' का रूप अकसर धारण कर लेती है। यही ही लोक चित्रण के वैविध्य का सूचक है और इसमे ही कवि की लोक भावना का पता चलता है, हालाँकि यह ही कवि की काव्य-सीमा भी है। ऐसा उनकी इस भावना के कारण, शायद होता है कि वे 'वर्जित प्रदेशो' के उद्घाटन के चक्कर मे 'चित्रमयता' की अधिकता पर ध्यान देते है। वे इस पर ध्यान नही देते कि एक चित्र के मार्मिक उद्घाटन से अनेक चित्रो का रहस्योद्घाटन सभव है और यही कविता सच्ची लोक सौन्दर्य युक्त कविता भी होती है। एक दृश्य को हिलाकर अनेक प्रस्तुतियाँ न करके, अनेक दृश्यो को अलग अलग हिलाते है, जिससे लोकजीवन के स्थूल तत्व तो अधिक आते है, लेकिन उनकी गतिशीलता का पता नही चल पाता। इस कारण से इनकी कविताएँ लोक तत्वो की प्रचुर प्रक्षेपण कर देने के बाद भी लोकधर्मी कविता मे अपनी उपस्थिति दर्ज नही कर पाती। केवल उसकी आहट भर देती चलती है। शायद केदार नाथ अग्रवाल का असर अधिक रहा है जिनकी कही कही आहट भी मिलती है। इनमे आह्वानपरकता शीघ्र ही उल्लास

के रूप मे परिणत होकर शात हो जाती है। सघर्ष मे उबाल है, जो धीकता नही। लेकिन जैसा कि हमने कहा, विजेन्द्रजी की कविता हमेशा 'वर्जित प्रदेशों' की ओर जाती है, ताकि अधिक से अधिक नयी बात वे कह सके। यह न केवल चरित्र मे बल्कि प्रकृति पर भी घटित होता है। वर्जित प्रदेशो को ऊर्वर बनाने की इच्छा और कला से इनकी कविता मे अपूर्ण लोक सौन्दर्य उपस्थित होता है, हालाँकि यह जरूर है कि गतिशीलता के लिए इसका बहुत आग्रह दूरगामी नही होता। स्वय पुराने विषयो मे भी इस बदलाव को लक्षित की जाने की जरूरत थी। इस दृष्टि से इनकी कविताओ मे जहाँ श्रमरत कृषक-जीवन, घोसी वजारे और कजरो, मोची, भगी जैसी जन जातियाँ मिलती है, वही पर प्रकृति के उपेक्षित तत्व करील, सरसो, बबूल के फूल, कुकुरभॉगरा भी महत्वपूर्ण स्थान पाते है। उनकी लम्बी कविताओ के नायक है- खेतो मे काम करते स्त्री पुरुष, लौह सारी का काम करने वाले नूर मियाँ, भेडे चराने वाला लादू, बकरियॉ हाँकने वाला मागो, नत्थी माली और शिल्पी अल्लादी। ये सब सघर्ष करते हुए क्रियाशील है और इन सभी को कवि 'धरती कामधेनु से प्यारी' (1990) सकलन मे अलग से दिया है। ध्यान देने की बात है कि जहॉ लोक जडो से आरम्भ करने और अपनी पहचान बनाने वाले कवि अपना मच उस तरह से छोडकर बागी हो जाते है, जैसे बच्चा माँ का दूध छोडने के बाद बागी हो जाता है। वही, विजेन्द्र जी डटे रहते है और चरित्रो का सतत विकास करते है। चरित्रो की यही विशेषता साठोत्तरी की केन्द्रीय विशेषता भी है और 'धरती कामधेनु से प्यारी' कविता सकलन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। शीर्षक कविता का 'लादू' जिसकी भेडे मर जाती है, बडा ही धैर्यवान चरित्र के रूप मे आता है जिसमे सघर्ष की चेतना है। स्वय प्रकृति भी उसका साथ देती है। मानवीय मरगोजा, रोहिडा आदि पेड लादू के जीवन क सबल है। इनसे डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'कुटज' की याद आती है, जो 'गाढे का साथी' है। ऐसी

स्थिति मे लादू का चित्र है-

बस ये जानो

हिम्मत नही कभी हारी है।

ऐसी विपदाएँ आती है आये

धूप-छॉह जैसी उतरे

खो जाय

मुझे भरोसा अब भी भरी

फिर होगी भेडे

गल्ल बनेगे।[40]

दूसरी तरफ 'नूर मियॉ' की क्रियाशीलता है-

कच्चा लोहा पका रहा है

लौहसारी को तपा रहा है

होट काटकर ऑख मीचता

चाम धौक कर पेट पालता।[42]

कुल मिलाकर विजेन्द्र जी स्थितियो की पकड के कवि ठहरते है, जो उस अवस्थिति को प्राप्त होने नही देती जिनसे पाठक का 'भावयत्र गतिशील' होता है। 'ऋतु का पहला फूल' तो (कुछ एक कविताओ को छोडकर' जैसे 'रचनेवाला हाथ', जिसमे बोझिल प्राप्ति का गहरा भाव उभरता है) इन्ही से भरा पडा है। हाँ, 'धरती कामधेनु से प्यारी' सकलन मे अवश्य ही स्थिति का अतिक्रमण करते पाये जाते है। पर, यह अवश्य है कि जहाँ बहुत से कवि अपनी काव्य भूमि, भाव सवेदनाओ की पहचान, को न पा सकने के कारण लगातार चचल मन से अपनी कविता के स्रोतो को बदलते हुए

लगभग बनावटीपन के हद तक भ्रमित है, वही विजेन्द्र जी अपनी काव्यभूमि से सजग रूप से जुडे हुए है। अत वे लोक जीवन के आस्थावान कवि है जिनकी स्वय की एक कविता कहती है-

नही सुखा पावोगे मुझको

ओ सप्त अश्वधारी भगवान भास्कर

सजल स्रोत जीवन से

गुँथी हुई है

धरती मे जड मेरी।[42] (जनपद का वृक्ष 'धरती कामधेनु से प्यारी)

ऋतुराज :

ऋतुराज का जन्म 10 फरवरी 1940 को हुआ और उनके प्रकाशित काव्य सकलन है- मै आगिरस (1964), एक मरणधर्मा और अन्य (1967), पुल पर पानी (1981), अबेकस (1982), नही प्रबोध चद्रोदय (1984), सुरत निरत (1987)। जैसा कि होता है, इनकी काव्य यात्रा का आरम्भ भी उसी समय से होता है, जिसमे साठोत्तरी हिन्दी कविता अपना मार्ग तलाश कर रही थी। ऋतुराज की कविता मे सघर्ष की गति आरम्भ से ही एक प्रकार की उठापटक और खीचतान के रूप मे मिलती है। ऐसा लगता है कि कवि, कविता को प्रचलित भाव स्तर पर नहीं बढाना चाहता। अर्थात वह सिर्फ बढाना भर नही चाहता, बल्कि कुछ जोडना भी चाहता है और यह जोडता वास्तव मे उस रूप को पकडता ही है, जो दुनिया की आपाधापी मे छूटता सा जा रहा है। 'सुरत-निरत' मे तो इसके गहरे सकेत मौजूद है, जिसमे कवि सघर्ष के स्वीकृत तेवर से बिल्कुल अलग सघर्ष के व्यापक आयाम को उपस्थित करता है। यह वास्तव मे वह सघर्ष है जो डूबता आदमी करता है। जो मरता आदमी करता है। वह आदमी जो आशा को प्रबल बनाये हुए डूब-डूबकर आगे बढता है। यह मनुष्य के बुनियादी

आवश्यकताओ, विश्वासो और सकेतो को लेकर बढने वाला सघर्ष है। 'एक बूढा आदमी अपने बेटे के लिए सेब खरीदते हुए' कविता इसे बखूबी उभारती है, इसमे एक बूढे आदमी का सघर्ष, सेब के माध्यम से व्यक्त होता है। बूढे का अपने बीमार बच्चे के लिए सेब न खरीद पाना केवल इतना ही नही, बल्कि वह परिवेश का भी चित्र है, जिसमे कोई गरीब आदमी इस नियति को प्राप्त होता है। कविता कहती है-

बार बार दुनिया के एक फल के पास जाकर

लौटता हूँ मै एक बूढा आदमी

डाक्टर कहते है सेब तुम्हे खाना चाहिए

क्या देखने भर से नही मिल जाते गुण?

हम देखते है कि कविता कैसे घिसते हुए आगे बढती है। यह प्रचलित का सीधा साधा सघर्ष नही है। यह सेब न खरीद पाने का भी विकल्प है जो एक प्रश्न के माध्यम से व्यक्त होता है।

मै एक बूढा आदमी तग जेब की शून्यता मे

उलट पुलट करता मरुस्थल की रेत

और लौह शक्कर विटामिन युक्त वो सेब दुनिया का

मेरे लिए वर्जित

मै एक ईर्ष्यालु निरुपाय चोर

अपने बीमार बेटे के लिए

आखो से चुराकर ले जाता हूँ सारे तत्व [43] ('सुरत निरत' सकलन से)

सघर्ष का रग कितना चटख है कि बूढा निरुपाय चोर है, लेकिन ईर्ष्यालु है। ईष्यालु का सकेत पहली दो पक्तियो मे स्पष्ट है और वह 'तत्वो' को आखो से चुराकर

ले जाता है। द्वन्द्व कितना गहरा है। पहले वह प्रश्न करता है 'क्या देखने भर से नही मिल जाते गुण' और फिर वह उत्तर देता है- इसे चुराकर ले जाने मे। वह भी आखो से। यह है अमानवीकरण की प्रक्रिया का सूक्ष्म अवलोकन। यह ही है मनुष्य का अस्तित्व और उसके सघर्ष का तनाव, जिसमे अमानवीकरण को तलाशा जा सकता है। यह 'काव्याभास की अभ्यासात्मकता और भाव सवेदन की अभ्यासात्मकता' दोनो से मुक्ति का प्रयास है और यह वही कवि कर सकता है जो इस 'उर्वर प्रदेश' को स्पर्श करे जिसमे मनुष्य का अस्तित्व और उसके सघर्ष का सौन्दर्यपरक तनाव दिया हुआ है। ऐसी ही एक कविता है जिसमे कवि कहता है-

मै नही हूँ गरीब

मैने काटकर अपनी फटी बाहे

कमीज का बनाया है बुशर्ट

बनियान की पट्टी को नीचे से उधेड

डाला है कच्छे मे नाडा

रबड की चप्पल मे अटकाई है पिन,

मेरे पास चुभोने के लिए यह पिन है

मै गरीब नही हूँ . ।[44]

यह 'पिन' वास्तव मे टूटते हुए मनुष्य का तीखा स्वर है और यह जीवन का वास्तविक सघर्ष है। यह उनके लिए कही कही मानवीय राग या गीत बनकर भी आता है जब भौगोलिक विस्थापन मे वे मनुष्य के आतरिक विस्थापन की अनुगूँज सुनते है और इससे मुक्ति के उपाय से लोक जीवन के रागात्मक सम्बन्धो तक की यात्रा करते है। 'मुरिया' जाति के माध्यम से एक कविता मे वे कहते है-

इतनी बडी दुनिया है

लेकिन उबकाई क्यो आती है

क्यो मन करता है पहली ही बस से पहुँच जाऊँ पठार

इस हाट मे से निकलूँ बाँसुरी बजाता

चीखो नही अभागो, एक गीत सुनो!!

क्या किसी कविता की लोकधर्मी परम्परा मे यह 'चीख' उसी 'बोझिल प्राप्ति' का सकेत नही है, जिसे केदार नाथ सिह से अब तक की कविता मे देखा जा सकता है और जिससे मुक्ति का मार्ग स्वाभाविकता से हो कर ही जाता है? शायद हाँ। और यही ऋतुराज की कविता का प्राण तत्व है जिसके लिए उन्हे पढे जाने की जरूरत है, बावजूद इसके कि लोक जीवन का कोई गम्भीर प्रयास उनमे दिखायी नही देता।

राजेश जोशी

राजेश जोशी का जन्म 18 जुलाई 1946 को हुआ। 'एक दिन बोलेगे पेड' (1980), मिट्टी का चेहरा और नेपथ्य मे हँसी (1994) इनके प्रकाशित काव्य सग्रह है। यूँ तो इनकी काव्य यात्रा 70 दशक मे ही आरम्भ हो गई थी, किन्तु सग्रह के रूप मे पहला काव्य सग्रह 1980 मे आता है, जिससे साठोत्तरी हिन्दी कविता मे युवा कविता के हस्तक्षेप का पता चलता है। एक 'कथा' के धरातल पर लगभग सरल ढग से बढती ऊपर से एक रैखीक दीखती राजेश जी की कविता भीतर से हमे हल्के स्पर्श करती है जिससे हम चौकस होते है और अचकचा कर उस तरफ देखते है जिस तरफ दिखाना कविता का ध्येय होता है। *यह अचकचाहट भरी सतर्कता राजेश जोशी की कविता की अपनी विशेषता है, जो 70 के दशक मे आदोलन धर्मी, चिल्लाती कविताओ से अपने को अलग करती है।* ऐसा करना तभी सभव हुआ, जब कवि

की निगाह उस लोक सदर्भो की ओर गयी जिसमे बहुत बारीक परिवर्तन हो रहा था और जिसे नारेबाजी युक्त कविताएँ नही पकड पा रही थी। यही काम साठोत्तरी के आरम्भ से केदार नाथ सिह करते चले आ रहे थे। इस प्रकार राजेश जोशी की आरम्भिक कविताएँ खडी बोली हिन्दी मे लिखी गई लोक कथाएँ जैसी जान पडती है जिनमे प्रकृति व मनुष्य का आपसी जीवन पूरी तत्परता के साथ दिखायी देता है। लोक रूढियो का प्रयोग करते हुए भी कवि रूढ होते लोक को बताता चलता है और उसे जीवन की गतिशीलता मे देखते हुए एक गति नियत्रक' के रूप मे इस्तेमाल भी करता है। 'माँ कहती है', 'प्याज', 'पत्थर की अगुठियाँ', (सभी 'एक दिन बोलेगे पेड' से), 'यह धर्म के विरुद्ध', (मिट्टी का चेहरा), घोसला (नेपथ्य मे हँसी) कुछ ऐसी कविताएँ है जिनमे लोक जीवन मे प्रचलित लोक रूढियो का प्रयोग मिलता है, जिनके माध्यम से कवि भागती दुनिया पर कुछ नियत्रण पाना चाहता है। 'एक दिन बोलेगे पेड' (1980) की पहली ही कविता है 'माँ कहती है' जिसमे उतान सोकर सीने पर हाथ रखने से सपने आने वाली रूढि का कवि ने प्रयोग किया है और चारपाई मे सरौता रखे जाने का भी जिक्र करता है, जिससे डरावने सपने न आये। अत मे कवि कहता है-

दिनभर

फिरकनी सी खटती

माँ

हमारे सपनो के लिए कितनी चितित है!

इसमे 'सपनो का आना' अतिशय गतिशीलता का द्योतक है और उस पर कवि माँ के माध्यम से नियत्रण करता है। यह लोक रूढि का अभिनव प्रयोग है। 'प्याज' कविता मे भी 'प्याज' को विपदा से लडने के लिए एक अस्त्र के रूप मे प्रयुक्त किया

गया है। 'हमारे घरो की औरते जानती है/ प्याज एक तैयार घूँसा है/ जिससे 'लू' डरती है।' (एक दिन बोलेगे पेड)। इनके प्रयोग से कवि कही कही एक 'विट' भी उत्पन्न करता है, जो वृहत्तर जीवन सदर्भ को खोलती है 'पत्थर की अगूठियाँ' कविता ऐसी ही है जिसमे इसके माध्यम से व्यवस्था पर व्यग्य किया गया है 'एक आदमी/ पहने फटी कमीज, नगे पाँव/ मुस्कुराता गुजर जाता है चुपचाप/ सुनी अनसुनी करता/ उनकी बात।' इसकी एक बडी सुन्दर कविता 'यह धर्म के विरुद्ध है' है, जिसमे लोक रूढियो के प्रभाव स्वरूप एक पीपल के उगते पेड के कारण एक मकान धीरे धीरे' सार्वजनिक स्थल मे बदलता जाता है। मकान मालिक अपने ही सामने अपनी ही जमीन से लगातार निर्वासित होते जाने की प्रक्रिया देख रहा है लेकिन उसके पास साहस नही है कि उस पेड को काट सके। पीपल जैसे धर्म रूढि से मुक्त होने की प्रक्रिया मे कवि एक 'विट' रचता है जिसके माध्यम से बहुत हल्का सकेत करते हुए उससे मुक्ति का उपाय भी सुझाता है अन्यथा मनुष्य का 'स्व' ही खतरे मे पड जायेगा।

अपनी ही जमीन से

निर्वासित होता जा रहा वह

मन-ही-मन बडबडा रहा है

ऐसी की तैसी

पर असभव है इसके आगे कुछ कहना

क्योकि यह

धर्म के विरुद्ध है।[43] ('मिट्टी का चेहरा' मे सकलित)

इस प्रकार लोक रूढियो के प्रयोग के माध्यम से कवि ने रूढि के लोक को दोनो ही स्तरो पर तोडा है- उनके नियत्रक स्वरूप को पहचानकर और उनसे मुक्ति

का सकेत कर। इन्ही लोक रूढियो के प्रयोग से इसका भी अनुमान लगाया जा सकता है कि राजेश जोशी अपनी जडो के प्रति काफी चौकस कवि है और राजनीति व समाज के द्वन्द्व से गुजरते हुए भी सतह के भीतर अमानवीकरण की प्रक्रियाओ की उपेक्षा नही करते। लोक सदर्भ इनमे एक प्रकार से हस्तक्षेप करते हुए अपनी महत्ता सिद्ध करते है। 'बच्चे काम पर जा रहे हैं' (नेपथ्य मे हँसी) ऐसी कविता है जिसमे राजेश जोशी प्रचलित धारणा आने के विरुद्ध अपनी आवाज उठाते है। इनमे लोक व समाज आपस मे टकराते है। बच्चे मानवीय व्यवस्था के आधार है और उनके ही आधार लगातार नष्ट हो रहे है। इन्हे काम पर भेजा जा रहा है जबकि उनका आधार कुछ और है। कवि कहता है। प्रश्न पूछता है-

'क्या अन्तरिक्ष मे गिर गई है' सारी गेदे

क्या दीमको ने खा लिया है

सारी रग बिरगी किताबो को

क्या काले पहाड के नीचे दब गये है' सारे ख़िलौने

यह 'हस्तक्षेप' ही कवि को अपने आत्म-विश्वास का द्योतक है जो उनमे आस्थावादी स्वर का सचार करता है। इसके लिए कवि स्मृति का भी सर्जनात्मक प्रयोग करता है। 'लेबर कालोनी के बच्चे' (एक दिन बोलेगे पेड), 'जो काम पर जाते हुए बच्चे' की पृष्ठभूमि ही है एक ऐसी ही कविता है, जिसमे कवि बच्चो के अचानक आगमन से सन्नाटा तोडने की बात करता है। ऐसा लगता है कि इस जग लगी व्यवस्था के ताले को खोलने का कोई रहस्य उन्ही के पास है जो 'खोई हुई चाभी के गुच्छे' जैसे अपनी उपस्थिति दर्ज करते है। 'चाभी का गुच्छा' कवि मे बडा 'पावरफुल' प्रतीक है जो चाबियाँ, (एक दिन बोलेगे पेड), चाबियो का गाना (नेपथ्य मे हँसी) कविता मे भी आता है। *इनकी कविता भी चाबी के गुच्छे की तरह बजती 'सभावनाओ के*

नये द्वार' खोलने जैसी बन पडी है जो किसी अनपेक्षित कोने से सहसा उठती हुई छा जाती है। शायद इसी कारण ये कविताएँ दुनिया के बुजुर्आ वर्ग को ठेगा दिखाती सुन्दर बन पडी है जिन्हे आप नजर अदाज नही कर सकते। ये मुँह बिचकाती हुई पिचके मुँहो पर व्यग्य करती है जो अपने गालो के सुर्ख उभार के लिए मुँह मे कुछ न कुछ प्राय ही दबा लेते है। एक कविता मे ये कहते है-

'मै सारे स्वप्नो को गूँथ गूँथकर

एक खूब लम्बी नसैनी बनाऊँगा

और सारे भले लोगो को ऊपर चढाकर

हटा लूँगा नसैनी

ऊपर किसी गृह पर बैठ कर

ठेगा दिखाऊँगा मै सारे दुष्टो को।' (मै उड़ँ जाऊँगा, 'मिट्टी का चेहरा')

जीवन के प्रति आस्था और शोषण के प्रति ठेगा दिखाने वाला स्वर जन्म, नट, घोसला (नेपथ्य को हँसी) जैसी कविताओ मे भी मिलता है। बाहर से खुरदुरी दीखते हुए भी भीतर से ये लयवत है। इनमे तमाम विडम्बनाओ के बीच से एक आस्था मूलक चेहरा झाँकता रहता है। इनमे एक लुका छिपी की स्थिति होती है। *अत ये कविताएँ लुका छिपी के हद तक सरल है लेकिन उन मूल्यो के बताने के हद तक जटिल भी है, जो इसमे छिपा रहता है।* इस दृष्टि से 'घोसला' कविता बेहद मार्मिक है जिसमे 'कौआ और कुत्ता के बीच की रस्सा-कसी 'ऊपर से रोचक सी दीखती भी अपने आतरिक विधान मे इन जीवन मूल्यो और आस्थाओ को व्यजित करती है, जिनसे जीवन, जीवन कहलाता है। 'कौआ' सिर्फ एक पक्षी नही है, वह पाहुन को लाने वाला एक प्राणी है और उसके घोसले की भी जगह नही बच पा रही है, जबकि "करीब

आ रहा था कौवो के प्रजनन का समय"। कुत्ता, बार बार उसके इस प्रयास को रोकता है, कौवा फिर भी- 'कुत्ता झपटता था बार-बार, भौकता था/ पर कौवा भी ठाने था हठ। ऑख बचा उठा ही लेता था कोई न कोई चीज/ मैदान से चुपचाप!!"। (घोसला- 'नेपथ्य मे हॅसी')

इस प्रकार अपने तीसरे सकलन 'नेपथ्य मे हॅसी' तक आते आते राजेश जोशी साधारण चीजो मे अनमोल जीवन को तलाशते हुए हिन्दी कविता के लोकधर्मी स्वरूप के प्रति अपनी दृढ आख्या व्यक्त करते है और यही साधारणता की पकड कवि को उस सधिस्थल पर खडी करती है जो 80 के दशक और बाद की कविता की विशेषता है जिसमे लोक और शहर के बीच की दूरी समाप्त होती है। जाहिर है, लोक मे हो रहे परिवर्तन भी तीव्र है और उनकी पकड भी कठिन हो गई है। ऐसी स्थिति मे उन्हे पकडता बडे कवि कर्त्तव्य का निर्वाह करना है। राजेश जोशी ने ऐसा किया है क्योकि इनकी कविता दृश्यमान जगत के अदृश्य स्थलो को धीरे से स्पर्श करती है और इन्ही से भरोसा भी उत्पन्न होता है। 'जन्म' कविता मे बजारन के माध्यम से कवि ने ऐसा ही किया है या कि 'नट' कविता मे जिसमे 'नट' की आवाज है- "मै इस जर्जर रस्सी पर नही बाबू/ भरोसे की डोर पर चलता हूँ दिन रात"। यह वही भरोसे की डोर है जिसकी तलाश करता कवि 'स्मृति' के माध्यम से जडो तक जाता है, जो आज की आपाधापी मे छूट रही है। इसी मे वह महत्वपूर्ण चरित्रो की बात भी करता है। 'नाना की सायकिल' (नेपथ्य मे हँसी) कविता मे स्मृति पटल एक अजीब सी 'गूॅज' है। कवि इस गूँज को पकडता हुआ कहता है "हमारी आवाज मे बची रहती है/ हमारे पुरखो की गूँज"। और जाहिर है इतनी गूँज, इतनी परम्परा हमारे लिए वाछित भी है लेकिन खतरा भी यही पर है कि हम अपने व्यक्तित्व की पहचान अपनी तरह से भी कराये। राजेश जोशी बिना कुछ कहे इन दोनो स्थितियो का चित्र प्रस्तुत

करते है। स्वय 'पहल-49' (1994) की एक कविता मे वे कहते है-

नई नई मूर्खताओ के बावजूद बची रहती है

पुरानी समझदारियाँ।

स्मृतियो मे बची रहती है

थोडी सी टीस और थोडी सी मिठास।[46]

यह पुरानेपन की वकालत नही है, बल्कि उसके क्रियमाण तत्वो की पहचान है क्योकि 'बहुत छोटी और साधारण चीजो मे ही बचा है शायद इतना अपनापन इतनी गुदगुदी।[47] (पहल-49 दो नन्हे मोजे)

मंगलेश डबराल

मगलेश डबराल का जन्म 16 मई 1948 को हुआ और पहाड पर लालटेन (1981), घर का रास्ता (1988) और 'हम जो देखते है' (1995) प्रकाशित काव्य सग्रह है। मगलेश उन थोडे से कवियो मे है जो लोक जीवन मे उत्पन्न हो रहे अमानवीकरण की प्रक्रिया पर गहरी दृष्टि रखते है जो लोक जीवन के मार्मिक पक्ष ही है। उनके आरम्भिक कविता सकलन से तीसरे कविता सग्रह तक मे 'स्मृति' के प्रति गहरा अनुराग देखा जा सकता है, हालाँकि दूसरे सकलन से इसका रूप बदलने लगता है, क्योकि 'स्मृति' के द्वारा स्थानीय तत्वो की पहचान की प्रवृत्ति क्षीण होती जाती है। लेकिन 'पहाड पर लालटेन' इनका कविता सकलन बेहद महत्वपर्ण है, *जहाँ स्मृति, भीतरी वर्तमान है, और वर्तमान बाहरी स्मृति।* स्मृति के द्वारा स्मृति की सरचना मगलेश की कविता मे ही मिलती है जिनसे इनकी कविता के जटिल विधान का पता चलता है। स्मृति इनमे एक प्रकार के नियंत्रक का कार्य करती है, जो गतिशील जीवन मे छूट रही जरूरी चीजो के प्रति सजग करती है। यह 'सजगता' हिन्दी कविता को बिखरने से बचाती

है और यही पर मगलेश के कवि की मौलिकता का पता भी चलता है जो लोक चित्रण से हटकर हमारे सवेदनाओ मे छीज रहे लोक सदर्भो को पकडने की कोशिश करते है। यह लोक जीवन की परिवर्तनशीलता का छूना ही है और अमानीकरण की जटिल प्रक्रिया को पकडना भी है। इनमे प्रकृति, मनुष्य, पशु पक्षी सभी किसी न किसी रूप मे बिखरते नजर आते है जो बोझिल प्राप्ति का सकेत करते इन्हे साठोत्तरी कविता की 'भाषाई आतरिकता और आतरिक वाह्यता' से जोडते है। 'यहॉ थी वह नदी' कविता ऐसी ही है जो केदार नाथ सिह की कविता 'माझी का पुल' से जुडती है। नदी विलुप्त होकर 'रेत' हो गई है, जिसमे एक 'गूँज' है-

अब वहाँ कुछ नही है

सिर्फ रात को जब लोग नीद मे होते है

कभी कभी एक आवाज सुनाई देती है रेत से।[48]

इसके साथ 'पहाड पर लालटेन' सग्रह मे कवि की गहरी स्थानीयता के वरअक्स समय की जटिलताओ की पकड मिलती है जिसमे घर, स्त्री, चिडिया और बच्चे प्रतीक के रूप मे आये है क्योकि इन सब मे विकास की सभावनाएँ अतर्निहित होती है। इस प्रकार गहन अवसाद की छाया इनकी कविताओ पर मँडराती है, जिसमे हमेशा ही कुछ न कुछ जलने, महकने की गध आती है (बाद मे विमल कुमार मे यह मिलता है)। कुछ न कुछ हमेशा ही टूट रहा होता है। वह भी इस कारण जैसे जैसे उसे एक कमरे के भीतर कैद कर दिया गया है। कुछ दृश्य है-

(क) यहाँ आते-जाते/ मैने दुनिया के बारे मे सोचा/ जो चारो ओर से **बंद और डरी** हुई थी।[49]

(ख) कई बच्चे बडे हुए इस घर मे/ गिरते पडते आखिरकार/ खाने-कमाने की खोज मे तितर-वितर होते हुए/ यहाँ कुछ मौते हुई/ कुछ स्त्रियाँ रोई इस तरह/ कि

बस उनका **सुबकना** सुनाई दे।[50]

(ग) किसी चट्टान के पीछे/ सन्नाटे मे एकाएक एक स्त्री **सिसकती** है/ अपनी युवावस्था मे/ अगले ही दिन आने वाले/ बुढापे से बेखबर।[51]

(घ) उसे याद नही कितनी बार/ सपनो की जगह **जली हुई** जमीन थी/ जहॉ कभी कभी सुन पडती थी/ उसके मॉ-बाप के रोने की आवाज।[52] (बच्चा)

ऊपर की रेखाकित पक्तियो से पता चलता है कि डरना, सुबकना, सिसकना, जलना आदि कैसे कविता का निर्माण करते है। सूखे जीवन को पकडने के लिए कविता का इतना रूखा होना जरूरी भी है, जो और जरूरी चीजो को पकडने की एक शुरुवात है। कही कही कवि एक अजीब किस्म के सूखे व सहमे विम्बो के माध्यम से वुझे जीवन को देखता है। 'आखिरी वारदात' कविता इस दृष्टि से बेहद खूबसूरत कविता है, जिसमे छिन्न भिन्न हो रहे मानवीय क्रिया कलाप के बीच एक अजीब ना सम्वन्ध स्थापित करने का भाव है। यह ही उस सघर्ष को जन्म देता है जो मजबूरी नही है, बल्कि प्रक्रिया है। प्रक्रिया जन्य यंही सघर्ष मगलेश के आगे के सकलनो मे कम होता गया है जिसे 'हम जो देखते हैं' मे देखा जा सकता है। **महानगर से जातीय स्मृति की परीक्षा करते करते मंगलेश का कवि महानगर के ऐसे चक्कर मे फॅस जाता है, कि महानगर ही उसकी स्मृति का हिस्सा बन जाता है और अपने को 'फिट' करने की जल्दबाजी का शिकार होता हुआ कतिपय उत्तर आधुनिक (तथाकथित!) कवियों के साथ हाथ मिलाता है, जिनका मूल भाव ही अविश्वास है जो कविता के विरूपित हो रहे 'शिल्प' के साथ घटित होता है।**

वीरेन डंगवाल : जन्म- 1948। 'इसी दुनिया मे' (1991) एक मात्र प्रकाशित

काव्य सकलन है। लेकिन घबराने की कोई बात नही है। कवि के कविता का विधान 80 के दशक से ही आरभ हो जाता है। वीरेन डगवाल निरा वर्तमान के कवि है। उनमे न तो स्मृति है और न ही परम्परा का अतिशय मोह। उनकी कविताओ की दृष्टि उपेक्षित क्षेत्रो तक जाती है जिस कारण से, वे भी वर्जित प्रदेशो के कवि लगते है। दरअसल 80 के दशक तक आते आते नव-औपनिवेशिकता के दबाव मे यही छोटी-मोटी चीजे ही खतरे मे पड जाती है जिनकी पकड नदी, चिडिया, पेड आदि से नही हो सकती। इसके लिए पेड से उतरने की जरूरत थी, नदी मे डूबने की जरूरत थी। वीरेन ने ऐसा किया जिसका परिणाम है उनकी कविताएँ कमीज, (जिसका स्वर 'बरबाद लोग/ तुम्ही को घिसते रगडते/ और लोहा करते रहते है/", पपीता, इमली, समोसे। इनको ही दूसरे धरातल पर अभिव्यक्त करती कविता है- "मोटी कविता" जिसमे इच्छाओ की गठरी के बीच जीवन के खोने को बडी मार्मिकता से पकडा गया है। वीरेन की कविता को समझने के लिए इच्छाओ की गठरी को खोलना जहाँ बेहद जरूरी है, वही यह भी समझना जरूरी है कि उनकी कविता गरीब की उस गठरी के समान है, जिसे खोलते हुए भी खोलना शेष है। जिस तरह से उस गठरी के मर्म को समझना कठिन है, वैसे ही वीरेन की कविताओ के मर्म को। यह गठरी सवेदना ज्ञानेन्द्रपति मे अद्भुत है।

वीरेन, यूँ भी उस दौर के कवि है जब सस्कृति व सत्ता का एकमेक सम्बन्ध स्थापित होता है और दोनो ही मिलकर अत्याचार को जन्म देते है। इससे मनुष्य की मनुष्यता ही दाँव पर लग जाती है। इसके लिए वे विम्बो का घटाटोप नही मढते, बल्कि प्रसग को ही विम्बवत खोलते है। इन्ही से इनकी कविता मे चरित भी उभरता है जिसमे मूल चिता 'लोकमन' को बचाने से जुडी है। 'राम सिह' कविता कुछ ऐसी है, जिसमे स्थूल होते मनुष्य के पीछे के गतिशील तत्वो की पकड मिलती है। ऐसी

जगहो पर वीरेन किसी एक बिन्दु को पकडते है और फिर उसे थोडा धक्का देकर छोड देते है। इसमे जो गति उत्पन्न होती है, उसको पकडना ही कवि होना है। कवि कहता है-

वे तुम्हे गौरव देते है और इन सबके बदले

तुमसे तुम्हारे निर्दोष हाथ और घास काटती हुई

लडकियो से बचपन मे सीखे गये गीत ले लेते है

इन पक्तियो से स्पष्ट है कि वीरेन लोक जीवन की रागात्मकता के प्रति कितने व्याकुल है, जिन पर बर्बरता का टैक्टर चलता है। इस बर्बरता का लक्षण व चरित्र कैसा है। कवि कहता है-

कौन है, वे कौन

जो बच्चो की नीद मे डर की तरह प्रवेश करते है

जो रोज रक्तपात करते है और मृतको के लिए शोकगीत गाते है?

जो कपडो से प्यार करते है और आदमी से डरते है?

वे माहिर लोग है राम सिह

हत्या को भी कला मे बदल देते है?

प्रकारातर से यह जीवन की हत्या कर उसे कविता का रूप देने वाले बुद्धिजीवियो पर भी एक गहरी टिप्पणी है। यह छद्मता के हर पहलू को रेखाकित करती है। 'छावनी' कविता मे भी 'मनुष्य' के अमानवीकरण की प्रक्रिया का बोध है। कविता का एक और चित्र देखिये-

हम है इच्छा मृग

वचित स्वप्नो की चरागाह मे तो

चौकडियाँ मार लेने दो हमे कमबख्तो।[34]

वीरेन मे, इस प्रकार, हमेशा ही एक टीस है, एक खीझ है जो इन्हे बधन के विरुद्ध ले जाती है। स्वय 'बच्चा और गौरैया' कविता के माध्यम से इसका सकेत देता है, जिसमे कवि गौरैया को उडा देता है, जो कविता को बद कमरे से बाहर ले जाने का सकेत भी है। यह विद्रोह और उन्मुक्तता ही कवि की बुनियादी चिता है। 'नदी' कविता मे तो प्राकृतिक विपदा और मानवीय विपदा को एक जगह सग्रथित कर दिया गया है जिसमे प्राकृतिक विपदा के माध्यम से मानवीय शोषण की पहचान सम्भव हुई है। यह कविता जहॉ केदार नाथ सिह के 'बाढ से घिरे हुए लोग' (यहाँ से देखो) से जुडती है, वही अरुण कमल के 'उम्मीद' (सबूत) से भी जुडती है। उम्मीद तो यहाँ पर भी है, किन्तु इसमे नदी के बहाव के बरअस्स बहुत कुछ के टूटने की आवाज भी आती है। केदार जी की कविता ग्रामीण जनता के सघर्षशीलता को आधार बनाती है जिसमे सघर्ष का सहज उच्छ्वास है। वह एक प्रक्रिया के रूप मे आता है, जो अरुण कमल तक मे मिलता है। लेकिन वीरेन मे यह मानवीय शोषण के विविध आयामो से जुडकर आता है। यह कविता का नया चेहरा है, जहॉ वीरेन खडे है। उनके अप्रस्तुत सदा ही शोषण के विविध पक्ष ही है- एक दृश्य है-

फिर वही लौट जाती है नदी

एक छिनार सकुचाहट के साथ

अपने सवैधानिक किनारो मे

और मधुर मधुर बहने लगती है

जैसे लाठी चार्ज पर झूठ-मूठ शर्मिंदा

और गोली काण्ड को एक सही मजबूरी

साबित करने की कोशिश करती हुई।[55] (नदी इसी दुनिया मे)

'नदी' पर लिखी बहुत सी कविताएँ इस कविता के सामने बौनी होगी, जिसकी ऊपर की अतिम तीन पक्तियाँ पर्याप्त है। बाढ की इस क्रियाशीलता को समझना आधुनिक मनुष्य के भीतरी उफान को समझना है।

आलोक धन्वा : जन्म -1950। 'दुनिया रोज बनती है' 1998 मे प्रकाशित हुआ। इसमे तिथियो से पता चलता है कि 'गोली दागो पोस्टर' (1972), 'जनता का आदमी' (1972), भूखा बच्चा (73), शख के बाहर (73), पतग (76), कपडे के जूते (79) कविताएॅ 1980 के पहले की है जिसमे एक धधकता आक्रोश है। यहाॅ यह रोचक है कि 79 से 88 तक एक गहरा अतराल है और 90 तक केवल तीन कविताएँ है- भागी हुई लडकियाँ (88), जिलाधीश (89) और ब्रूनो की बेटियाॅ (89)। बाकी कविताएँ 90 के दशक की है और बहुत है। इनमे यह भी बडा रोचक है कि 90 के दशक तक आते आते आलोक धन्बा छोटी कविताएॅ लिखते लगते है। आरम्भ की बडी कविताओं से छोटी कविताओ के प्रति बढता आकर्षण अनुभूतियो के सघन होते जाने का प्रतिफलन है या फिर कविताओ की सख्या का आकर्षण? यह भी प्रश्न विचारणीय होगा। हम तो इसे आलोक धन्बा की बुनियादी चिन्ता का विकास ही कहना चाहेगे, जिसमे उनकी कविताएँ 'प्राकृतिक होते जाने की अवस्था' का परिणाम रही है। हम आलोक के कठिन कवि कर्म को इसी रूप मे देखना चाहते है। नदियाँ कविता ऐसी ही कविता है जो 1996 मे लिखी गयी है। इसमे कवि ने बडी कुशलता से बाजार के प्रभाव स्वरूप प्राकृतिक अवस्था के क्षरण की बात उठाई है जिसमे उनके बढे हुए सौन्दर्य बोध का पता चलता है-

और उस समय भी दिमाग

कितना कम पास जा पाता है

दिमाग तो भरा रहता है

लुटेरो के बाजार के शोर से।[56] (नदियाँ-1996)

यही प्रवृत्ति उनकी इसी समय की कविता 'बकरियाँ' मे भी मिलती है और कह सकते है कि जैसे जैसे जीवन सतह पर शुष्क होता जाता है, वैसे वैसे उनकी कविता ऊपर उठती जाती है, जिससे वे उन तत्वो की पहचान कर रहे होते है, जिनके कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। यह उनकी कविता को समय सापेक्ष और समय साध्य बनाता है। वे आलोक धन्बा जो 70 के दशक मे सतह पर ही खडे रहकर आक्रोश मूलक और आवाह्नपरक कुछ कुछ प्रतिक्रियाजन्य, कविताएँ लिखते है, 90 के दशक तक आते आते भाव के स्तर पर सघटित सवेदन को आधार बनाकर बेहद गतिशील कविताएँ लिखते है-

वे काफी नीचे के गावो से

चढती हुई ऊपर आ जाती थी

जैसे जैसे हरियाली नीचे से

उजडती जाती गरमियो मे

लेकिन चरवाहे कही नही दिखे

सो रहे होगे

किसी पीपल की छाया मे

यह सुख उन्हे ही नसीब है।[57] (बकरियाँ)

बकरियाँ हरियाली की तलाश मे ऊपर हैं। चरवाहे छाया की तलाश मे नीचे है। एक का सुख ऊपर है। दूसरे का नीचे है। यही कविता की हरियाली है कि

जैसे जैसे नीचे सूखा (शोषण) बढता है कविता ऊपर उठती है और फिर नीचे आती है- 'जीवन के किसी परिचित बरामदे मे/ यह दुनिया की सैर करने का वाद बरामदे मे आना है, न कि बरामदे मे ही उछल उछल कर यह मान लेना की दुनिया की सैर हो चुकी है, क्योकि पसीना आने लगा है। आलोक की बाद की कविताएँ इसीलिए महत्वपूर्ण है। इसी कारण से कवि रूढ होते उबाऊ जीवन मे नये पन के साथ जीवन का सचार करता है जिसे इन कविता पक्तियो मे देखा जा सकता है-

'कितने दिनो से रात आ रही है/ जा रही है/ पृथ्वी पर/ फिर भी इसे देखना/ इसमे होना/ एक अनोखा काम है/ मतलब की मै अपनी बात कर रहा हूँ। (अपनी बात - 1996)

यही अपनी बात कह पाने की कठिन जिद आलोक को एक महत्वपूर्ण कवि बनाती है और इसके लिए उनकी भाषाई आतरिकता की पकड ही जिम्मेदार है। ऐसे स्थलो पर केदार नाथ सिह की याद आती है। 'कपडे के जूते' एक ऐसी ही कविता है। जूते की सामाजिकता का बयान करती यह कविता वर्जित प्रदेशो की उर्वरता को पकडने की कोशिश करती है, जिनका होना कविता को युगो तक महत्वपूर्ण बनाता है। यही स्थूल की गतिशीलता या कि 'गत्यात्मक स्थूलता' है, जिसे इस कवि वे साधा है-

कपडे के वे जूते इतने पुराने हो चुके है
कोई कह सकता है कि
जहाँ वे जूते है, वहाँ कोई समय नही है-
कपडे के वे जूते समय से बाहर झूल रहे है
मृत्यु भी अब उन जूतो को पहनना नही चाहेगी
लेकिन कवि उन्हे पहनते हैं

और शताब्दियाँ पार करते है।[38] (कपडे के जूते - 1979)

इस प्रकार ऐसी कविताएँ, समय के बाहर होती है। शायद इसीलिए वे समय के भीतर होती है। इनके लिए 'स्मृति' का होना अनिवार्य होता है और वह भी आलोक धन्बा मे है। लेकिन ये स्मृति के माध्यम से प्राचीन का वर्तमान से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नही करते, जैसा कि बहुत से जल्दबाज कवि कर डालते है। वे स्मृति को स्मृति के आधार पर पकडते है और मूल्याकन के लिए छोड देते है। इसी कारण इनमे स्मृति भी गतिशील है। एक जमाने की कविता (95) और रास्ते (96) ऐसी ही कविताएँ है। 'एक जमाने की कविता' मे बचपन की यादो के माध्यम से लोकभाव भूमि का मूल्याकन मिलता है।

इनके सबसे साथ कवि ने 'स्त्री' पक्ष पर बहुत कविताएँ लिखा है। कही प्रस्तुत मे। तो कही अप्रस्तुत मे। 'रेले' भी खूब आई है। स्त्री और रेले, दोनो ही सभ्यता के बोझ को ढोती है। कवि ने यूँ एक दूसरे को मिलाया है। यूँ ये दोनो ही 'सास्कृतिक अनिवार्यताये' है, जिनपर बोझ लादने के लिए हम स्वतत्र है। उम्मीदो के लिए भी स्वतत्र है। लडकियो पर लिखी कविता मे भागी हुई लडकियाँ (1988), छतो पर लडकियाँ (1972), चौक (92), ब्रूनो की बेटियाँ (89), पगडडी (96), कविताएँ महत्वपूर्ण है जिनमे चौक व पगडडी मे 'कामकाजी' औरते के प्रति अनुराग पूर्ण उपस्थिति है। 'भागी हुई लडकियाँ' मे लडकी की सभावनाओ की तलाश है, जिसका मार्ग लडकी स्वय एक समुदाय का हिस्सा बनने के रूप मे देखती है जिनमे शारीरिक भागने से मानसिक भागना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। छतो पर लडकियाँ मे लडकी सिर्फ एक 'वस्तु' के रूप मे आती है। 'ब्रूनो की बेटियाँ' मे इसी 'वस्तु' बनने का विरोध है और उसे बचाने की जिद है-

'वह क्या था उनके होने मे

जिसे जलाकर भी

नष्ट नही किया जा सकता'।[59]

और विश्वास है "रानियाँ मिट गई/ लेकिन क्षितिज तक फसल काट रही/ औरते/ फसल काट रही है।"[60]

इस प्रकार हम देखते है कि आलोक धन्बा मे बहुत कुछ के बचाने की जिद उनकी कविताओ को भी बचाती है। लोक जीवन के स्तर पर तो लोक सदर्भ सीधे नही आये है, लेकिन अप्रस्तुत लोक से ही लिये गये है जिनमे मामूली आदमी की पहचान है-

बाजी को तोड सकता है वही

जिसे आप मामूली आदमी कहते है,

क्योकि वह किसी भी देश के झडे से बडा है। (जनता का आदमी-1972)

ज्ञानेन्द्र पति : जन्म 5 अक्टूबर 1950, प्रकाशित सग्रह "शब्द लिखने के लिए ही यह कागज बना है" (1981) 70 के दशक के महत्वपूर्ण कवि। 'ऑख हाथ बनते हुए' एक पुस्तिका भी प्रकाशित। **ज्ञानेन्द्र जी की कविताओ को ढूंढ़ना फुटपाथो की तलाश करनी है और जैसे फुटपाथों की तलाश कठिन है, वैसे ही कठिन है इनके कविता का अर्थ की तलाश।** यह राह मे अनत राहो की सभावनाएँ। जैसे आलोक धन्बा 70 दशक से आरम्भ कर 80 व 90 के दशक मे सयम और अनुशासन को प्राप्त होते है, वैसे ज्ञानेन्द्र जी भी। यूँ आक्रोश के बाद सन्नाटा, फिर स्थिरता आती ही है। ज्ञानेन्द्र मे यह स्थिरता भाव के स्तर पर लोक सदर्भो को उजागर करने के रूप मे आती है जिनसे चरित्र विशेष का प्रस्फुटन होता

है, आलोक मे यह व्यवस्था को समझने और स्मृति को बचाने के रूप मे आती है। ज्ञानेन्द्र के भाव गाम्भीर्य मे परिष्कृत लोक सदर्भो का अर्थ यूँ खुलता है।

ज्ञानेन्द्र **साठोत्तरी हिन्दी कविता के सबसे ताजा कवि है, इसलिए कि वे बासी पदार्थो पर पानी छीटा मार मारकर ताजा का मोह, या वितंडावाद नही पालते।** उनकी उपस्थिति हिन्दी कविता मे एक नूतन अर्थ सधान करने वाले कवि की तरह है, जो शब्द सधान के माध्यम से हमेशा कुछ सीखता है। केदार नाथ सिह से लेकर अरुण कमल तक जिस 'भाव सवेदनाओ की अभ्यासात्मकता और तत्सम्बन्धी अभिव्यक्ति की अभ्यासात्मकता' (मुक्तिबोध - समीक्षा समस्याएँ) के बासीपन का शिकार होते देखे जा सकते है, ज्ञानेन्द्र उससे सर्वथा मुक्त है, बावजूद इसके कि लोक जीवन के मर्म को उद्घाटित करना उनका भी उद्देश्य है। सर्वथा अछूत को छूना, फेके गये को ढोना, त्याज्य को उपयोग्य बनाना ही इनकी कविता का उद्देश्य है और 1981 के काव्य सग्रह के बाद 1996 से 98 के बीच की प्रकाशित कविताओ तक मे इसे देखा जा सकता है। ये, *अन्य कवियो की तरह वर्जित प्रदेशो से होते हुए यात्रा नही करते, बल्कि वर्जित प्रदेशो मे यात्रा करते है और जैसा कि है वर्जित प्रदेशो का वैविध्य ही इनकी हर कविता को अलग बनाता है।*

'शब्द प्रसरण' ज्ञानेन्द्र की कविताओ की अद्भुत ताकत है, जो बाद की कविताओ मे और भी बढा है। कविता इनके शब्दो की गूँज मे होती है। वह आपको ठहरने के लिए बाध्य करती है। उसे आप आसानी से नही पढ सकते। वह आपको रोकती है, जैसे कि वर्जित प्रदेश आपको रोकते है, यदि आप उसके सौन्दर्य को समझना चाहते है। इसे न समझने का परिणाम ही है कि वे लोग इन पर तत्समता का आरोप लगाते हैं। यदि ये तत्समता है तो फिर मुक्तिबोध की कविताएँ और रेणु की कहानियाँ व उपन्यास भी तत्समता युक्त है, क्योकि वे भी आपको रोकते है। वास्तव मे कुछ जल्दबाज

लोगो के सरल मस्तिष्क की ही यह उपज है जो ऐसा कहते है। हम तो कहेगे, कि अच्छी रचना वह है, जो हमे रोकती है, क्योकि तभी हम उसके साथ अपने आपको भी पढ सकेगे। ज्ञानेन्द्र मे यह विलक्षण है, क्योकि तद्भव व धुर ठेठ शब्दो का प्रयोग इसे बल प्रदान करता है। 'पूछती है माँ' जैसी सग्रह की पहली ही कविता से लेकर जून 98, के साक्षात्कार मे प्रकाशित 'खजुराहो' कविता तक मे इसे देखा जा सकता है, जो आगे बढता ही गया है। इस शिल्प के माध्यम से कवि अपने को समय मे फैलाता है जिससे जडो के प्रति उसकी गहरी ललक का भी बोध होता है। 'शब्द' ज्ञानेन्द्र मे सदर्भ को पकडते नही, बल्कि खोलते है जिनकी यात्रा लम्बे समय मे, लम्बे समय तक होती है। यही मुक्तिबोध की भी विशेषता है। मुक्तिबोध मे ऐसी पक्तियॉ व शब्द खूब मिलते है- 'वह दृश्य क्षणेक बिला न सका', (हे प्रखर सत्य-एक), यहाँ चरित्र विकास दृष्टि की सगति से है असग निज वेदना सृष्टि की सगति से है' (भूरी भूरी खाक धूल)। **यूँ ज्ञानेन्द्र व मुक्तिबोध शब्द चिता के धरातल पर एक है। दरअसल ज्ञानेन्द्र सीखते मुक्तिबोध से है, प्रभावित निराला से है। अतः इन्हे बगैर निराला व मुक्तिबोध को समझे समझना कठिन है, क्योंकि निराला के उठान और मुक्तिबोध के फैलाव से ही ये कविताएँ विरचित है।**

इसी कारण इनमे जड सौन्दर्याभिरुचि का प्रतिकार मिलता है। 'खजुराहो' कविता मे इसे देखा जा सकता है। एक बिल्कुल नया अदाज है इसकी मूर्तियो को देखने का। शायद ही कोई कवि हो, जो उत्कीर्णित शरीर-सौन्दर्य से हटकर उसको स्वरूप देने वाले हाथो तक पहुँचा हो। उस सौन्दर्य को पकडा हो, जिसके इस रूप के पीछे कई कुरूप हाथ है। ज्ञानेन्द्र ने इसे साधा है। अपने शब्द-प्रसरण के माध्यम से, अपनी भाषाई आतरिकता के कौशल के माध्यम से, जिसके फलस्वरूप वे सम्पूर्णता के सौन्दर्य

को देखते है। चाहे वह पृथ्वी के किसी भी कोने मे उगा हो-

'कि तभी एक प्रणय मुद्रा से फूटकर प्राणोर्जा/ किरणो सी घुलती है रुधिर मे/ और हमे छूते है/ शिल्पी हाथ/ समय के पार से/ घठायी उँगलियो वाले होकर भी कोमलतम छुवन वाले/ इन देहो के शिल्पी हाथ/ जो आज न होकर भी/ हमारी आत्मा के शिल्पी हुए जा रहे है/ एक मुकुट की ओट मे छिप गये है उनके नाम इससे क्या/ उत्कीर्णित वक्षो की सुघड गोलाइयो मे/ उन्ही के अगुलि चिन्ह धडकते है/ ऑकते हमारे उन्मीलित वक्ष पर भी/ टँकते उनकी टाँकी के टकन।[61]

इसी कविता मे कवि मानो एक लम्बी थकान के बाद गहरी सॉस लेता हुआ आश्वस्त होता है और कहता है-

कभी इस स्मृति के जगते

औचक लगता है

कि सौन्दर्य का अपना एक महादेश

अपना एकदेश होता है जरूर

पर उसकी अपनी पृथ्वी भी होती है

पूरी पृथ्वी का अपना होता है सौन्दर्य, पृथ्वी के किसी कोने मे उगा हो वह/

ज्ञानेन्द्र को समझने के लिए इस सौन्दर्यबोध को समझना बेहद जरूरी है। इसमे आप किसी की उपेक्षा नही कर सकते। **यह सौन्दर्य का बढ़ता लौकिकीकरण है जिसे कवि ने साधा है और जो साठोत्तरी हिन्दी कविता में लोक सौन्दर्य का मूल कारण है।** ज्ञानेन्द्र मे यह अचानक आया भी नही है। इसके सकेत आरम्भिक कविताओ मे भी मिलते हैं। जैसे 'बनता पुल', 'फुटपाथ पर नन्हे जूतो की एक दुकान', 'उनके सपनो का रग मै जानता हूँ', 'कुत्ते की अँगडाई', (सभी सग्रह

से) से लेकर 'एक मलिन पोटली नही, एक मुट्ठी जिदगी' (वागर्थ दिसम्बर - 96), यह खजुही कुतिया' (वागर्थ दिसम्बर - 96) और 'दो नन्हे मोजे' (सबरग-98) तक मे पर्याप्त मात्रा मे मिलते है। इसी ने कवि को वह दृष्टि दी है कि इस पार से उस पार को देखता है जैसे- 'धुँए के पेड की तरह उगी है' (जनसत्ता-सबरग-96) और 'दो नन्हे मोजे' (सबरग-98)। 'बनता पुल' मे पुल के भीतर की जिदगियाँ दिखायी पडती है, जो केदारजी के 'मॉझी के पुल' की याद दिलाता है। 'उनके सपनो का रग जानता हूँ' कविता फुटपाथ की उस जिदगी को पकडती है, जो इस चकाचौंध मे ओझल हो रही है, लेकिन उसकी अपनी जिदगी है, जिसमे राख और आग से बुने सपने है। उनकी 'गठरी' कवि के लिए 'नकली तमचा है और असली क्रोध'। यही 'गठरी' एक लम्बे समय के बाद 'एक मुट्ठी जिदगी' का विषय बनती है, जो इसानी जिदगी का जाला है, 'जिदगी के यातायात के सिरहाने घर घर घूमने वाली वह एक बेघर जिजीविषा चिम्मड' है। ज्ञानेन्द्र कुत्ते की अँगडाई मे भी सौन्दर्य देखते है जिसमे 'बनती वह उमग जो कुत्ते को हवा के आगे-आगे लिए चलती है' और जिसकी परिणति 'खजुही कुतिया' (96) जैसी कविता मे होती है, जिसके माँ बनने पर कवि विमुग्ध है। कहता है 'वह कुतिया-मानवी नही लेकिन मानवीय-एक माँ-वक्ष आँचल की तरह फैला/ उन आँखो मे/ मेरे आगे।' यह ही है लोक सौन्दर्य का खुरदुरापन। खुरदुरेपन का लोक सौन्दर्य। जो यह बतलाती है कि कविता के लिए दर्शन नही, दृष्टि चाहिए। पहचान नही अहसास चाहिए। चिन्हित नही, चीन्हने की प्रवृत्ति चाहिए। इससे ही कविता अपने विषय के लिए भी Accessible बनती है। **इस रूप मे ज्ञानेन्द्र की मौलिकता यही है कि कविता के जो विषय हैं, कविता उनके लिए accessible है। यह 'विषयगत प्रशस्तता' ही इनकी विशेषता है, जिसके परिणाम स्वरूप कविताएँ भीतर से फैलती है (जड़ों) और बाहर से उभरती है।**

दरअसल ज्ञानेन्द्र की हर कविता से एक रूखड-बाखड चेहरा झॉकता है, जिसका अकन उसी के आधार पर करते है। ज्ञानेन्द्र की यही विशेषता कविता को आरोपित होने से बचाती है और जैसा कि हमने आरभ मे ही कहा, फुटपाथ की जिदगी को पूरी निजता से पकडने के कारण उससे अनेक राहे भी निकलती है और लोक व शहर के सधि स्थल का पता भी चलता है। इन्ही चेहरो से उनके चरित्रगत वैशिष्ट्य का पता भी चलता है और यह जानना बडा रोचक है कि 80 के दशक मे 'चरित्रो' को आधार बनाकर अपने समकालीनो मे सबसे अधिक कविताएँ इन्होने ही लिखी है। इनके चरित्र केदारजी के चरित्रो की परम्परा मे विकास पाकर भी अलग हैं क्योकि ये दुर्लभ चरित्रो के चितेरे कवि है। ये फुटपाथ से धीरे धीरे उभरते है और समूचे समाज मे फैल जाते है व जिनमे 'खून को होने दो गर्म' तक का आक्रोश भी है (शहर की रात मे आग-सग्रह मे), हालाँकि जब चरित्र आलक्षित थे, तो आक्रोश था, किन्तु जैसे जैसे आगे के विकास मे ये लक्षित होकर 'विशेष' के रूप मे आने लगे, यह आक्रोश दबता गया है। अब उसमे स्थितियो की मार्मिक अभिव्यजनाएँ मिलती है। 'शहर की रात मे आग' कविता मे आरभिक स्थिति के दर्शन होते है। बनानी बनर्जी, राम खेलावन, अपना बधवा, से होते जब ज्ञानेन्द्र 1996 की 'एक कर्णप्रिय कीर्तिकथा' के खूँटकढवा तक पहुँचते है, तो यह स्पष्ट होता है, क्योकि अब आक्रोश प्रतिक्रियाजन्य न होकर सर्जनात्मक होता है। वह स्थिति से इतर चित्रित नही होता। अपना वघवा मे कवि विद्रोह का सकेत करता है "जमीन पर गिरने से पहले बघवा के कण्ठ मे फँसी गुर्राहट भी उन्होने ही सुनी थी।" यानी यह कि ये कविताएँ गुर्राहट को तो दर्ज करती है लेकिन इसके आगे नही बढती।

इन्ही चरित्रो के बीच समय के अतर्विरोधो का पता भी चलता है जिस कारण से कभी कभी लिखे गये विषयो पर भी कविताएँ लिखते है। 'मशरूम वल्द कुकुरमुत्ता',

(जुलाई 96 आजकल) एक ऐसी ही कविता है और यह महज सयोग नही है कि जहाँ एक ओर ज्ञानेन्द्र निराला द्वारा लिखे गये विषय पर अपनी कविता लिखते है, वही 'खूँटकढवा' जैसे चरित्र को पहली बार जगह भी देते है। हम देख सकते है कि इनके पुरानेपन मे कितना नयापन है और नयेपन मे कितना पुरानापन है। यूँ 'व्यक्ति' के विविध रूपो की अभिव्यक्ति करती ये कविताएँ बेहद महत्वपूर्ण बन पडी है। इसे यह भी कह सकते है कि ये कविताएँ उन कविताओ से बेहद अच्छी है, जो लोक के शब्दो व सस्कारो को दत्त भाव से चुराकर कविताएँ गढते है। इस प्रकार ज्ञानेन्द्र की सस्कृत निष्ठता भी (यदि आप ऐसा मानते है?) उन लोगो की लोकधर्मिता से बेहद अच्छी है जो कविता को सडी आलू की तरह इस्तेमाल करते है और सडी आलू की तरह कविता मे बने रहना चाहते है।

'रामखेलावन' कविता मे कवि जब कहता है-

'आदमी तक पहुँचना चाहते पेडो को आदमी से जोडना।

धन्धे से कुछ ज्यादा है',

तब यह स्पष्ट होता है कि यह 'जोड' बाजार के तर्क से सभव नही है। इसके लिए 'भावना' की जरूरत है और यह बाजार से पैदा नही की जा सकती। बाजार, हमारे सस्कृति को इस हद तक नियन्त्रित करता है कि हम कुकुरमुत्ता तक को पैदा करने लगे है। अर्थात् उसे हम उसके प्राकृतिक स्वरूप से वचित कर रहे है। प्रकारातर से यह उत्पादन का उत्पात ही है। 1941 से 1996 तक की इस मानसिकता को पकडने के लिए ही कवि ऐसा विषय चुनता है। कवि तो पहले इस 'मशरूम' को कौतूहल से देखता है। फिर धीरे धीरे उसके स्वरूप को पहचानता है और फिर वह खिसिया उठता है-

'मैने देखा उसे

जमीन से उठकर जिसका दिमाग सातवे आसमान पर चढा

अमीरो का मुँह लगा।

कहा पत्नी को

सुनो, जल्द पकावो इसे

नही तो जाऊँगा कच्चा चबा।[62]

यही परिवर्तन को लक्षित करना उनकी कविता 'सक्रान्ति बेला' (सित0 97 साक्षात्कार) का भी उद्देश्य है जिसमे कवि सबसे पहले ऐसे 'पर्वस्नान' का मजाक उडाता है और कहता है 'सक्राति का सूर्य ही इस तरह/ चमका सकता था असदिग्ध/ एक मलिन सामाजिक उपयोगिता'। (कवि केदार नाथ सिह की कविता 'पर्वस्नान' याद आती है) इसके बाद लगातार नष्ट होते मानवीय सभ्यता और सिर फैलाते भौतिक सभ्यता के बारे मे एक वृषभ के माध्यम से कहता है-

'अरे। अमरो और मरे हुओ को छोडो

खटने वालो और खटालो को

नगर की चौहद्दी के बाहर धकेला जा रहा है

कल के बच्चे जानेगे, गाय के दुधगर थनो से नही

पालिथिन के दुधभर- कि आह दुधहर-पैकिटो से आता है दूध ।[63]

इस अकेली पक्तियो से बृद्ध साँड फुटपाथ की जिन्दगी का प्रतीक बनकर आता है और उस दृश्य को उपस्थित करता है जिसमे एक ओर विशाल भवनो की सख्या बढ रही है और दूसरी ओर फुटपाथ के लिए क्रेनो की सहायता से लेकर सुन्दरीकरण किया जा रहा है। यह ही है 'विचित्र चित्रात्मकता' और 'चित्रित विचित्रता'। जिनसे आँखे भर आती है। *ज्ञानेन्द्र मानो फुटपाथ को 'हीडते' है जिस कारण से कविता*

को 'मथने' की जरूरत नही पडती। इस प्रकार वे कबीर व निराला के साथ खडे है जो जीवन को 'हीडते' है और कविता लिखते है। तुलसी से निजता प्राप्त न कर पाना भी यहॉ रोचक है, क्योकि तुलसी चूँकि जीवन को मथते है, जिससे उसमे एक क्रमिकता का सचार करते है और सामजस्य ढूँढते है। वे विशृखलित नही, शृखलित कवि है। जबकि कबीर विशृखलित है। निराला और ज्ञानेन्द्र भी विशृखलित है। शायद इसी कारण दोनो मे अभिनवता है और रूढि-मुक्ति का प्रयास भी। 'सक्रान्ति बेला' कविता इसका प्रमाण प्रस्तुत करती है जिसमे 'गाडियो के गुर्राने और आदमियो के बर्राने'से लेकर 'गहमागहमी से लेकर सहमासहमी' तक के दृश्य उपस्थिति है जिनसे शहर का लोक विधान और लोक के शहरी विधान का पता चलता है। यह दूसरे शब्दो मे 'शहर की पाशविकता और पशु की शहरीयता' को भी उजागर करता है जिसमे जहाँ एक ओर पशु की जिदगी ही बिलाती जा रही है, दूसरी ओर जिदगी (गरीबो की खास तौर पर) ही पशुवत होती जा रही है। गरीबो की जिदगी जैसे जैसे छोटी हो रही है, अमीरो की जिदगी वैसे वैसे बडी हो रही है। कवि ज्ञानेन्द्र ने समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र को यूँ एक जगह मिलाया है, वह भी बगैर किसी काव्य शास्त्र के। इस परिवर्तन को पकडना कवि के लिए चुनौती है, तो आलोचक के लिए इस कवि को पकडना और भी बडी चुनौती है। परिवर्तन को लक्षित करना, यूँ ज्ञानेन्द्र का प्रमुख लक्ष्य बनता है, जो न केवल Horizontal है, बल्कि Vertical भी है। Vertical परिवर्तन तो कवि के यहाँ दैनिक क्रिया व्यापार के रूप मे खूब आते है। 'पेड बनता पौधा' (सग्रह) कविता महत्वपूर्ण है, जिसमे 'बकरी व पेड' के बीच के सम्बन्धो को बडे ही नाटकीय व मनोरम ढग से दर्शाया गया है। बकरी पहले पेड खाती है, बाद मे वही पेड उसे छाया देता है। इसका होना ही वास्तव मे विकास कहलाता है, ऐसा कवि कहना चाहता है और यह एक बडी आत्मानुभूति है। जीवन का यही सहज

क्रिया व्यापार 'बतख के बच्चे' मे भी मिलता है जो हमे नागार्जुन व त्रिलोचन की याद दिलाता है। इस रूप मे ज्ञानेन्द्र दैनिक से लेकर कठोर क्रिया व्यापारो के कवि ठहरते है। इसी दैनिक क्रिया व्यापार उनकी कविताओ मे 'मौलिक उद्भावनाएँ' मिलती है जो 'उद्भावक मौलिकता' से निसृत है। परिवर्तन को लक्षित करना ही 'लक्षित परिवर्तन' का सकेत देना है जिसके लिए अलग से कुछ कहना नही होता। परिवर्तन और विषगतियो का मिला जुला रूप उनकी अन्य कवितोा का ध्येय भी रहा है जैसे 'वृक्ष विदाई', (पहल-52, 1996) जिसमे सभ्यता का उत्कर्ष, प्रकृति के अपकर्ष का कारण है, 'धुएँ के पेड की तरह उगी है' (जनसत्ता-सबरग-1996) जिसमे पूँजीवाद का उगलता जहर है, 'विध्वश के बाद' (पुरुष 92) मे मानव सस्कृतियो को विनष्ट किये जाने के प्रति गहरा सशय और विक्षोभ है और अपने समय पर गहरी टिप्पणी है (बेघर हो गया है जो हमारे अत करण के गर्भगृह मे रमने वाला देवता/ उसे कितने बरस का बनवास दिया है हमने/ वह कब लौटेगा अपनी अयोध्या मे)। 'युद्ध के विरुद्ध' (दस्तावेज-50) खाडी युद्ध पर लिखी कविता है, जो विश्व के विशालतम राष्ट्र अमेरिका के बर्बर कृत्य को उजागर करती उस 'लिबर्टी' के सस्थापक राष्ट्र के अतर्विरोधो पर तीखा प्रहार करती हुई कहती है- "वह शाम की नही शर्म की लाली है/ और वह पुत रही कालिख केवल रात की नही है।" 'यह पृथ्वी क्या केवल तुम्हारी है' (अक्षरपर्व-97) मे पृथ्वी को नष्ट करने वाले 'परीक्षण शक्ति' के विरुद्ध आवाज है (इस पृथ्वी पर मेरा अधिकार/ तुमसे कम तो नही), 'दिनात पर आलू' (साक्षात्कार सितम्बर 92) मे बहुराष्ट्रीय कम्पनियो की सर्वग्रासी प्रवृत्ति की निदा है। मजे की बात है कि ये सारी कविताएँ 'सग्रह' के बाहर की है और 90 के दशक की है। इनमे कुछ तो तात्कालिकता की उपज हैं, तो कुछ तल्लीनता, की लेकिन जीवन के बुनियादी राग को बचाने की चिता सभी मे है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज जब बहुत सी कविताएँ, कवि और आलोचक की निगाह से लिखी जा रही है, ज्ञानेन्द्र अकेले ऐसे कवि हैं, जो अपनी निगाह पर भरोसा करते हैं। उनका भावनात्मक नियंत्रण उनके बाहर नहीं है, जबकि बहुतों का बाहर से ही है। इस रूप में इनकी कविताएँ किसी भी प्रकार की निश्चितता के विरुद्ध जाती हुई जड़ों के प्रति गहरी निष्ठा व्यक्त करती है। इनको किसी घिसे-पिटे प्रतिमान से मूल्यांकित नहीं किया जा सकता। इनकी चिंता का मूल बिन्दु वह खुला जगत है, जो नित परिवर्तनशील है, अशेष है और जिनकी पकड़ सामान्य नेत्रों से बाहर है। इस रूप में ये पूर्णकालिक कवि ठहरते हैं और अपने समकालीनों में इसीलिए अलग हैं।

वास्तव में ज्ञानेन्द्र की कविताएँ **गरीब की गठरी की तरह हैं जहाँ सब कुछ खोलने के बाद भी कुछ बचा रह जाता है जिसे गरीब की आखों में देखा जा सकता है।** कवि स्वयं कहता है "पोटली नहीं, एक मुट्ठी जिंदगी/ चढ़ती-उतरती सीढ़ियों पर/ जिंदगी के यातायात के सिरहाने/ घर घर घूमने वाली वह एक बेघर जिजीविषा चिम्मड़"। (एक मुट्ठी जिंदगी : वागर्भ : दिसम्बर : 96) ऐसा इसलिए भी है कि ज्ञानेन्द्र का कवि लोक जीवन में रचे बसे अनबूझ शब्दों को अर्थ-संधान की इच्छा से खींचते है, जिससे उसका परिधान बदल जाता है और कतिपय लोग सोचते हैं कि यह भाषाई व्यवधान है। यह गलत है। वास्तव में 'शब्द-प्रसरण' ही, जैसा कि हमने कहा, इस कवि को अपनी परम्परा से जोड़ती है। बहुत कवि हैं जो लिखते हैं, जोड़ते नहीं। स्वयं अरुण कमल में यह कमजोरी है। उनमें जो मोहक ठंढापन है, वह कविता को पिघलने नहीं देता है। ज्ञानेन्द्र में विस्फारित गरमाहट है, जिससे कविता पसरती है। **अरुण कमल की कविता उभरती है, ज्ञानेन्द्र की पसरती है। अरुण खतरे नहीं लेते। यह उनका स्वभाव है। ज्ञानेन्द्र खतरों से खेलते हैं। यह उनकी**

आदत है। ज्ञानेन्द्र निहारते है। अरुण विचारते है। ज्ञानेन्द्र विचरते है। अरुण टहलते है। ज्ञानेन्द्र निहारते है, क्योंकि विचरते है। अरुण विचारते है क्योकि टहलते है। ऐसे मे डा0 परमानद श्रीवास्तव की 'पूर्वग्रह' मे की गई टिप्पणी पर पुन विचारने की जरूरत है जब वे कहते है कि ज्ञानेन्द्र 'वृक्ष सवेदना' के कवि है।

अपने समय के इन दो महत्वपूर्ण कवियो की तुलना बेहद दिलचस्प है और यह भी कि साठोत्तरी हिन्दी कविता के मुहाने पर स्थित केदारनाथ सिह की कविता से ये कहाँ भिन्न है। हम एक एक कविता का उदाहरण लेते है। टूटा हुआ ट्रक (केदार जी), एक टैक (ज्ञानेन्द्र), नये इलाके मे (अरुण) की चर्चित कविताएँ है। केदार जी और अरुण कमल के यहाँ सबसे बडा सकट 'पहचानने' का है, क्योकि स्मृति पर भरोसा नही है, क्योकि दुनिया रोज बनती है। इसे ये दोनो कहते है जैसे कोई Hypothesis हो। यह कहने के बाद फिर उसको बुनते है। केदार जी 'ट्रक' का आलम्ब लेते है और अरुण पीपल के पेड, ढहा हुआ घर आदि का सहारा लेते है। कह सकते है कि अरुण पीपल के पेड का आलम्बन लेते कही न कही केदार जी का भी सहारा लेते है। लेकिन ज्ञानेन्द्र इसे कही कहते नही। हालाँकि एक टैक, उनके लिए भी, पुरानेपन के कारण, पहचानने का आलम्ब बनता है और इसके लिए पहले वे उस स्थिति का सन्नाटा बुनते है और फिर इस सन्नाटे मे जीवन की चहल पहल देखते है। वे कहते है "गाँव से आई दो विस्मित स्त्रियाँ उसे निहारती है/ एक बच्चा ईट से उसक ललाट पर निशाने लगाता है/ बारूद उगले वाली लम्बी नली के मुँह से/ उडती है एक चिडिया/ वहाँ उसका घोसला है"। इस प्रकार केदार जी व अरुण कमल की कविता जहाँ अपनी मूल सवेदना मे अतर्मुखी है, वही ज्ञानेन्द्र की बहिर्मुखी है। केदार जी व अरुण कमल की सबसे बुनियादी चिता व सकट भी 'पहुँचने' का है "ज्ञानेन्द्र का सकट पहुँचाने का है, उसे जो कविता के विषय है। तब ठीक ही है कि पहले

दोनो जहॉ उद्देश्य से नियत्रित है, ज्ञानेन्द्र इससे मुक्त है।

जाहिर बाद है पहले दोनो जहाँ सभ्यता से आतकित व आक्रात है, ज्ञानेन्द्र उसके मर्म को उद्घाटित करते है। यूँ कई कविताओ मे केदार जी व ज्ञानेन्द्र अपने अपने ढग से एक जगह है जैसे देहमुक्ति (केदार जी) व सक्राति बेला मे (ज्ञानेन्द्र), माझी का पुल (केदार) और बनता पुल (ज्ञानेन्द्र), बैल (केदार जी) और सक्राति बेला (ज्ञानेन्द्र) का साँड। लेकिन केदार जी व ज्ञानेन्द्र का अपना अपना अदाज है और अपने अपने चरित्र भी।

इसी के साथ ज्ञानेन्द्र व अरुण की आपसी तुलना भी महत्वपूर्ण है और जैसा कि हमने कहा है, अरुण कमल के लिए केदार जी की कविताएँ कठिनाई उत्पन्न करती है, लेकिन ज्ञानेन्द्र इससे मुक्त है। ऐसा इसलिए कि अरुण लगातार व्यवस्था की ओर बढते है और ज्ञानेन्द्र लगातार अव्यवस्था की ओर। इस प्रकार पहला जहाँ कविता खाने मे अवस्थित होकर व्यवस्थित होता है, दूसरा कविता खाने से बाहर होकर अव्यवस्थित होता है। अरुण सुलभ के व्यवस्थित कवि है, ज्ञानेन्द्र दुर्लभ से अव्यवस्थित कवि! अरुण का मार्ग उपलब्ध (उपलबिध का भी) के बीच से होकर जाता है, ज्ञानेन्द्र अनुपलब्ध के बीच मार्ग तलाशते है। अरुण हिन्दी कविता को बढाते है, ज्ञानेन्द्र फैलाते है, जिससे टेढे-मेढे चलकर छूटे को बटोरते दुर्गम मार्ग अपनाते है। एक बाँधता है, दूसरा बटोरता है। एक होल्डाल सम्भालता है, दूसरा गठरी! एक शब्द-साधक है, दूसरा शब्द-शोधक! यूँ दोनो ही लोक मन के सहचर है और सहयात्री भी।

इसके साथ यह भी कि अरुण जहाँ अपने को खीच तान कर अपनो से बडा करते है, ज्ञानेन्द्र बिल्कुल अलग पडकर बडे है। एक पहले कवि-परम्परा की लम्बाई मापता है, फिर उसके निकट खडा होकर अपना विकास करता है, दूसरा इससे मुक्त है और बगैर किसी की लम्बाई मापे अलग से खडा होकर अपना काम करता है।

एक धारा मे मुक्त है, दूसरा धारा से मुक्त है। एक कविता का नेता है, दूसरा कार्यकर्त्ता। एक औरो को अपने मे घुसाकर बोलता है, दूसरा अपने को औरो मे घुसाकर कहता है। यूँ दोनो ही अपने को नष्ट करके भी औरो का उपकार करने हेतु कृत सकल्प है जो इन्हे सीधे निराला से जोडती है।

अरुण कमल : 15 फरवरी 1954 को जन्म। तीन कविता सग्रह 'अपनी केवल धार (1980), सबूत (1989) और 'नये इलाके मे' (1996)। अपने समय के सर्वाधिक चर्चित कवि। कई अलकरणो से विभूषित। आपकी कविता यात्रा सकलन के रूप मे 'अपनी केवल धार' से आरम्भ होकर अब 'नये इलाके मे' पहुँच गई है जो सभावनाओ के साथ चुनौतियो का भी इलाका है। देखिये, आगे की यात्रा कैसी होती है, क्योकि लोक जीवन की गहरी सम्पृक्तता वाले कवि की व्याख्या राजनीति के गहरे आशयो के सदर्भ मे होने लगी है और मजेदार बात यह है कि कवि मौन है। यूँ यहाँ भी नाम पर मत जाइये, अन्यथा 'अपनी केवल धार' की हालत होगी, जिसकी केवल दो पक्तियॉ समूचे काव्य सग्रह के लिए खतरा बन गई है। वैसे भी 'नये इलाके मे' शीर्षक कविता किसी नयेपन का अहसास नही कराती। बस वह पहचान के सकट को अभिव्यक्त करती केदार नाथ सिह की कविता 'टूटा हुआ ट्रक' की याद दिलाती है। अत जरूरी है शीर्षक से इतर सतह का मूल्याकन, क्योकि शीर्षक, आकर्षक होता ही है।

सच बात तो यह है कि ज्ञानेन्द्र पति की कविताओ को पढने के बाद अरुण कमल की कविता ऐसी लगतीहै जैसे किसी बीहड प्रदेश से निकलकर समतल प्रदेश मे आ गये हो या कि फुटपाथ से निकलकर सडक पर आ गये हो, या कि गठरी छोडकर अटैची पकड लिए हो . । लेकिन ऐसा कहना अरुण कमल के महत्व को नकारना

नही है, बल्कि उनके ठढेपन के नीचे की दुनिया को झाँकना है और यह भी देखना कि उनकी कविताओ के शब्द कहॉ से निसृत है या कि उनके भीतर कौन सा चेहरा है। यूँ भी केदार नाथ सिह को पढने के बाद उनकी कविताएँ थोडा खटकती अवश्य है, चाहे जितना भी बडा आलोचक उनके कठिन जीवनधर्मिता की बात कर रहा हो। और यह भी कि प्रकारातर से केदार नाथ सिह की तरह अरुण कमल भी 'अभ्यासात्मकता' के शिकार होते देखे जा सकते है जिस कारण से लम्बे समय तक चलने वाली कविताओ के लिए यह सीमा अवश्य होगी। यूँ दोनो की मूल सवेदना गीतो के निकट होना भी शायद बाधक बन रहा हो।

बहरहाल अरुण कमल एक अत्यत ही सवेदनशील कवि है और इनकी कविता का सौन्दर्य उसके गत्यात्मक विधान मे मिलता है। विषय के रूपात्मक व गत्यात्मक दोनो ही पक्ष इनमे एक साथ उपस्थित होकर लोक सौन्दर्य का विधान करते है। नये सकलन 'नये इलाके' मे तक आते सबसे बडा सकट पहचान का ही उत्पन्न होता है जो अपने जटिल सवेदना मे अधेरे का स्वरूप ग्रहण करता है। यह अँधेरा फिर चाहे प्रकृति का हो, या फिर सभ्यता की भौतिकता के आड का। कवि अरुण कमल इन सभी अधेरे मे से प्राय ही रोशनी की किरण देख लेते है। (भला हो ऐसे अधेरे का) इससे यह स्पष्ट है कि कवि वस्तुओ को पहचानते हुए ही पहचानता है। यह एक प्रकार से 'जडो के अधेरे मे या फिर अधेरे की जडो मे' जाना ही है जहाँ से रोशनी के कल्ले फूटते है।

वास्तव मे पहचानने का सकट भीड होती जाती सभ्यता का सकट है जिसमे मनुष्य स्वय भीड होता जा रहा है। सब कुछ तेजी मे है, जिससे कही कोई ठहराव नही है। एक प्रकार ही हडबडी सब जगह है और इसके सकेत अरुण कमल 'सबूत' सकलन मे ही देने लगते है। पसन्द, छोटी दुनिया (दोनो 'सबूत' से) ऐसी ही कविताएँ है।

'छोटी दुनिया' मे कहते है-

ऐसा ही होगा इस भीड भरे इलाके मे

जहॉ इतनी दिक्कत से मिलता है एक कमरा,

और 'नये इलाके मे' कवि कहता है-

इस नये बसते इलाको मे

जहॉ रोज बन रहे है नये नये मकान

मै अक्सर रास्ता भूल जाता हूँ,

कोई आश्चर्य नही कि बाद मे 'बोधिसत्व' कुछ ऐसी ही कविताएँ लिखते है- 'मै अक्सर भूल जाता हूँ अपना हस्ताक्षर ।' यह भूलने की परिस्थितियाँ आदमी के सामने पहचान का सकट उपस्थित करती है, क्योकि कही ठहराव नही हैं। कवि एक कविता मे कहता है- 'इसमे उन जगहो का क्या कसूर/ फिर भी मुझे ऐसी जगहे पसद नही/ जहाँ से होकर बसे गाडियाँ आये जाये केवल कभी रुके नही ' (पसन्द 'सबूत' सकलन से) ये जगहे क्यो नही पसन्द है, क्योकि वे भीड भरी होती है, जिनमे आदमी नही होते। सिर्फ सामाने होती है। वे फिर चाहे ऊँची अट्टालिकाये हो या फिर कॉच का बाजार, जहाँ स्तब्धता होती है, जीवन नही होता, क्योकि जीवन का कोलाहल पहले भीड मे बदलता है और फिर भीड सन्नाटे मे। दरअसल अरुण हमेशा सन्नाटे को पकडते है और यह सभ्यता के क्षरण का सन्नाटा नही होता, बल्कि सभ्यता के वरण का सन्नाटा होता है। फिर उसमे किसी को पहचानना कठिन होता है, क्योकि उपभोक्तावादी सस्कृति का प्रभाव जबरदस्त होता है। चीजे जैसे जैसे बहुत व्यवस्थित होती जायेगी, वैसे वैसे वे अपने मूल रूप से अलग होती जायेगी और उसी मात्रा मे उसमे आवाज की कमी भी होगी। अत मे एक सन्नाटा दीखता है और उस सन्नाटे मे पहचानना मुश्किल होता है। सजीव व निर्जीव का फर्क समाप्त हो जाता है। यह अमानवीकरण

नही वि-मानवीकरण है, जिसे अरुण कमल की कविताएँ पकडती है। इसमे विरूपित मनुष्यता के दर्शन होते है जिसमे मनुष्य हालॉकि विकास की ओर बढता है, लेकिन उसका स्वरूप लगातार विरूपित होता जाता है। यही सभ्यता सकट है। एक कविता मे कवि ऐसा ही कहता है जिसमे ऊँचे होते मकान का दृश्य है जिसकी अतिम मजिल से कवि झॉकता है-

यहॉ से दिखते है घरो के आँगन मुँडेर
बरामदे भीतर रसोई तक
पर पहचानना मुश्किल है अपना ही घर
अपना ही मुहल्ला लगेगा अनजान
खुदाई मे निकली किसी लुप्त सभ्यता का ध्वसावशेष।[64]

यह ही सभ्यता की स्पदनहीन ऊँचाई है। लगभग निरुद्वेग! निरुद्देश्य! रिक्त! अवसादपूर्ण! हाट (नये इलाके मे) कविता भी कुछ ऐसी ही है जिसमे कवि इन सबको देखता घर लौटा, तो वहाँ पर उसका घर नही था। वहाँ ऊँची लौहकपाट युक्त ऊँची अट्टालिकाये आ गयी थी। कवि अपने ही घर से विस्थापित। उसका घर ही पहचान के परे। और वह घर की बात करता है तब 'द्वारपाल हँसे- तुम किस जन्म की बात कर रहे हो।' भला हो ऐसी सभ्यता की गति का, जिसमे मनुष्य लगातार पहचान से परे होता अपनी 'निजता' ही खोता जाता है। यह ही इनकी कविता मे भी 'बोझिल-प्राप्ति', को उपस्थित करता है। प्रकारातर से यह केदार जी व ज्ञानेन्द्र पति की उसी प्रवृत्ति का विकास है, जिसमे कवि ऐसी 'बोझिल प्रप्ति' को नकारता है जो पहचान का ही सकट उत्पन्न करती है। इसमे ही 'क्षय-बोध' का भाव भी छिपा हुआ है जो भाषा की आतरिकता का सूचक है। 'सुख' कविता इसी दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण है

जो केदार जी के 'माझी का पुल' और ज्ञानेन्द्र के 'बनता पुल' से जुडती है। इसमे कवि 'मकान' के बारे मे कहता है- 'सब कुछ है फिर भी कुछ नही'। क्या है, वह जो ऐसी स्थिति को लाता है। कवि कहता है-

जहॉ तुम्हारा शयन कक्ष है वही

ठीक उसके नीचे याद करो

कोई वृक्ष था जामुन का

नीव पडने के पहले

छोटी गुठली वाले जामुनो का वृक्ष

वही वृक्ष तुम्हे हिला रहा है।[65]

इसका सकेत इसी सग्रह की कविता 'दाना' मे भी मिलता है और 'सबूत' सकलन के 'महात्मा गाँधी सेतु और मजदूर' मे ही इसका आरम्भ हो जाता है जिसमे भाषाई आतरिकता के शिल्प के माध्यम से कवि 'क्षय-बोध' को पकडता है। इसमे पुल बनाने वालो का जिक्र न होने पर कवि वैसे ही परेशान है जैसे कवि ज्ञानेन्द्र पति अपनी कविता 'खजुराहो' मे परेशान है। (यह बात और है कि ज्ञानेन्द्र मे जो तीव्रता है, वह अरुण मे नही मिलती)। कवि अरुण कमल कहते है- 'पुल बन गया/ और देखते ही देखते उखड गया तम्बुओ का नगर/ रह गयी चूल्हो की ईंटे/ मिट्टी और कालिख मे लिपटी/ खूँटो के छेद यहाँ से वहाँ तक/ कहाँ गये वे हजारो मजदूर?"। इसके साथ सबूत सकलन की कविता "मानुष गध" भी देखी जा सकती है, जिसमे वगैर किसी भाषाई आतरिकता के नष्ट होते घर की चिता है जो ठूँठ होते जा रहे है। यह पुराने की ओर भागना नही, नये के गति को नियत्रित करना भी है। कवि कहता है- "जो नया जीवन रच रहे है/ जो उठा रहे है नयी भित्तियाँ/ उनके ही जिम्मे है

खण्डहरो को बचाने का भार" और यह अभिलाषा है-

ये खण्डहर मनुष्यता के चरण चिन्ह

कटे बाँस की ठूँठ जडे

उगी है जिनसे आज की सबके नयी कोपल

इनकी एक एक ईट रहे जीवित।[66] (सबूत सग्रह से)

इस ठूँठ को नयी कोपल की पृष्ठभूमि मे देखना वास्तव मे उपेक्षित की सर्जना को पहचानना ही है और यह कोई आश्चर्य नही कि यह 'ठूँठ' अरुण मे बहुत आया है जो निराला की कविता 'ठूँठ' की याद दिलाता है जिसमे कवि कहता है "बैठा एक वृद्ध विहग/ कुछ याद कर"। वास्तव मे अरुण कमल किसी वस्तु की हिफाजत उसकी अतिम अवस्था तक करते है और उसी मे वे सृजन का स्वरूप तलाशते है। यह किसी वस्तु को extinct होने से बचाने का उपक्रम ही उन्हे लोक जीवन को गहराई से समझने की दृष्टि प्रदान करता है और इस रूप मे वस्तु की अतिमता के कवि है जिसमे वे जीवन गध पाते है। यह उनके नथुनो तक भरी रहती है जिस पर वे मुग्ध है। इसी मे वे उम्मीद देखते है। इसी मे उजाला देखते है। यही उनकी कविता की कुजी है। यही उनकी कविता को प्राकृतिक व मौलिक बनाती है। यही ठूँठ कही 'भूसी' के महत्व को पहचानता है (सदर्भ 'भूसी की आग' - अपनी केवल धार), कही बाढ मे बच्चे 'ठूँठ' को उम्मीद की तरह देखता है (उम्मीद कविता-सबूत से), कही यह ठूँठ हरा दस्ताना है जो जीरो माइल बताने का कार्य करता है (हरा दस्ताना सबूत), कही पेड काटने के बाद बचे हुए थम्भ को खूँटा बनाकर उसकी उपादेयता सिद्ध करनी है (निवृत्त नये इलाके मे), कही किसी वस्तु के मूल स्वरूप की पहचान करने की जिद मे ठूँठ के पाने की बात है (हासिल- नये इलाके मे), कही त्यागे हुए कुएँ के रूप मे भी जल की तरह बचने की इच्छा है (शेष- नये इलाके मे), कही

कोना के रूप मे अट शट डालने की जगह है (कोना- नये इलाके मे), जिसमे कोने को एक महत्व के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस रूप मे अरुण कमल ठूँठ जीवन नही, ठूँठ मे जीवन तलाशते है और यह इनमे उतना ही महत्वपूर्ण है जितना ज्ञानेन्द्र मे फुटपाथ। अरुण जैसे कवियो के माध्यम सेही वास्तव मे वह शेष जीवन बच पाया है, जिसे अन्यथा त्याज्य माना गया है। इस रूप मे इनकी कविता नष्ट होने की हद तक जीवन को बचाती है और स्वय कहती है-

यह वो समय है जब

शेष हो चुका है पुराना

और नया आने को शेष है (यह वो समय- नये इलाके मे)

आप देख सकते है कि एक ओर स्वय को पहचानने का सकट है, तो दूसरी ओर कवि 'ठूँठ' को पहचानने का माध्यम बनाता है जो केदारजी मे 'ट्रक' है, तो ज्ञानेन्द्र मे 'टैक'। अरुण थोडा और नीचे जाते है और जड तक पहुँचकर उस ठूँठ पर ही पक्षियो को बुलाते है। जीवन की तलाश मे, जिसे पहले ही ज्ञानेन्द्र मे अपनी तोप की नली से चिडिया को उडा दिया है। यूँ जीवन की यह गूँज सुनना ही अरुण का भी उद्देश्य है और इस बिन्दु पर केदार, ज्ञानेन्द्र व अरुण एक जैसे है, हालाँकि 'एक टैक' (शब्द लिखने के लिए ही यह कागज बना है) मे ज्ञानेन्द्र 'बारूद उगलने वाली लम्बी नली के मुँह से/ उडती है एक चिडिया' कहकर यहाँ भी बाजी मार ले जाते है, जिसे अरुण कमल ने 'नये इलाके मे' तक व्यक्त किया है। अरुण तब तक चिडिया को बैठा ही सके थे। जब तक वे उसके घोसले के लिए घास-फूस का जुगाड करते है, तब तक ज्ञानेन्द्र घोसला बना चुके होते है।

बहरहाल इनसे यह तो पता चलता है कि अरुण कमल की कविताएँ हमेशा ही उम्मीद नही छोडती, वही कि 'मौसम चाहे जितना खराब हो'। वे हमेशा ही सुघडता

के बीच अनगढता के महत्व को पहचान लेती है और इसी कारण ये कह सकते है कि 'चुम्बन के बीच सहसा/ पसीने के नमक के स्वाद।' (चेहरा- नये इलाके मे) ये किसी सदर्भ के निचुडने के हद तक खिची जाती है जहॉ मिलता है सूखा विषय! विषय सूखा। वस्तु हरी और भरी। यह ही है इस कवि की विशेषता और साठोत्तरी हिन्दी कविता की लोकधर्मिता। यही कारण है कि यह ठूँठ इनकी कविताओ मे अँधेरा बनकर भी आता है जिससे रोशनी प्रकीर्णित होती है। यह सुबह होने के पहले का अँधेरा है। यहॉ भी आप उम्मीद के धरातल पर अँधरे व उजाले के आपसी सम्बन्धो देख सकते है। ठूँठ की तरह अरुण मे अँधेरा भी बेहद गतिशील है। इनके यहॉ अँधेरा भीगकर भारी हो जाता है जिसमे "पीछे--पीछे देहो की परस्पर परिक्रमा/ घटियॉ बजती" (एक मन्दिर की गाथा-नये इलाके मे)। 'रात' कविता स्वय इसका बखान करती है। रात का गतिशील अधेरा है जो दमे के दर्द से और भी अधिक घना होता जा रहा है। लेकिन इसमे भी एक बल्ब जलता है, हालाँकि "बहुत रात बाकी है अब भी/ इतनी काली रात बहुत कम पानी इसमे।" (नये इलाके मे) 'श्रद्धाजलि' (नये इलाके मे) मे भी धुर अधेरे के बीच बेकार घडी के 'रेडियम' की सार्थकता बताई गई है। यानी यह कि कुछ भी बेकार नही है। इतना ही नही कवि इस अधेरे को आनदित होने की हद तक इस्तेमाल करता है और इसे किसी शाश्वत सत्य की परख करने जैसा बतलाता है-

"कितना अच्छा है रात भर जगकर/ सूर्य को उगते हुए देखना/ देखना अधकार की खुलती हुई गिरह।[67] और 'नये इलाके मे' मे जैसे इसी के लिए बना ही हो। मानो ससार का सारा प्रकाश उसे दख रहा है।-

चारो ओर ऑधेरा छाया

मै भी उठूँ जला लूँ बत्ती

जितनी भी है दीप्ति भुवन मे

सब मेरी पुतली मे कसती (जितनी भी है दीप्ति)

अधेरे और उम्मीद के सधिस्थल पर अवस्थित सवेदनाओ के माध्यम से कवि कही व्यवस्था की खोखली उपलब्धि को ठेगा दिखाता है, (गृह प्रवेश, असत्य के प्रयोग, रात का ढाबा, घोषणा नये इलाके मे), कही सतह पर चल रही विमानवीकरण की प्रक्रिया की पहचान कर लोक को रचनात्मक भावभूमि भी प्रदान करता है (सयोग - नये इलाके मे, वार्त्ता वैष्णवन की- सबूत), कही विस्मृति के गर्भ से सहसा यथार्थ को पकडता है जो इस आपाधापी मे कही खो गया है, (चेहरा, रात का ढाबा - नये इलाके मे) तो कही जीवन की एकरसता को पकडने की कोशिश करता है (एक बार भी बोली-सबूत) और इन सभी मे गजब का समय-बोध हैं। आतरिक कसमसाहट है। मनुष्य के छीजते जाने की समझ है। 'घोषणा' कविता मे तो कवि गजब का मजाक उडाता कहता है कि 'मै भारत का एक नागरिक, एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि नीद/ मुझे राष्ट्र के सर्वोच्च पद से ज्यादा प्यारी है।' 'रात का ढाबा' मे तो ढाबा ही शोषण का प्रतीक बन जाता है और दूसरो को चूसकर अपनी भट्टी को जलाता हुआ नजर आता है जिसके बारे मे कवि कहता है "कुछ धुवाँ धुवाँ लग रहा है/ चाँद पीछे ढह रहा है" और इन सब परिस्थितियो से होता हुआ वह पूरी व्यवस्था पर लगभग प्रश्न चिन्ह लगाते और मजाक उडाते कहता है- 'मेरा नीड वहाँ उस तरु पर/ जिसका सोर पताल'। (गृह प्रवेश-नये इलाके मे)। इसी सभ्यता मे वह विमानवीकरण की प्रक्रिया की परख भी करता है, जो प्रचलित अमानवीकरण से इस कारण से भिन्न है कि इसमे व्यक्ति की विकृति के लिए व्यवस्था के साथ खुद व्यक्ति भी जिम्मेदार है। वह बकरी जो स्वय निरीह है, एक दूसरी बकरी से लडती है और विषय होता है। विखाई को चरने का। कवि पहले बकरी की कातरता को व्यक्त करता है। फिर

उसके पीछे की कुटिलता को अभिव्यक्त करता है-

देखा चारो ओर तो जाकर

नजर टिकी छोटे विरवै पर

कौन चरे बिरवे को पहले

यही विषय था इस विवाद का।[68]

यह अमानवीकरण (सयोग) के भीतर का विमानवीकरण है जो सतह के नीचे है। इस सतह के नीचे का चेहरा क्या है उसे कवि एक अत्यत मार्मिक कविता मे (चेहरा) पकडता है और यह कविता हिन्दी साहित्य मे तब तक याद रखी जायेगी, जब तक समतल के बीच ऊबड-खाबड की अर्थवत्ता बनी रहेगी, जो कि बनी ही रहेगी। इसके अभिव्यजना पक्ष पर विमुग्ध हुए बगैर कोई सहृदय उसके जीवत तत्वो की पहचान नही कर सकता। यह न केवल साठोत्तरी हिन्दी कविता मे दुर्लभ है, बल्कि आधुनिक हिन्दी कविता मे ऐसे हस्तक्षेप करते प्रसग कम ही आये है, जिनके एक 'शब्द' के माध्यम से समूचा ऐतिहासिक, सामाजिक व सास्कृतिक परिवेश ध्वनित हो सकता है। यह वह 'गूँज' है, जो लम्बे समय तक गूँजती रहेगी। अरुण कमल की कविता का यह चुम्बकीय आकर्षण है जिस पर हम अभिव्यजना पक्ष पर विचार करते समय विस्तार से लिखेगे- फिलहाल-

पुआल रौदे पॉवो पर पानी पड़ने की चुनचुनाहट

चुम्बन के बीच सहसा

पसीने के नमक का स्वाद[69]

(चेहरा नये इलाके मे)

पुन अरुण कमल मे यह 'मूल राग' का द्योतक है जो जडो तक जाता है, जिसमे

किसी वस्तु को इस रूप मे देखना ज्यादा महत्वपूर्ण है। यही उनमे गतिशील जीवन के प्रसगो का उद्घाटन करता है ('फिर से' - सबूत), यही उनमे चरित्रो को उभारता है और यही प्रकृति व मानव से सौन्दर्य को उपस्थित करता है। चरित्रों के बारे मे तो उनकी स्पष्ट धारणा ही है कि 'केवल शब्दो का फाहा लिये/ जाना चाहता हूँ उस तरफ से/ जो सबसे कमजोर है । (सोये मे चलना - नये इलाके में)। इसके लिए उनकी तन्मयता देखने योग्य है जब वे 'शीशे मे नाक सटाये' (हाट - नये इलाके मे, जेल मे याद-सबूत) दृश्यो को देखते है। यह शीशे मे नाक सटाये हुए देखने का प्रसग अरुण कमल की कविताओ की केन्द्रीय विशेषता है। सयोग (नये इलाके मे) का हरिनदन, हमारे युग का नायक (नये इलाके मे) का 'ठगे जाने के हद तक' सरल व्यक्ति, डेली पैसेजर (अपनी केवल धार) का डेली पैसेजर, यात्रा (अपनी केवल धार) का निहाल सिह- महत्वपूर्ण चरित्र के रूप मे आते है, जो किसी न किसी रूप मे व्यवस्था के शिकार है। यह अवश्य है कि इनमे सघर्षरत चरित्र कम ही आये है और वे भी कम है जो उपेक्षित है और 'विशेष' रूप मे (ज्ञानेन्द्र की तरह) जिनका आना कविता के लिए जरूरी हो। फिर भी वे 'मूल राग' के अन्यतम कवि है, इसे किसी भी कोण से देखा जा सकता है।

इसके साथ यह ध्यान रखना जरूरी है कि अरुण कमल हालाँकि लोक मन के चितेरे कवि है, किन्तु अवसर अक्सर इनकी कविताओं मे 'लोक विम्ब' सायास प्रयास के प्रतिफलन के रूप मे दिखाई देते है। एक प्रकार सचेतनता दिखाई देती है। ऐसी सचेतनता के विरुद्ध आगाह करते ही आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि आवश्यकता से अधिक अप्रस्तुत विधान का सहारा लेना कविता के लिए हानिकारक है। उन्हीं के शब्दो मे" यो ही खिलवाड के लिए बार बार प्रसग प्राप्त वस्तुओ से श्रोता या पाठक का ध्यान हटाकर दूसरी वस्तुओ की ओर ले जाना, जो प्रसगानुकूल भाव उद्दीप्त करने

मे भी सहायक नही, काव्य के गाम्भीर्य और गौरव को नष्ट करता है। उसकी मर्यादा बिगाडना है। (नामवर सिह के 'कविता के नये प्रतिमान' से उद्धृत) यह जितना 'भाव' पर सटीक है, उतना ही भाषा पर भी। ऐसा लगता है कि अपने 'लोक' प्रतिबद्धता को ये लोक की विम्बवत लडियो से बताना चाहते है और यह आद्योपात मिलता है। यह उसमे घुल मिलकर नही आता ('एकालाप' कविता का एक ही धोवन मे झड गई माडी जैसी पक्तियाँ बाहर से चिपकाई लगती है - सबूत सकलन मे)। ऐसा उनकी सवेदना का शायद गीतो के निकट होने का परिणाम है, जो बार बार एक सूत्रता को ढूँढने के चक्कर मे फॅस जाती है। यही स्थिति केदारजी मे भी मिलती है। दूसरी ओर ज्ञानेन्द्र पति इससे सर्वथा मुक्त है। कही भी लोक विम्बो का सायास प्रयास नही मिलता। जो आते है (और ऐसे बहुत आते हैं) वे घुल मिलकर भी आते है। अरुण कमल की 'हक' कविता से (सबूत), ज्ञानेन्द्र की बाद मे प्रकाशित कविता 'पृथ्वी सूक्त के वशधर' की तुलना करते हुए यह तो अहसास होता ही है, इससे अधिक यह भी कि ज्ञानेन्द्र अपने विषय को त्वरा मे पकडते है। अत उनकी गति 'तेज' होती है। यूँ दोनो ही 'मूल-राग' के कवि ठहरते है। अतर है तो **इसका ही कि अरुण कमल जहाँ 'लत्तरों' (इनकी कविताओ में यह खूब आता है) के कवि है। ज्ञानेन्द्र 'गाछो' के कवि है और गाछों की बाछें होती है। यह किसी से छिपा नही है।**

स्वप्निल श्रीवास्तव : 5 अक्टूबर 1954 को जन्म। 'ईश्वर एक लाठी है' (1981) और 'ताख पर दियासलाई' (1992) नाम से दो काव्य सग्रह प्रकाशित। यूँ तो ये 80 के दशक के कवि ठहरते है, किन्तु चर्चा बहुत बाद मे होती है। ऐसा शायद इनके समकालीनो का बहुत मजबूत होना रहा है। अरुण कमल इनके लिए

सबसे बडे आड रहे है। बहरहाल।

स्वप्निल मे भी अनुपस्थिति की उपस्थिति है और अधेरे मे रोशनी है। अरुण कमल की तरह इनमें भी कविता निचुडने के हद तक जीवन को बचाती है और इस कारण से इनकी कविता 'गुठली' इनकी बुनियादी सवेदना को बतलाती है-

फल खाकर जिसने भी

फेकी होगी यह गुठली

उसे यह पता नही होगा

कि वह अपनी जिदगी से

कितनी जरूरी चीजे फेक रहा है।[70]

यह ही 'वस्तु का सामाजिक पक्ष है जिसमे समाज के वास्तविक पक्ष' की अनुगूँज है। यही उपभोक्तावादी सस्कृति मे खतरे का शिकार हो रहा है और इसी को बचाकर इन कवियो ने लोक सस्कृति को बचाया है और हिन्दी कविता का बडा उपकार किया है। यह ही 'वस्तु' का गतिशील पक्ष है, जो स्थूल के बाहर है। यही देखना सौन्दर्य को उत्पन्न करना है, न कि केवल उसके स्थूल आकृति को। यही देखने की प्रतिबद्धता इन लोकधर्मी-कवियो मे दिखाई देती है जिसमे समाज के उपेक्षित वर्ग को भी अपने कविता मे चरित्र के केन्द्रीय तत्व के रूप मे उभारा। स्वप्निल ने जिसे गुठली के रूप मे देखा है, अरुण कमल ने 'ठूँठ' के रूप मे पहचाना। निराला पहले ही इसे पहचान चुके थे। मतलब यह कि जितना ही हिन्दी कविता मे 'आगे बढो' निराला उतना ही याद आते है। बहरहाल .।

स्वप्निल मे इसी तरह की कविता ढिबरी, धरन, खाँची (सभी ताख पर दियासलाई से) मिलती है जिसमे वस्तु स्पदित होती है। ऐसी ही स्थिति पहले सकलन की कविता

गेहूँ, बोरसी मे भी मिलती है। जिनमे लोक-ताप है। बोरसी ताप के साथ रिश्तो मे आत्मीयता स्थापित करती है-

पोतनी मिट्टी से बनी हुई

पृथ्वी की तरह गोल

मजबूत झॉवे की तरह पकी हुई

जैसे वह कुम्हार के चाक पर

ढाली गयी हो

माँ के हाथो बनायी गई बोरसी।[71]

और आग को जिदा रखने के लिए-

'कहती है मॉ/ खुदुर बुदुर न करो/ जिन्दा रहने दो/ बोरसी मे आग।'

ऐसी ही स्थिति 'गेहूँ' कविता मे भी मिलती है, जिसमे जीवन-गध है। यह बात और है कि अगले सकलन की कविता 'खलिहान' मे भी स्वप्निल ने इसी शिल्प को साधा है। शायद कोई जल्दबादी रही हो। ऐसे ही स्थलो पर उनकी कमजोरी भी उभरने लगती है जहॉ उनकी कविताओ मे अपेक्षित कसावट का अभाव खटकता है।

यूँ 'गध व स्पर्श' उनमे खूब आते है। पहले दो सकलनो तक तो ये लोक जीवन से रागात्मक सम्बन्ध के रूप मे आते है, किन्तु बाद की इधर उधर पत्रिकाओ मे प्रकाशित कविताओ मे ये शहर की प्रतिक्रिया के रूप मे दिखाई देती है। यह कवि का बुनियादी सवेदनाओ से लगातार दूर जाने का प्रतिफल ही है। आरम्भ मे उनमे लोक जीवन की भीनी गध के प्रति ललक है, जिसमे ताप व सघर्ष भी है। 'बरसात मे घर' मे कहते है- 'यहाँ बरसात हो रही है/ सभव है हजार किलोमीटर दूर/ मेरे गाँव मे भी हो रही हो/ वहाँ की दीवारे/ बिस्कुट की तरह गल रही हो।' (ताख पर दियासलाई)

इसी मे वह कहता है- 'पुरखो के बनाये हुए घर मे/ गडे हुए है पुराने स्वप्न व स्मृतियाँ'/ 'गमछा मे भी स्पर्श व गध' एक साथ है- 'पसीने की गध से/ पहचान जायेगा कि/ यह उसके बाप का गमछा है (गमछा)। 'बाबा की खॉसी' से कवि की देह भी हिलती है। उधर 'खलिहान' एक बडा परात है 'और बहुत दूर तक सुनाई पडती है परात की झनझनाहट'। लेकिन 1998 तक आते आते यह स्वर बदलता है क्योकि शहर का दबाव बढता है। कवि कहता है 'मुझे इस शहर मे एक अजन्मे/ बच्चे का रोना सुनाई पड रहा है/ जो हत्यारो के डर से गर्भ से/ बाहर नही आना चाहता।' (इस शहर मे - बसुधा 42-1998)

लेकिन बात इतनी ही नही है। कवि लोक जीवन के आदिम राग को बचाने के लिए भी चितित है। जिस आदिम सगीत को सुनने के लिए कवि दुनिया के कोलाहल से भागकर जगल मे जाता है, (सदर्भ वारिश), वह ही आज सकटग्रस्त है, क्योकि उसमे शहर का कोलाहल लगातार भरा जा रहा है। इसके लिए कवि कहता है-

"मै लोक गीतो को आखेटको से बचाना चाहता हूँ

इन लोक गीतो मे दर्ज है पूर्वजो की पगध्वनियाँ" (सदर्भ 1998। वसुधा - 42)

इसके साथ ही जडो की गहरी ललक के कारण कार्य मे भाषाई आतरिकता के लक्षण भी मिलते है (पहिया, अतिम कौर तक) और चरित्र भी आते है (सुगनु साधू, ईश्वरबाबू) जो साठोत्तरी हिन्दी कविता मे मिलता है। प्रकृति के कुछ गतिशील बिम्बो की चमक-दमक भी मिलती है। गठरी के भीतर रोटी का सौन्दर्य की विलक्षण है। इसी गठरी को ज्ञानेन्द्र ने पहचाना है। इसे ही स्वप्निल ने पहचाना है। मजे की बात तो यह है कि सौन्दर्य गठरी और रोटी के बीच है। उस अवस्था मे है जिसमे गठरी से रोटी बाहर आती है। रोटी एक सदर्भ को लेकर आती है। इसे ही हम

'उभरता सौन्दर्य' कहने के पक्षपाती है। यह अवश्य है कि केदार नाथ सिह की अच्छाई (शिल्पगत विधान) और कमजोरी (अभ्यासात्मकता) दोनो ही इनमे मिलती है और जल्दी ही दिखाई पड जाती है। इससे मुक्त होना असभव तो नही, कठिन अवश्य है, क्योकि लोकभाव भूमि पर अपनी स्वायत्तता को बनाये रखना बडी प्रतिभा की माँग करता है। हम देख चुके है कि अरुण कमल तक इससे अछूते नही है। हॉ ज्ञानेन्द्र की बात और है। वास्तव मे लोक मे वैविध्य तब तक नही मिलेगी, जब तक आपके देखने मे वैविध्य न हो और आपके देखने मे वैविध्य तब तक नही होगा, जब तक औरो का देखा हुआ आपकी जानकारी मे न हो। इसीलिए यह जितना 'डूबना' माँगता है, उतना ही 'सचेतनता'।

X X X X

इसके पहले कि हम 90 के दशक के कवियो का मूल्याकन करे, कुछ बातो को स्पष्ट करना जरूरी है। सबसे पहले तो 90 के दशक से आशय हमारा यहाँ केवल उस युवा कवियो से है जिनके पहले सकलन 90 के आस पास प्रकाशित हुए है और निश्चय ही "आधार प्रकाशन" ने वही कार्य किया है, जो 80 के दशक मे सभावना प्रकाशन ने किया था। 1990 तक आते आते हमारा गणतत्र 40 वर्ष पूरा कर चुका था, और हमने पचायती राज के सदर्भ मे भी मूल्यो के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया मे प्रगति की थी। शहर अब शहर नही रहा। लोक अब लोक नही रहा। कवि अब कवि जैसे (!) नही रहे। सभी कुछ मे परिवर्तन हुआ है और सब एक दूसरे के लिए जरूरी बने। राजनीति की भी यहाँ तक एक परम्परा मिलने लगती है। जिस रघुवीर सहाय तक राजनीतिक अभिव्यक्ति की कोई परम्परा नही थी, क्योकि "भारत एक नया राज्य था", वही 90 के दशक के कवियो के पास 40 वर्ष की एक रेखा भी थी जिनसे निश्चय ही राजनैतिक आशयो की कविताओ ने प्रभाव ग्रहण किया।

कुमार अबुज, विमल कुमार, देवी प्रसाद मिश्र, सजय चतुर्वेदी, प्रमोद कौसवाल, कात्यायनी, गगन गिल आदि कवियो मे इसे देखा जा सकता है जिसमे कुमार अबुज ऐसी पक्तियाँ लिखते है "अशोक स्तभ के नीचे बने शेरो मे से/ चौथा शेर देखने के लिए जाना होगा नेपथ्य मे/ सामने से तो दिखेगे बस तीन ही शेर ' (क्रूरता सग्रह) इस समय मे मुक्तिबोध का 'समय से साक्षात्कार' व निराला का 'समय का अतिक्रमण' दोनो ही देखा जा सकता है।

दूसरी ओर 'भारत एक पुराना समाज है' इस आशय से इसके लोक जीवन की जीवत परम्परा रही है जिसका विकास केदार नाथ सिह से होता हुआ इस दशक तक चला आया है। निश्चय ही यह बहुत ही समृद्ध परम्परा व प्रभावोत्पादक रचनाधर्मिता का समय रहा है और 90 के दशक मे इसके लक्षण निलय उपाध्याय, एकात श्रीवास्तव, बद्री नारायण, बोधिसत्व और तमाम उदीयमान कवियो मे मिलते है जिन्होने किसी न किसी रूप मे लोक मन को बचाये व बताये रखने की कोशिश की है। इन सभी मे लोक जीवन मे आ रहे (चरित्र व प्रकृति दोनो क्षेत्रो मे) परिवर्तनो को रेखाकित करने की कोशिश दिखाई देती है। कही ढग से। कही जल्दबाजी मे। इन कवियो का अलग अलग विश्लेषण भी हम करेगे।

लेकिन 90 के दशक के कवियों की प्राय: सबसे बड़ी विशेषता, जो कमजोरी ही है, चमत्कृत करने की रही है। प्राय: कवि कविता में कुछ चमकदार पक्तियाॅ ठेलते हैं और इस दम्भ के साथ प्रस्तुत करते है मानो किसी अद्बुत सत्य का उद्घाटन कर रहे हों। वास्तव मे यह उनकी किसी बुनियादी कमजोरी का लक्षण व प्रतिफल ही हैं, क्योंकि इस तरह से उनकी कोशिश कुछ याद करने जैसी ही दीख पड़ती है। कविता को याद कराने के चक्कर में और पाठक को ठूँस ठूॅस कर घोटाने के चक्कर में वे कविता में अशिष्टता के

हद तक विशिष्ट बनने की कोशिश कर रहे है और ऐसी चीज नही उभर पाती, जिसे याद किया जाना जरूरी है। अर्थात् 'विषय' का 'नवोन्मेष उद्घाटन' लगातार खोते जा रहा है और कविता पंक्तियॉ ही लगातार चमकदार बनती जा रही है। इस रूप मे ये कवि पंक्तियॉ लिखते है, न कि कविता। ये पक्तियॉ उन्हें कविता की आरोही पक्ति में खड़ा करने का भाव चाहे भले ही जागृत कर दे, कोई नया भाव जागृत नही कर सकती। जो इससे मुक्त है, और निश्चय ही ऐसे है, कविता की संभावना उन्हीं से है और उन्ही मे है।

दरअसल ऐसे कवियो की कविताऍ उतनी ही बचकानी है जैसे किसी व्यक्ति का भाषण। जब कोई व्यक्ति विषय को सही नही पकड पाता, तो वह उसे उद्धरणो से भरकर ठीक करने की कोशिश करता है और विश्वास करता है कि वह सबसे अच्छा बोल रहा है। हिन्दी कविता मे आज लगभग यही स्थिति है। वह उद्धरण बनने की प्रक्रिया मे है। यह किसी खोखलेपन को भरने का सुनियत्रित तरीका है तथा यह सदियो से होता आ रहा है और सदियो तक होता रहेगा। इसी के शिकार साठोत्तरी हिन्दी कविता के धूमिल है। किचित आलोक धन्बा है और अब तो बहुत सारे कवि है।

अत मै जोर देकर कहता हूँ कि जबरदस्ती विचारो व भावो की ठूँसाई से वह कविता बेहतर है जो अपने आस पास खाली स्पेस रचती है, जिसमे तनाव है, जिसमे आक्रोश है और जहाँ एक समाज की कथित व व्यथित पीडाये है। कविता किसी "रजस्वला सहानुभूति" की अपेक्षा नही रखती। वह सम्मोहित भी नही करती। वह आपको छूती है। फिर चाहे वह भाषाई आतरिकता का सहारा ले। चाहे कथात्मक स्पदन व स्पदनात्मक कथन का। *बदली परिस्थितियो मे हमे न तो कवियो का कवि चाहिए और न ही सिनेमा का कवि। रास्ता इसी के बीच का है। यदि है तो?*

नवल शुक्ल : 27 जनवरी 1958 को जन्म। 'दसो दिशाओ मे' (1992) पहला काव्य सकलन। लोक जीवन को स्पर्श करते है। डूबने से अधिक फैलते है। लोक उपादानो के क्षरित होने को मार्मिकता से पकडते है जिससे प्रकृति के लगातार नष्ट होते जाने का बोध पता चलता है। इनमे लोक जीवन से जुडने की सकल्पनाये मिलती है। 'धरती से विदा' कविता मे इसे देखा जा सकता है कि कैसे ये प्राकृतिक सौन्दर्य के क्षीण होते जाने से विचलित है-

कम हो रही है

कुछ चीजे लगातार

कुछ वस्तुये, कुछ नाम

X X X

हवा कम हो रही है

पीने के पानी तक का अकाल

धरती कम हो रही है

और हमारे वायुमण्डल का विस्तार।

इसमे स्पष्ट है कि यह सिकुडना, वास्तव मे शहरी परिवेश के लगातार फैलते जाने का परिणाम है और इसी के दबाव मे कवि को कहना पडता है कि मै कही नही जाऊँगा बल्कि "स्वरो मे फैल जाऊँगा"। इस लगातार हो रहे परिवर्तनो को लक्षित करते नवल 'क्षय-बोध' को पकडते है, जो साठोत्तरी हिन्दी कविता की अपनी पहचान है। इसे "वर्षो बाद वह जगह" नामक कविता मे देखा जा सकता है जिसमे कवि एक नयी स्थिति की मार्मिकता को व्यक्त करता है

'यहाँ चलते थे हम

तो हमसे बोलते थे मकान

मकान से लगे खेत

और खेतो मे बसा गॉव'

और आज क्या हो गया है कि 'हजारो हजारो भवनो के बीच/ क्यो बैठा है शहर'। इस प्रकार हम देख सकते है कि केदार जी की 'नदी', अरुण कमल की 'सुख' कविता की परम्परा मे ही यह कविता है। यह बात और है कि कविता की सघन बुनावट मे यह कमजोर है। सिर्फ बाते बताने की चेष्टा भर दिखाई देती है। शहर के इसी दबाव के कारण कवि उदास भी होता है। 'अमुक दिन जाना है' कविता ऐसा ही अर्थ ध्वनित करती है। इसने लोक मे लगातार जगह की कमी पैदा की है। इस रूप मे नवल गॉव मे शहर के लगातार हो रहे हस्तक्षेप को रेखाकित करते हुए पविर्तनो को बताने वाले कवि है। यह परिवर्तन ही उनकी कविता की उम्र को बढाता है। 'बस इतनी जगह' ऐसी ही कविता है। इसी से मुक्ति की इच्छा 'दसो दिशाओ में' शीर्षक कविता मे दिखायी देता है।

"बद हो जाये महल, अटारी, गेट/ मेढक टर्राये/ फैलती चली जाय पूरी पृथ्वी पर/ घास, पतवार, झाड, झखाड/ बचे खुचे पेड लहराये/ ऐसी बारिश हो/ हो बारिश/ कि सबसे पहले और बाद मे/ खूब फुदके गौरैया/ उसकी आवाज/ दसो दिशाओ मे फैल जाय/" (दसो दिशाओ मे)

इस प्रकार हम देखते है कि लोक जीवन की रागात्मक अभिव्यक्ति तो है लेकिन एक प्रकार का ठढापन बराबर खटकता है। यदि इसमे थोडा सघर्ष पक्ष भी होता या कि शब्दगत ठेठपन होता, तो कविताये महत्वपूर्ण होती।

निलय उपाध्याय : 28 जनवरी 63 को जन्म। 'अकेला घर हुसैन का'

1994 मे प्रकाशित। अतिम दशक के महत्वपूर्ण कवि। आरा मे रहते है। अतिम दशक के कुछ ऐसे कवियो मे है जो लोक जीवन से रस खीचते हुए लगातार अपनी दृष्टि परिवर्तनो पर लगाये रहते है। कोई प्रतिक्रिया नहीं। शहर का कोई दबाव नही। लोक के प्रतिरक्षा का भाव नही। बस उसमे हो रहे नित परिवर्तनीयता के मार्मिक स्थलो की पहचान करते जाते है। लोक शब्दो को रखते नही, वे भाव प्रवाह मे स्वत ही आते है। लोक के अप्रस्तुत को बताते नही, पूरा प्रसग ही लोक अप्रस्तुत को सरचित करता है। तमाम समकालीन कवि जहॉ लोक जीवन की ठहरी कविताऍ लिखते है, (मसलन बद्री नारायण), ये जीवन की जरूरी कविताऍ लिखते है। वास्तव मे इनके समकालीन कवि 'कुमार अबुज' जिस राजनैतिक आशयो की गहरी कविताऍ लिखते है, वैसे ही ये लोक आशयो की सघन कविताऍ लिखते है। इनमे 80 के दशक के बहुत सारे कवियो की तरह स्मृति भी नही है क्योकि ये गॉव को गाँव की ऑख से देखते है जिस कारण से इनका व्यग्य भी लोक का है जिसके माध्यम से राजनीति की लोकोन्मुखता को बडे ही Wit and vigour के साथ समझते है। राजनीति भी स्वतत्र भार मे लोकोन्मुखी होती गई है क्योकि उसने जाना है कि उसका असली वोट बैक अभी भी वही है जिसे वह अपनी शर्तो पर भुना सकती है। निलय राजनीति के इस पक्ष को पकडने वाले बडे ही सभावनाशील कवि रहे है। मत्री जी मेरे गाँव आना उनकी महत्वपूर्ण कविता है- कवि मत्रीजी के आने के बारे मे कहता है- 'मत्रीजी, मेरे गाँव आना/ आना/ जैसे सुबह मे धूप/ आना/ जैसे हवा मे गध/ आना/ जैसे फलो मे स्वाद/ '। फिर कहता है-

दूधो नहाना

पूतो फलना

छप्पन का भोग लगाना

और लौट जाना

जैसे सूखे मे बादल।[72]

'सूखे मे बादल' यह है अपेक्षाओ का भ्रम, जिसमे सूखे बादल की तरह की भी गूँज है। 'सचिवालय के गेट पर खडे लडके' भी ऐसी ही कविता है जिसमे बेरोजगारी जैसी समस्या को उठाया गया है। इसी आधार पर लिखी 'अगला गणतत्र, हालॉकि अपेक्षाकृत कमजोर कविता है, जिसमे विवरणात्मकता ही अधिक है। लेकिन 'बासी भात की तरह ठढे पड गये है लोग' के माध्यम से जीवन के मार्मिक पक्षो की पकड है और समय की तीखी पहचान है। यूँ भी बासी 'भात' कवि की केन्द्रिय सवेदना का सवाहक है जिसे एक अन्य कविता 'भात पकने का गीत' मे कवि ने साधा है।

वास्तव मे कवि सहज शब्दो के माध्यम से ही असहज अर्थो का उद्‌घाटन करता है जिस कारण से उसमे अन्य कवियो की तरह 'शब्द-रखाव' की स्थिति नही मिलती। इसी कारण वह खुद भी कहता है कि 'शब्दो मे सहज, अर्थो मे सवेदनशील कविताओ के दिन फिरेगे' (पहले कविताओ के दिन फिरेगे)। इन्ही मान्यता के आधार पर वह शब्द-जाल के विरुद्ध है और ऐसे कवियो (दिल्ली माडल) का मजाक उडाता है जिनमे 'कभी समझ मे न आने वाली परेशानियो की तरह बिम्बो से भरी पक्तियॉ' (दिल्ली का कवि) मिलती है। वह तो लोक जीवन मे रचे बसे भात, लेवाड, चिहुँकना, हहास, हँकरना जैसे शब्दो का प्रयोग करते एक नये सदर्भगत अर्थ का सचार करता है। तब यह कोई आश्चर्य का विषय नही है कि चिहुँकना व भात कई बार उसकी कविताओ मे आते है, जो उसकी जडो के सूचक है और जडे भी कई कविताओ मे आती है। 'भात पकने का गीत' तो सुन्दर कविता है जिसका सौन्दर्य 'नीद की बोरियो' से खुलता है। नीद व भूख का रिश्ता कितना जीवत है कि दोनो के बगैर काम नही चल सकता। कितु यदि भूख लगी है, तो नीद नही आयेगी। वह आ आकर जायेगी। यह वास्तव

मे भात की सकृति है जो चावल से भिन्न है। यह भात उस गरीबी का चित्रण है, जो उनके लिए 'फास्ट फूड' से भी अधिक महत्वपूर्ण होता है। कवि कहता है-

ताल दे रहे है अदहन

डमक डमक नाच रहे है चावल

कल से कुछ नही खाया बच्चो ने- कटोरा बजा रहे है

खाली कटोरा- खाली हाथ बडे बडे कौर उठा रहे है

बच्चे गा रहे है- भात पकने का गीत

रात उतर रही है नीद की बोरियो से लदी

बच्चे जाग रहे है और गा रहे है

भात पकने की गीत।[73]

इस कविता का सौन्दर्य चावल के भात बनने की प्रक्रिया मे है, जिसमे एक ओर **डमक-डमक** नाचते है चावल, तो दूसरी ओर कटोरा बजा रहे है बच्चे। जितना तेजी से चावल डमकते है, उतनी तेजी से बच्चे खाली कटोरा बजाते है। डमकना, यूँ स्वत ही खालीपन का द्योतक है, क्योकि इससे पतीली मे अल्पाश मे ही चावल रहने की बात ध्वनित होती है। उस अल्पाश मे एक खालीपन है, जिसे कटोरा बजाकर बच्चे भरते है। यह ही लोक यथार्थ है जिसे कुमार अबुज 'किवाड' मे लिखते है- "भूख का सपना/ नीद के चमकदार सूप मे झर रहा है/ और दानो के फटके जाने की आवाज/ पूरे ब्रह्माण्ड मे गूँज रही है।"

इसी लोक यथार्थ के परिणाम स्वरूप निलय मे भी ज्ञानेन्द्र पति की तरह, कविता अपने विषय के प्रति accessible है। वह जिस विषय को पकडती है, उसे उसके लोगो ने रचा है। इस रूप मे ये कविताएँ विषय के साथ उसके बनाने वाले लोगो

तक जाती है जिसके बारे मे 'फाग सुनते हुए' कविता मे कवि स्वय ही कहता है- "अपनी सीमाओ को तोडता/ लोक रग का यह बासती ह्रास/ इसे इसके कवियो से अधिक उसके लोगो ने रचा है।" किसी विषय की रचना के पीछे लोगो की सत्ता का बोध अन्य कविताओ मे भी मिलता है जैसे भाई हो , पानी पहुँचाने की कविता, पानी पहुँच गया है। इसमे सघर्ष व आकाक्षा दोनो है। किसान असुरक्षा बोध के बीच पानी के लिए किस तरह दौडता है, यही है इसका विषय। इसमे प्रयत्न पक्ष पर बल देकर कवि ने लोक सौन्दर्य की अद्भुत उपस्थिति दर्ज की है।

निलय उपाध्याय का ध्यान समय व परिवर्तन पक्ष पर भी हमेशा रहता है जो एक समाजशास्त्री के लिए बेहद रोचक है। *ऐसे समय मे जब आदमी बिजूखा बनने की प्रक्रिया मे है, यह कवि बिजूखा से आदमी बनाता है। यह विलुप्त हो रहे जीवन की खोज ही है जिसे कवि ने 'मकई के दाने' के माध्यम से प्रस्तुत करने की कोशिश की है।* 'मकई के खेत में' ऐसी ही लम्बी कविता है जिसका अत है-

"ओ किसान हमे घर के चलो
हम तुम्हे बिजूखे से आदमी बना देगे
कहते है मकई के दाने।"

यह उस समय अधिक सार्थक है जब 'बाजार की आँख' (सदर्भ - छ सौ रूपयो मे कविता-पहल-96) कोने-कोने मे पहुँच गई है। इसके साथ गाँव मे परिवर्तनो को भी एक कौतुहल के बीच कवि पकडता है। जिसमे पीढियो का अतराल समझा जा सकता है। 'रामकली' में एक औरत के वोट देने का प्रसग है, तो 'गनेश बहू' मे 'डाक से भेजते प्यार' पर शर्मिंदगी है। पहले मे नारी का नया रूप है तो दूसरे मे पुराना। गनेश बहू को परदेश से भेजे पति के प्यार जनक चिट्ठी पर शर्म आती है। तो रामकली सैकडो मर्दों के बीच वोट डालकर सबको अचभित कर देती है। 'माँ की सीख' मे

रूढि को बताया गया है, जिसे पढकर रघुवीर सहाय की कविता 'पढिये गीता' याद आती है। इस प्रकार नारी जीवन के विविध पक्षो पर पकड गहरी होती गई है।

इस प्रकार हम देखते है कि निलय उपाध्याय मे लोक जीवन की गहरी समझ है और जडो के प्रति तीव्र ललक है। दो विरोधी स्थितियो की पकड भी काफी अच्छी है। 'कछा' कविता मे कवि स्वय लिखता है-

'जिनकी जडे होगी मिट्टी मे

फेक लेगे कछा ।'

एकांत श्रीवास्तव : 8 फरवरी 1964 को जन्म। 'अन्न है मेरे शब्द' 1993 मे पहला कविता सकलन प्रकाशित। सूचना के मुताबिक 'मिट्टी से कहूँगा धन्यवाद' शीघ्र प्रकाश्य। पहल-55 के मुताबिक इसकी अतिम कविता 'यातना शिविर' है। 'अन्न है मेरे शब्द' सग्रह दो भागो मे विभाजित है- धान गध और नागरिक व्यथा। पहले मे शायद लोक को लोक से देखा गया है और दूसरे मे लोक को थोडा बाहर ले। पहला खण्ड, इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है, क्योकि उसमे जडो के प्रति गहरी ललक है। हुलास है। दूसरा खण्ड भी, जहाँ कही लोक को नगर से देखते है ('प्रकार' कविता) जडो के प्रति रुचि को व्यक्त करता है, लेकिन ये सब 'फिट' करते हुए देखे जा सकते है या कि इनमे जीवन की मार्मिकता की पकड न होकर परिभाषित किये जाने की चेष्टा अधिक मिलती है।

एकात के इस सग्रह की सबसे बडी विशेषता अन्न फूटने की ध्वनि को पकडने मे है, जिसमे उसकी गध भी है। अर्थात् इनके यहाँ निर्माण के पहले की पीडा को देखा जा सकता है। यह सृजन के पहले का विजन है। परिणति के पहले की प्रक्रिया है। यही इमे भाषाई आतरिकता है जिसके माध्यम से क्षय बोध का पता चलता है।

अनुपस्थिति की उपस्थिति की जानकारी होती है। इसी कारण ये 'मूल राग' के कवि ठहरते है।

'मूल राग' से आशय यहाँ वस्तु को 'जड' मे पकडना और उसकी सभावनाओ मे भी। यह सम्पूर्णता की अनुगूँज है, जिसमे प्रक्रिया व परिणति दोनो है। इससे ही कविता गतिशील होती है और बाहर से बाह्योन्मुखी होते हुए भी अपनी आतरिक सरचना मे 'केन्द्रोन्मुख' होती है। 'पालना', 'फूल', 'एक बीज की आवाज पर' ऐसी ही कविताएँ है। 'पालना' मे एक बच्चा सोया है, जो बच्चा नही है बल्कि वह पूरे ऐतिहासिक व सामाजिक सदर्भ मे उपस्थिति है क्योकि 'जब भी हिलता है पालना/ हिलती है/ पालने की तरह समूची पृथ्वी'। 'फूल' कविता मे भी फूल, बीज से लेकर फल तक की यात्रा करता है। ऐसी ही स्थिति 'एक बीज की आवाज पर' कविता मे बीज की है, जिसमे पेड, जगल, वनस्पतियाँ आदि सुरक्षित है। इस प्रकार यह 'मूल राग' अपनी जडो की गतिशील पकड के रूप मे आता है।

इस 'मूल राग' के लिए मार्ग प्रशस्त करने वाली 'लोक-स्मृति' है जो अदर्देशीय, नदी, पहाड, बैलगाडी, धान, पेड, फूल, घर, चूडियाँ आदि के माध्यम से आती है। इन सभी मे सन्नाटे को तोडने की कोशिश है, जो कही अनुपस्थिति की उपस्थिति के रूप मे आती है, तो कही क्षय बोध के रूप मे। 'मेले में' कविता इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है जिसमे भीड मे अपनेपन के खोने की पीडा है, क्योकि इसमे वह व्यावसायिकता है जिसमे जीवन नही है। 'घर' यहाँ पर वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में उभरता है। वह प्यार है, भावना है, सम्पृक्तता है। लोक मन है। भीड जन्य मेले मे सामाने है। आदमी नही है। धूल है, लेकिन मिट्टी नही है। कवि कहता है-

न मै भटका न खोया

अगर कुछ खोया तो बस एक घर

इस मेले मे

जिसे मै आज तक ढूँढ नही पाया।[74]

'दगे के बाद' कविता भी कुछ ऐसी ही है, जिसमे शहरी जीवन को आधार बनाकर क्षयबोध की ध्वनि मिलती है। इसमे दगे के बाद भी शहर के किसी न किसी रूप मे बचे रहने की कथा व्यथा है। सितम्बर 1998, बसुधा 42 तक मे प्रकाशित कविताओ मे इसे देखा जा सकता है। 'कुटुम्ब' कविता ऐसी ही है जिसमे दगे मे मारे गये समूचे परिवार की तलाश है। इसमे खण्डहर भी बोलते है। सग्रह मे रिश्तो पर लिखी गयी तमाम कविताएँ इसी स्मृति पर आधृत है। माँ, माँ का पत्र, बहने आदि ऐसी ही कविताएँ है। वास्तव मे स्मृति आश्रित इन सभी कविताओ मे सन्नाटे को तोडने की कोशिश है। 'चूडियाँ' कविता तो उत्तम है जिसमे है "परदेस गये पिता की/ स्मृतियो की खनक/ जो बनाये रखती है/ घर को घर।" यही स्थिति 'पानी की नीद' कविता मे है जिसमे, "आदमियो के जाने के बाद भी/ देर रात तक/ जागता रहता है पानी'।[75]

लोक राग, लोक स्मृति, क्षय बोध, के साथ 'प्रकृति' का भी सुन्दर चित्रण कुछ कविताओ मे देखा जा सकता है। वास्तव मे आज जहाँ प्रकृति पक्ष कविताओ से लगभग गायब होता जा रहा है। एकात ने इसे बडी बारीकी से अपनी कविताओ मे बचाया है। यह इन्हे अपने समकालीनो से अलगाता है। प्रकृति इनके यहाँ जीवन से जुडकर पूरी गति के साथ उभरती है। 'पडुक' कविता सुन्दर है, जिसमे जेठ की गरमी के बीच पडुक के घोसले बनाकर दोपहर की सख्त आवाज को काटने की बात कही गई है। यह ही 'जीवन पक्ष' है, जो कठिन स्थिति के बीच जीवन तलाशता है। 'बारहमासा' में भी हर महीने को जीवन पक्ष से जोडकर दिखाया गया है। 'धान-गध' 1 और 2, मे बसत मे प्रकृति व उल्लसित जीवन को जोड़ा गया है। 'वसन्त'

कविता मे तो पहली ही पक्ति कहती है 'बसत आ रहा है/ जैसे मॉ की सूखी छातियो मे/ आ रहा हो दूध'। यह सब लोक सौन्दर्य की उपस्थिति के ही द्योतक हैं। प्रकृति के साथ ही 'लोक पर्व' का भी चित्रण मिलता है जिसमे कार्त्तिक स्नान व कार्त्तिक पूर्णिमा दोनो को विषय बनाकर उसके पीछे के 'खालीपन' को पकडने की कोशिश मिलती है। मेले तक को (सूखा कविता मे) कहा गया है कि 'इस बार जेबो मे/ सिर्फ हाथ रहे/ उसका खालीपन भरते।'

इस प्रकार एकात किसी वस्तु को उसकी अतिम अवस्था तक जागृत करने की कोशिश करते है। इस कारण ये अतिमता के कवि भी ठहरते है, जो गहरे आशावाद का सूचक है और जो लोक मर्म ही है। किन्तु इनमे वस्तु-वैविध्य का अभाव खटकता है। लोक वस्तु अक्सर दुहराई गई लगती है, जिस कारण से 'लोक' इनमे एक रूढि के रूप मे ही आता है (नदी, पहाड, चिडिया)। 'अन्न' को पक्षियो द्वारा विस्तार देकर दूर तक फैलाने की इच्छा तो है (अन्न- 1, बसन्त), पर यह भूखेपन की नग्नता को उभार नही पाता। खालीपन का बजना यहाँ भी है (सिला बीनती लडकियाँ), लेकिन 'खाली कटोरो' वाली निलय उपाध्याय की सवेदना (भात पकने का गीत) यहाँ नही है। इनकी सबसे बडी कमजोरी यही है कि ये कविता की महीन बुनाई न कर, मोटी कताई करते चलते है। यह शायद स्वभावगत ठडेपन का ही दोष हो। वर्ष 1998 तक प्रकाशित कविताओ को देखने पर ऐसा लगता है कि ये शीघ्र ही अपने को अभ्यासात्मकता की जटिलता मे फँसाकर अरुण कमल व केदार नाथ सिह की पक्ति मे खडे हो जायेगे। एकात को यहाँ पर सावधान रहने की जरूरत है, हालाँकि उसकी सभावना अल्प है।

बद्री नारायण : 5 अक्टूबर 1965 को जन्म। 'सच सुने कई दिन हुए' वर्ष 1993 मे प्रकाशित। इसमे लोक पर्व, लोकाचार आदि के रूप मे लोक जीवन के

पक्ष उभारने की कोशिश मिलती है और इस कोशिश मे प्रयास का भाव कम, परिणति का अधिक मिलता है, जिससे एक अतिरेकी आत्म विश्वास की बू आती है। 'अब मै कबूतर पालूँगा' कुछ ऐसी ही कविता है जिसमे कवि 'यान्त्रिकता' का शिकार हो गया है। कही यह आत्म विश्वास प्रतिक्रियाजन्य भी हो गया है। जैसे 'बाबू रामचन्दर को एक चिढावन' कविता है। वास्तविकता यह है कि कविता यहाँ कुछ उत्पादित सी वस्तु लगती है, जिसमे बाजार का असर अधिक है। कविता मे आये शब्द, वस्तु को उसकी सम्पूर्णता मे उभार नही पाते। कुछ अटके जान पडते है। ऐसा लगता है कि कविता उकरूँ बैठकर चितन कर रही है। अब यह बाथरूम भी हो सकता है, ड्राइग रूम भी और सडक भी। निलय व एकात की जमीनी यथार्थ लगभग नदारद है। लोक सौन्दर्य की दृष्टि से ये कविताएँ निरर्थक होने के हद तक बनावटी है, हालाकि लोक विम्बो की लडियाँ खूब मिलती है। ये समग्रता मे लोक कथाओ की टूटी सग्रहालय जान पडती है, जिन्हे अब दर्शक भी देखना पसद नही करेगे।

लेकिन इसके बावजूद कुछ कविताएँ है जिनपर ध्यान जाता है और वे वही है, जिनमे कवि ने भाषाई आतरिकता के माध्यम से प्रक्रिया व परिणति दोनो पक्षो को देखा है। 'प्रेम पत्र', 'धूप, चाम और निरधिन राम', 'लालमुनि' ऐसी ही कविताएँ है। 'लालमुनि' मे नारी चरित्र के माध्यम से सघर्ष को उभारा गया है। जो अब सामाजिक अधिक है-

'देगी लाख लाख अशीष
भइया को युग युग जीने की
पुलिस की गोली कूटेगी
सूरज के जोत सा

चमको मेरे बीरन

कस्बे के सूदखोर सेठ का

बही खाता कूटेगी

लालमुनि गोधन कूटेगी।[76]

बोधिसत्व : 11 दिसम्बर 1968। पूरा नाम अखिलेश कुमार मिश्र। 'सिर्फ कवि नही' 1991 मे प्रकाशित। अगला सकलन बकौल कवि राजकमल से शीघ्र प्रकाश्य। धुर ठेठ के कवि। इधर अपनी सीमाओ से अवगत और सवेदनाओ के विस्तारीकरण की ओर, तमाम विवशताओ के बीच, अग्रसर। शब्द चयन मे अरुण कमल जैसे सचेत। अत उनकी सीमाये भी यदा कदा दिखायी देती है। शब्दो का प्रयोग न केवल शब्दो को बचाने के रूप मे करते है, बल्कि उसे नई अर्थवत्ता भी प्रदान करते है। इनका होना शब्दो के होने से है और शब्दो का होना कविता के होने मे है। सग्रह से बडे नाजुक कवि लगते है, लेकिन सग्रह के बाहर की कविताओ मे परिपक्वता देखी जा सकती है। यूँ यह उनके अध्ययन और सवेदनाओ के लगातार परिमार्जन का परिणाम भी हो सकता है, हलॉकि कि यह भी सत्य है कि तमाम कोचा-काँची के बीच भी उन्हे लोक सदर्भो के अपने जमीनी यथार्थ को नही छोडना चाहिए।

बोधिसत्व गाँव की स्मृति के नही, बल्कि यथार्थ के कवि है और इसीलिए ये गाँव से ही अपनी अभिव्यक्ति को आरम्भ करते है। इनके गाँव मे खेती है, जमीन है, गारे युक्त घर है, गमकउआ धान है, खण्डहर है, सुख्खू मुसहर है, धान मे पानी बेराते पिता है, झुन्नी बीनती लडकियाँ है, लेउ लगाती औरते है, सुलगते कौडे की तरह गाँव की गर्मी देती मस्टराइन है, बीडी पीती मजदूरा औरते है, गहदुरिया मे चूल्हा

सुलगाती माँ है, दँवगरा कर चले जाने वाले बादल है, न जाने क्या क्या है। ये सब लोक जीवन के पक्ष है जिनमे प्रकृति है, व्यक्ति है, परिस्थिति है। इन सभी की विशेषता यह है कि इनमे कवि स्थिति का बखान भर नही करता, बल्कि उसके मर्म तक पहुँचता है जो उस स्थिति को जन्म देती है। इस कारण वह व्यावहारिक पक्ष को भी पकडता जाता है। जो 'दाने' (1984) केदार जी मे मण्डी जाने से मना करते है, वे बोधिसत्व मे 'आलू के बोरो' के रूप मे शहर की ओर जा रहे है (पिता कविता)। ऐसा इसलिए कि कृषक को पैसा चाहिए। यही स्थिति एकात मे भी मिलती है (धान गध 1) जिसमे अनाजो को बैलगाडियो से शहर जाने की बात आती है। यह शहर या बाजार का आकर्षण नही है, बल्कि अतिशय मोह से मुक्ति का प्रयास है। यही मोह केदार जी मे दानो को मण्डी तक ले जाने नही देता। यूँ यह दो दृष्टियो का फर्क है। यह लोक का बदलता पक्ष भी है।

जहाँ कही 'स्मृति' आती है (काकी, माँ को पत्र), उसमे भी कुछ अछूते लोक विम्बो को देखा जा सकता है। उसमे 'लोक' की त्याग भावना को ही उभारा गया है और अपनी विवशता को चने की हाँडी मे बदर की मुट्ठी से व्यक्त किया गया है। 'माँ का पत्र' कविता मे लोक (माँ) का त्याग देखे-

मैने सपना देखा माँ!

तुम धान कूट रही हो

तुम आटा पीस रही हो

तुम उपरी पाथ रही हो

तुम बासन माँज रही हो

तुम सानी-पानी कर रही हो

तुम रहर दर रही हो

तुम उधर फटी धोती सी रही हो

तुम मुझे डाक से

कपडे सिलाने के लिए

रुपये भेज रही हो।[77]

इसको पढते ही नागार्जुन की कविता 'चदू मैने सपना देखा' याद आती है, जिसमे इतनी तो समानता है ही कि हर आवृत्ति मे एक नया सदर्भ जुडता और यह नयापन बिल्कुल पुरानेपन के साथ आता है। लोक जीवन की यह क्रियात्मकता बोधिसत्व की इधर उधर फैली तमाम कविताओ मे है।

लेकिन इन शब्दो व भावो को बचाने के साथ कवि को लोक की रूढिजन्य अभ्यासात्मकता से भी बचना होगा, अन्यथा कविता मे अनत सभावनाओ के द्वार बद हो जायेगे। किसी भी कवि को अपने को परिभाषित होने से बचाना होता है, हालाँकि आरम्भ मे यही उसके लिए जरूरी भी होता है। बोधिसत्व इसमे सफल हो सकेगे। यह अनुमान कोरा नही है। "निरजना के उस पार जैसी 'आजकल' मे छपी कविताओं से ऐसी सभावना है। कथा- जनवरी-1999 मे प्रकाशित कुछ कविताओ से हम आश्वस्त भी है जिसमे 'दहजना' जैसे बडे ही सार्थक शब्द प्रयोग भी है।

इन कवियो के विश्लेषण के पश्चात थोडा इसका भी सधान किया जाय कि साठोत्तरी हिन्दी कविता मे क्या विषगतियाँ रही हैं। पहले हमे लोक जीवन परक कविनाओ के बारे मे सोचते लगता है कि इसमे बहुत सारी कविताएँ स्मृतियो की कविताएँ रही है। जहाँ ये स्मृतियाँ सास्कृतिक भावो की उद्भावक बनती है वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु जब ये केवल धान, गेहूँ, पशु, खेत, मेड, नदी आदि तक ही सीमित रह जाती है, इनकी सीमाये स्पष्ट होने लगती हैं। कही ऐसा तो नही कि आगे की राह बद

होने पर पीछे की राह खुलने लगती है? खास तौर पर वहाँ जहॉ आगा-पीछा से भी काम नही चलता?

बहरहाल इस दौर की कविताऍ एक प्रकार से 'अनुनादित' (resonant) कविताऍ लगती है, जहॉ वस्तु को हल्के से हिलाया जाता है (स्मृति को), फिर उसकी आवाज सुनी जाती है। इसी कारण थोडा वैविध्य भी आता है, क्योकि यदि वस्तु की सरचना जटिल है, जो कि है ही, तो आवाज भी थोडी 'वैरियेट' करेगी। इस 'वैरियेट' के भी शेड्स है। कुछ तो वस्तु को हल्का सा कँपा कर छोड देते है फिर सुनते है (मसलन केदार नाथ सिह), कुछ लोक वस्तु को एक हाथ से पकडे रहते है। जाहिर सी बात है, यदि आप पकडे रहेगे, तो आप ध्वनि के मूल तक नही पहुँच पायेगे। आशय यह कि वे 'वस्तु' के ऊपर अपनी अवधारणा को थोप देते है। ऐसे कवियो मे व्यक्तिगत भाव ही रहता है और इसे छिपाने के लिए कभी कभी वे मिथको का सहारा लेते है, किन्तु वे मिथक भी समाज के न होकर व्यक्ति (गत) के हो जाते है। वह एक खतरनाक स्थिति है।

कविता मे पहले प्रकार का अन्यतम उदाहरण केदार नाथ सिह की कविता 'नमक' (उत्तर-कबीर) है। इसका लोक सौन्दर्य अद्भुत है। 'वस्तु' की अपनी frequency पर अनुनादित कविता का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

यह जरूर है कि समकालीन हिन्दी कविता के वृहत्तर परिप्रेक्ष्य मे मिथको मोटिफ्स, लीजेण्डस आदि की लगातार अनुपस्थिति, हिन्दी कविता की लोकप्रियता के लगातार क्षरित होते जोने का कारण है। दरअसल हिन्दी कविता की जातीय चेतना ही कुछ ऐसी है कि मिथको से कविता मे रोचकता बढती है। इसके कुछ नुकसान तो स्पष्ट है-

1 पहला यह कि यथार्थ का जो नया से नया उद्घाटन सभव हो सकता था,

वह नही हुआ, क्योकि रचनाकार के सोचने की क्षमता लगातार कम होती जाती है। मिथक प्रयोग से चितन शैली की पुष्टता स्वय सिद्ध है।

2 दूसरे यह कि बडी कविताएँ कम लिखी जा रही है। इससे कविता मे कथातत्व का अभाव दिखायी देता है। इसके अभाव मे कविताएँ मात्रा मे तो बढी, किन्तु गुण मे नही। बडी कविताओ का यही अभाव हिन्दी कविता की चितनीय स्थिति का कारण है।

3 इस कारण से वास्तव मे कविता को जहॉ एक ओर से कहानी की चुनौती मे कमजोर होना पड रहा है, वही दूसरी ओर वह मचीय रागात्मक कविताओ के दबाव का शिकार हो रही है। कविता मे कथातत्व का अभाव, कहानी के सामने जहाँ इसे कमजोर करता है, वही मचीय कवियो की लयात्मकता इन कविताओ के पाठक को घटाती है। यह ध्यान देने के विषय है।

4 कथातत्व के अभाव मे कविता की रोचकता की कम हुई है। यह अतिशय बौद्धिकता का प्रभाव भी है।

संदर्भ सूची

1 कुँवर नारायण 'तीसरा सप्तक' - पृ0 166 - 'ये पक्तियाँ मेरे निकट' कविता।

2 डा0 केदार नाथ सिह - 'रोटी' कविता - प्रतिनिधि कविताएँ मे सकलित।

3 केदार नाथ सिह 'मेरे समय के शब्द' - पृ0 78।

4 वही।

5 वही।

6 विजय कुमार - 'कविता की सगत' - पृ0 29।

7 डा0 नामवर सिह 'विवेक के रग' मे सकलित समीक्षा।

8 विजय कुमार - कविता की सगत - पृ0 49।

9 केदार नाथ सिह - 'जमीन पक रही है' सग्रह।

10 वही।

11 डा0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - 'बेहतर दुनिया के लिए' - 1985 सग्रह से।

12 स्व0 मान बहादुर सिह - 'भूतग्रस्त' - 1985 सग्रह से।

13 एकात श्रीवास्तव - 'बसुधा' 42, सितम्बर 98 मे प्रकाशित।

14 बोधिसत्व - 'सिर्फ कवि नही' सग्रह की 'टूटी दियरी' कविता।

15 अरुण कमल - 'अपनी केवल धार' - 1980।

16 निलय उपाध्याय - 'अकेला घर हुसैन का' सग्रह।

17 केदार नाथ सिह - 'अकाल मे सारस' सग्रह से।

18 कुमार अबुज - 'क्रूरता' सग्रह से।

19. नवल शुक्ल - दशों दिशाओं में।

20. केदार नाथ सिंह - 'जमीन पक रही है।'

21. कुमार अंबुज - 'अनंतिम' संग्रह से।

22. विजेन्द्र - 'ऋतु का पहला पूल' संग्रह से।

23. अरुण कमल 'नये इलाके में' संग्रह से।

24. वही।

25. कुमार अंबुज - 'किवाड़' संग्रह से।

26. डा0 केदार नाथ सिहं, 'गड़ेरिया का चेहरा' कविता - 'प्रतिनिधि कविताएँ' में संकलित।

27. कृति ओर जन-मार्च 98 - सं - विजेन्द्र - अंक-3।

28. ज्ञानेन्द्र पति, 'एक कर्णप्रिय कीर्ति कथा' - वागर्थ - दिसम्बर - 96।

29. पहल - 56 वर्ष 1997 में प्रकाशित।

30. मदन कश्यप 'बाँके मियाँ' 'लेकिन उदास है पृथ्वी' में संकलित।

31. निलय उपाध्याय - कईली - 'अकेला घर हुसैन का'।

32. केदार नाथ सिंह - 'यहाँ से देखो' में संकलित।

33. केदार नाथ सिंह 'गाँव आने पर' कविता 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ' में संकलित।

34. केदार नाथ सिंह - 'नदी' 'अकाल में सारस' में संकलित।

35. केदार नाथ सिंह - 'जमीन पक रही है'।

36. केदार नाथ सिंह - 'गूँज' - 'उत्तर कबीर' में संकलित कविता।

37. केदार नाथ सिंह - 'रोटी' - 'जमीन पक रही है' में संकलित।

38. केदार नाथ सिंह - 'उत्तर कबीर' शीर्षक कविता।

39 केदार नाथ सिह - 'प्रिय पाठक' - 'अकाल मे सारस' मे सकलित।

40 विजेन्द्र - 'धरती कामधेनु से प्यारी' सग्रह।

41 विजेन्द्र - 'नूर मियाँ' कविता - 'धरती कामधेनु से प्यारी' मे सकलित।

42 विजेन्द्र - 'जनपद का वृक्ष' - धरती कामधेनु से प्यारी' मे सकलित।

43 ऋतुराज - 'सुरत निरत' सग्रह।

44 ऋतुराज - 'गरीब लोग' कविता - 'सुरत निरत' सकलन मे।

45 राजेश जोशी - 'मिट्टी का चेहरा' सग्रह से।

46 राजेश जोशी - पहल - 49 - कुछ पुरानी चीजो के पक्ष मे।

47 राजेश जोसी - पहल - 49 - दो नन्हे मोजे।

48 मगलेश डबराल - 'पहाड पर लालटेन से'।

49 वही।

50 वही।

51 वही।

52 वही।

53 वीरेन डगवाल - 'राम सिह' - 'इसी दुनिया मे' ।

54 वीरेन डगवाल - 'हम औरत '

55 वीरेन डगवाल - 'नदी' - 'इसी दुनिया से'।

56 आलोक धन्बा - नदियाँ - 1996 - 'दुनिया रोज बनती है' सग्रह से।

57 आलोक धन्बा - 'बकरियाँ' सग्रह से।

58 आलोक धन्बा - सग्रह से।

59 वही।

60 वही।

61 ज्ञानेन्द्र पति - खजुराहो - साक्षात्कार जून 98।

62 ज्ञानेन्द्र पति - 'मशरूम बल्द कुकुरमुत्ता' - आजकल 97।

63 ज्ञानेन्द्र पति - 'सक्राति बेला - साक्षात्कार - सितम्बर 97।

64 अरुण कमल - 'सबसे ऊँची छत पर' - 'नये इलाके मे' सकलित।

65 अरुण कमल - 'सुख' - 'नये इलाके मे' से।

66 अरुण कमल - 'सबूत' सग्रह से।

67 अरुण कमल - 'एक रात घाट पर' - 'अपनी केवल धार से'।

68 अरुण कमल 'सबूत' से।

69 अरुण कमल 'चेहरा' - 'नये इलाके मे' से।

70 स्वप्निल श्रीवास्तव - 'गुठली' -'ताक पर दियासलाई' से।

71 स्वप्निल श्रीवास्तव - 'ईश्वर एक लाठी है' से।

72 निलय उपाध्याय - 'मत्री जी मेरे गाँव आना' कविता - सग्रह से।

73 निलय उपाध्याय - 'भात पकने का गीत' से।

74 एकात श्रीवास्तव - 'मेले मे' -'अन्न है मेरे शब्द' से।

75 एकात श्रीवास्तव - 'अन्न है मेरे शब्द' से।

76 बद्री नारायण - 'लालमुनि' - 'सच सुने कई दिन हुये'।

77 बोधिसत्व - माँ को पत्र - 'सिर्फ कवि नही' सग्रह से।

अध्याय - पॉच

भाषायी एवं शिल्पगत परिवर्तन

साठोत्तरी हिन्दी कविता के सदर्भ मे लोकधर्मी कविताओ को आधार बनाकर भाषायी व अभिव्यजना कौशल का मूल्याकन बडा रुचिकर है, क्योकि इसके मूल मे उत्तरोत्तर लोक जीवन के शब्दो की अभिव्यक्ति के लक्षण मिलते जाते है। आदिकाल व भक्तिकाल तो इन्ही लोक शब्दो से अटा पडा है। आधुनिक काल मे भी ये शब्द प्रचुर मात्रा मे आये हैं और स्वतत्र भारत की हिन्दी कविता मे तो ये बढते गये है। हाँ, इनका सदर्भ अवश्य ही बदलता रहा है।

वास्तव मे आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की काव्य भाषा का मूल्याकन करने के पहले यह बात स्पष्ट करनी होगी कि भाषा का अर्थ, यहॉ पर भाषा की सर्जनात्मकता से ही है। काव्य भाषा का यह 'सर्जनात्मक पक्ष' आदिकाल से अब तक चला आ रहा है। पहले (आधुनिक काल के पहले) तो भाषा लोक भाषा की सर्जनशीलता पर कोई विवाद नही था, क्योकि भाषा स्वभावत लोकोन्मुखी थी। यह तो पूँजीवाद के स्पष्ट प्रभाव का परिणाम रहा कि भाषा शिष्ट व लोक दो रूपो मे बँटने लगी और यह पूॅजीवाद अग्रेजो का 'कैपिटलिस्टिक पूँजीवाद' ही रहा। इसी के साथ भाषाई शुद्धता पर बल देकर लोकभाषा के महत्व को नकारने की प्रक्रिया भी आरम्भ हुई, लेकिन लोकभाषा जैसा कि इसका स्वभाव है, इसको नजरअदाज करते स्वभावत आगे बढी है और बढती रही है। इस रूप मे ओवेन बारफील्ड की 'काव्य भाषा' के बारे मे दी गई टिप्पणी को ध्यान मे रखने की जरूरत है जिसमे उसने कहा है कि 'काव्य भाषा की परिभाषा देने की चेष्टा के बजाय उसके स्वरूप-विश्लेषण पर बल दिया

जाना चाहिए'। बारफील्ड महोदय ने कहा है कि 'जब शब्दो का चयन व नियोजन इस तरह से किया जाय कि वह सौन्दर्यात्मक कल्पना को जागृत करे या करने की चेष्टा करे, तो इस चयन के परिणाम को काव्यात्मक शब्द-समूह (poetic diction) कहा जाता है।[2] स्पष्ट है कि सौन्दर्यात्मक कल्पना को जागृत करना शब्दो का अभीष्ट होता है।

दरअसल 'भाषा' के विकास मे यह बात बहुत ही स्पष्ट है कि बोलचाल की भाषा व साहित्यिक भाषा के बीच हमेशा ही एक क्रियात्मक सघर्ष चलता रहता है। बोलचाल की भाषा ही काव्य भाषा के रूप मे स्थिर होती है और काव्य भाषा ही बोल चाल से तत्व ग्रहण कर अपने को बदलती चलती है। सस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रश, ब्रज, अवधी, खडी बोली आदि सभी पहले लोक भाषाएँ रही, जो बाद मे काव्य भाषा बनी। जब एक भाव के लिए एक शब्द स्थिर हो जाता है, तब भाषा व्याकरणबद्ध हो जाती है और उसका विकास रुक जता है। जब तक उस भाव को व्यक्त करने के लिए एक से अधिक शब्दो कई छूट होती है, तब तक वह जनभाषा ही होती है। भाषा की यही स्वच्छदता लोकमन को सच्ची अभिव्यक्ति प्रदान करती है। बोलचाल व शिष्टभाषा के सम्बन्ध मे लिखते हुए डा0 चतुर्वेदी कहते है "बोलचाल के शब्दो मे लाक्षणिक क्षिप्रता काव्य भाषा के सम्पर्क से ही विकसित होती है और स्वय रूढ होने पर यह काव्य भाषा बोलचाल के मुहावरे से अपने मे नयी रचनाशक्ति उत्पन्न करती है"[3]। कही कही काव्य भाषा के स्थिर हो जाने पर भी कविता लोकधर्मी होती है (तुलसीदास), किन्तु वहाँ यह भाषाई विधान के स्तर पर न होकर, 'वस्तु' के धरातल पर ही होती है। कही कही 'वस्तु' व भाषा दोनो स्तर पर लोकोन्मुखी होती है, जैसे कबीर या प्रगतिवाद मे।

इस प्रकार कविता की भाषा मूलत लोकधर्मी होती है, जो विभिन्न रचनाकारो

की **सृजन-प्रक्रिया** मे समाहित होकर अपने स्वरूप परिवर्तित कर लेती है। इस रचनात्मक सृजन प्रक्रिया के आधार कवि के अपने भाव चित्र व विम्ब-विधान ही होते है क्योकि कोई भी 'कवि' परम्परा मे स्वीकृत भाव चित्रो का प्रयोग अधिक नही करता। आवश्यकता पडने पर सामान्य से सामान्य शब्दो के आधार पर अपना इच्छित भाव चित्र स्वय निर्मित करता है"[4]। अब यदि उसके भाव चित्र लोकोन्मुखी है, तो निश्चय ही उनकी अभिव्यक्ति भी वह ग्रामीण बोलचाल के शब्दो से ही करेगा और बिल्कुल एक नये अर्थ मे। इससे ही कोई भाषा जीवित व जीवत बनी रहती है। यही पर वह बिम्ब विधान का भी सहारा लेता है और जब यही विम्ब विधान घिसकर प्रतीको का रूप लेने लगते है तो भाषा स्थिर होने लगती है। फिर चाहे वे लोक प्रतीक हो या फिर शिष्ट प्रतीक। चाहे वे मिथक हो या फिर ऐतिहासिक चरित्र नायक। हिन्दी कविता के समग्र विकास मे यह दिखायी देता है। सतो का काव्य, तुलसी तक आते आते इसी तरह कुछ रूढवद्ध हो गया। भारतेन्दु युगीन लोकोन्मुखता, द्विवेदी युगीन काव्य मे इसी प्रकार व्याकरणबद्ध हो गई। छायावाद का भाषा व भावगत वैविध्य (विशेषता निराला का) इसी प्रकार प्रगतिकालीन रीतिवाद (मार्क्सवाद) से अवरुद्ध हो गया। भाषा का वैविध्य उभर नही पाई। उसमे ठहराव दिखाई देने लगा। लोक भाषा के वैविध्य का रूप वास्तव मे फिर साठोत्तरी हिन्दी कविता की लोकधर्मी कविताओ मे ही दिखायी देता है, क्योंकि प्रयोगवाद व नयी कविता का धरातल कुछ और ही था। उसका व्यक्तिवाद लोकभाषाओ व शब्दो के लिए उपयुक्त न जान पडा। यूँ भी स्वतत्र भारत का आरम्भिक काल होने के कारण नयी कविता की मानसिकता ही कुछ और थी।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी कविता मे स्वच्छन्दतावाद के आविर्भाव पर विचार करते हुए लिखा है कि 'जब पण्डितो की काव्य भाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर आगे बढती हुई लोक भाषा से दूर पड जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने वाली उसकी

शक्ति क्षीण होने लगती है, तब शिष्ट समुदाय लोक भाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य धारा मे नया जीवन डालता है। प्राकृत के पुराने रूपो से लदी अपभ्रंश जब लद्धड होने लगी, तब शिष्ट काव्य प्रचलित देशी भाषाओ से शक्ति प्राप्त करके ही आगे बढ सका। यही प्राकृतिक नियम काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध से भी अटल समझना चाहिए। जब जब शिष्टो का काव्य पण्डितो द्वारा बॅधकर निश्चेष्ट ओर सकुचित होगा, तब तब उसे सजीव व चेतन प्रसार देश को सामान्य जनता के बीच स्वच्छन्द बहती हुई प्राकृतिक भावधारा के जीवन तत्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा।' आचार्य शुक्ल के अनुसार यह नियम अटल तो अवश्य है पर यह 'जितना स्वच्छन्दतावादी कविता के विषय मे लागू नही होगा, उतना नयी कविता (प्रगतिवाद) के विषय मे लागू होता है।[5] यह साठोत्तरी हिन्दी कविता मे और भी मुखर होता है। इसी सदर्भ मे डा0 नामवर सिह ने ठीक लिखा है कि 'पिछले पद्रह वर्षो से (1935 के बाद से) हिन्दी कविता मे जिस वेग से लोक भाषा का प्रभाव बढ रहा है, वह सत भक्ति काव्य के बाद कभी भी दिखाई नही पडा था।[6] इस समय के कविता शीर्षको से इसका अदाजा लगाया जा सकता है- निराला की 'तोडती पत्थर' (1937) से आरम्भ कर केदारनाथ सिह की 'जमीन पक रही है' (1980) से होकर एकात श्रीवास्तव के 'अन्न हैं मेरे शब्द' (1992) तक मे इसे देखा जा सकता है।

अपने इसी लेख मे डा0 नामवर सिह लिखते है 'इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से यह पता चलता है कि लोक जीवन एक ऐसी शक्ति है जो सामाजिक गतिरोध को तोडने के साथ ही साहित्यिक गतिरोध को भी तोडता है नया कवि इस प्राणदायिनी लोकशक्ति के ऋण को स्वीकार करने मे गौरव अनुभव करता है और इस स्वीकृति से उसे बार बार पुनर्जीवन मिलता है।" आगे अनुभूति पक्ष पर बल देते हुए वे लिखते है "यहाँ ईमानदारी से हमे स्वीकार करना चाहिए कि कुछ सामाजिक कारणो से हममे

से अनेक रचनाकार चाहते हुए भी लोक जीवन के साथ तादात्म्य की गहरी अनुभूति नही कर पाते। इसीलिए हमारी कविताओ मे लोक भाषा के शब्दो को अपनाने की महत्वाकाक्षा तो रहती है, परन्तु उन्हे खपाने की सफलता बहुत कम पाई जाती है।[7]

इस प्रकार डा0 नामवर सिह के अनुसार अनुभूति आकाक्षा से नही आती। वह आकाक्षा के कार्यान्वित होने की ठोस प्रगति से आती है। इसके लिए जीवन मे ऐक्य का होना जरूरी है।

अब यदि हम इस पृष्ठभूमि मे **मध्यकालीन हिन्दी कविता** का मूल्याकन करे, तो बात स्पष्ट हो सकेगी। भक्तिकाल मे कबीर व जायसी की भाषा जहॉ तद्भव प्रधान थी और इस कारण से जन चेतना से जुडी थी, वही पर सूर व तुलसी की भाषा तत्सम प्रधान है और सस्कृत परम्पराओ की ओर उन्मुख है। कबीर की भाषाई लोकोन्मुखता तुलसी मे सस्कृतोन्मुखता मे पर्यवसित हो जाती है, यद्यपि यहाँ भी भाव लोक मानस का ही होता है। इस प्रकार सूर व तुलसी मे भाषा कुछ कुछ स्थिर होती है, जबकि कबीर व जायसी मे भाषा गत्यात्मक होती है। कबीर मे अनगढता का सौन्दर्य है, तुलसी मे व्यवस्था का। एक का सौन्दर्य तद्भव है, दूसरे का तत्सम। एक गतिशील है, दूसरा स्थिर। भाव के स्तर पर भी ऐसा है, जिसका विवेचन हम पहले ही कर आये है। स्वय सूर व तुलसी का अलग अलग विवेचन करने पर उनकी तद्भवता का पता चलता है जहॉ सूर मे भाषा, बाललीला के वर्णन मे तद्भव होती है, जबकि सौन्दर्य वर्णन मे तत्सम।

आगे **रीतिकाल** मे काव्यभाषा जड हो जाती है। जडता का मतलब तत्समता ही नही है। अलकार भी है। तुलसी की तत्सम बहुलता मे लोकोन्मुखता थी, बस रुझान सस्कृत की तरफ था, क्योकि विषय ही कुछ ऐसा था। रीतिकाल मे तुलसी काव्य भाषा की सस्कृतनिष्ठता का यह रुझान उद्देश्यबद्ध हो गया। 'भाखा' मे गर्व

करने वाले कबीर, सूर, तुलसी से हटकर केशवदास को ग्लानि उत्पन्न होने लगी। अवधी, ब्रज, खडी बोली की जगह अब केवल ब्रज ही प्रयुक्त की जाने लगी। अत भाषा की जडता के कारण लोक प्रवृत्ति का नुकसान हुआ। 'सत कबीर के समय की बहते नीर की तरह 'भाखा' मानो आचार्य भिखारीदास तक आते आते फिर कूप जल मे परिणत हो गई। शायद यही प्रवाह की नियति है।'[8] आगे रीतिमुक्त कवियो ने अवश्य ही इसके विरुद्ध विद्रोह किया।

आधुनिक काल की काव्य भाषा एक बदली मानसिकता की उपज रही है। डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ठीक लिखते है कि 'मध्यकालीन काव्य भाषा अपने श्रेष्ठ रूप मे मूलत तन्मयता के अनुभव को व्यक्त करती है। यह चाहे भक्त-भगवान की हो या फिर प्रेमी प्रेमिका की'।[9] यह तन्मयता कबीर से लेकर घनानद तक मे मिलती है। ऐसा इसीलिए कि उस समय तनाव न तो भाषा को लेकर था, और न ही जिन्दगी को लेकर। आधुनिक काल का तनाव बहुत समय तक मध्यकाल की इस प्रवृति से मेल नही खा सकता था। अत आधुनिक काल ने 'तन्मयता' की जगह 'तनाव' को जन्म दिया। इस तनाव को सप्रेषित करने के लिए ब्रजभाषा की सगीतात्मकता बहुत उपयुक्त नही रह गई थी। अत खडी बोली ने इसकी जगह ली और फिर 'अर्थ-सयोजन' प्रमुख रूप से उभरा। इस तनाव के साथ अतर्विरोध भी गहरे जुडे हैं और मध्यकालीन अप्रस्तुत विधान जहाँ भाषा मे घुल मिल नही सके थे, आधुनिककालीन विम्ब विधान भाषा मे घुल मिलकर उसे गति प्रदान किये। यह बहुत ही उत्साहवर्धक स्थिति रही।

इसी 'तनाव' के कारण आधुनिक काव्य भाषा, मध्यकालीन काव्य भाषा से अलग होती है। डा0 चतुर्वेदी लिखते है कि 'सगीत के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रूप हिन्दी साहित्य मे आधुनिक कविता मे मिलता है, जिसका सारा सगठन भाषा के सृजनात्मक

प्रयोग पर निर्भर करता है। सगीत व छद का सहारा उसने छोड दिया है। सामान्य भाषा मे जो उसकी अतर्निहित शक्ति होती है, उसी से रचना सभव हो जाती है।[10] इस प्रकार आधुनिक काव्य की यह भाषा रीतिकाल से एकदम अलग पडकर काव्य की 'लय' से युक्त होती है। वास्तव मे मध्यकालीन का हमारा अधिकाश काव्य किसी न किसी रूप मे 'सगीत' का सहारा लेता है और ऐसा लोक साहित्य का ही प्रभाव रहा है क्योकि 'लोक साहित्य मे सामान्यतया भाषा का सृजनात्मक प्रयोग नही मिलता। वहॉ भाव चित्रो का सघटन नही मिलता। लोक गीत मे तो अधिकतर सगीत के सक्रिय सहयोग मे दैनिक बोलचाल की भाषा रहती है। शब्दो का योग गौण रहता है।[11] अत शिष्ट काव्य व लोक साहित्य का यह अतर 'सगीत' के आधार पर किया जाता है क्योकि शिष्ट काव्य मे 'सगीत' के साथ 'शब्दो के सघटन' पर भी जोर दिया जाता है।

ऐसा भी नही कि मध्यकाल मे सूर, तुलसी व मीरा मे सगीत ही प्रधान था। काव्य था ही नही।' 'निश्चय ही सगीत का सहयोग काव्य के उत्कर्ष की तुलना मे कम है[12] फिर भी सगीत प्रधानता के कारण काव्य सौन्दर्य यहाँ दबा नही है। अन्यथा तो यह भी लोक साहित्य ही हो जता। आधुनिक काल मे यह सगीत, प्रसाद व निराला मे मिलता है। निराला ने तो अज्ञेय के साथ स्वीकार भी किया है कि उनका काव्य सगीत प्रधान है।[13] लेकिन निराला मे यह जल्दी ही समाप्त हो गया और जहाँ था, गौण रूप से ही, शब्द मे अर्थ दिखायी देने लगा। यह 'लय' प्रधान कविता हो गयी, न कि सगीत प्रधान। पर कुल मिलाकर बाद की कविता मे काव्य मे सगीत की जगह 'अर्थ की लय' पर बल दिया जाने लगा और यही से 'काव्यभाषा' की सर्जनात्मकता का पता चलता है।

इसके अलावा आधुनिककाल की एक और विशेषता है · *बिम्ब-प्रधानता।* जो

कि 'अर्थ सश्लेष' पर बल देती है, न कि 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' पर, जो मध्यकाल की विशेषता थी। यहाँ का विम्ब विधान एक प्रकारसे द्वन्द्वात्मक स्थिति की उपज होता है, जिसमे एक अर्थ की विविध छायाये मिलती है। इससे आधुनिक समय की सघर्षधर्मी काव्य का पता चलता है, जो लोकधर्मी काव्य की निजी विशेषता हुआ करता है। काव्य के इस सघर्षधर्मी भाव को विम्ब विधान की इसी द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति ने गति दी है। डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ठीक लिखते है कि 'व्रजभाषा काव्य के विम्ब विधान मे दृश्यमयता का तत्व प्रमुख था। चाहे उत्प्रेक्षा के रूप मे, चाहे साग रूपक के रूप मे, चाहे शुद्ध विम्ब के रूप मे। खडी बोली के साथ ही विम्ब प्रक्रिया मे दृश्यमयता गौण और अर्थ की द्वन्द्वात्मक क्षमता प्रधान होती गई है[14]। इससे स्पष्ट है कि रीतिकालीन विम्बविधान दृश्यात्मक अधिक था, जबकि आधुनिक काव्य द्वन्द्वात्मक। इससे स्पष्ट है कि 'आधुनिक कविता ने यह क्षमता विकसित की है कि यहाँ पूरी रचना का अर्थ एक और सीधा नही है, पर रीतिकालीन श्लिष्ट काव्य की तरह दो अलग-अलग अर्थ भी नही रखता। वरन् एक ही अर्थ के दो सूक्ष्म स्तर पर अपने तनाव और सश्लेष से एक वृहत्तर अर्थ की सृष्टि होती है।[15]

इस प्रकार अर्थ-लय व विम्ब-विधान, दोनो दृष्टियो से आधुनिक हिन्दी कविता का विश्लेषण रोचक है और 'काव्य-भाषा' इन दोनो को कैसे सम्प्रेषित करती है, यह भी विश्लेषण का विषय है। खडी बोली पर चढी आधुनिक काल की कविता के विविध आयाम, भाषा के स्तर पर खुलते से गये है और खडी बोली ने भाव व लय के स्तर पर बोलचाल के शब्द से निजता स्थापित करने की लगातार कोशिश की है। भारतेन्दु युग, छायावाद, प्रगतिवाद व साठोत्तरी हिन्दी कविता का विश्लेषण इस आधार पर काफी रोचक है। ड0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसी को लक्षित कर लिखा है कि 'भारतेन्दु ने कविता की भाषा मे अतर बाद मे किया। उनके माध्यम से खडी बोली

की प्रतिष्ठा एक बडी क्राति थी, किन्तु उन्होने यह परिवर्तन अधिकतर गद्य की भाषा मे किया। यह भी विचारणीय है कि इसके बाद कविता मे खडी बोली हिन्दी का प्रयोग श्रीधर पाठक, हरिऔध, मैथिली शरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि करते है। किन्तु खडी बोली हिन्दी के आरम्भिक प्रयोगकर्त्ता होने के कारण इन कवियो ने बराबर भाषा का सीधा प्रयोग किया। कविता की भाषा जैसी गहरी अर्थ सम्पृक्ति इनकी रचनाओ मे देखने को नही मिलती। आगे द्विवेदी युग मे भी भाषा व्याकरणिक हो जाने के कारण भाव चित्रो के विधान मे बहुत परिवर्तन न हो सका।[16] आगे वे लिखते है कि 'इस अविकसित काव्य भाषा के अनुरूप ही इन कवियो की सवेदना हैं जो इनके सीमित अनुभव क्षेत्रो का प्रधान कारण है।[17] इस रूप मे स्वय डा0 चतुर्वेदी के अनुसार, **'काव्य भाषा के रूप में खड़ी बोली का वास्तविक परिष्कार छायावाद युग में होता है।**[18] यहाँ भाषा मे लाक्षणिकता, वक्रता और अनेक प्रकार की भगिमाएँ विकसित की जाती है, जिनके सहारे बात को सीधे सीधे कहने के स्थान पर उसे सप्रेषित करने की चेष्टा की जाती है। शब्दो के अर्थ विस्तार मे से इच्छित व वैकल्पिक अशो को ग्रहण किया जाता है, जो काव्य भाषा बनने की पहली आवश्यक शर्त है। (वही) अत यह ठीक है कि छायावाद मे भाषा का सस्कार व परिष्कार दोनो ही होता है और आधुनिक समय मे यह पहली बार होता है। इसकी अपनी सीमाएँ भी रही है क्योकि इसी समय मे लिखा गया 'प्रिय प्रवास', 'साकेत', 'पथिक' जैसे प्रबन्ध काव्य मे भाषा सर्जनात्मक होने की जगह घटना प्रधान हो जाती है। विवरणात्मक होती है। ऐसा एक ओर खडी बोली की प्रारम्भिक अवस्था के कारण होता है, दूसरी ओर इनके मध्यकालीन प्रतीक-विधान से मुक्त न हो पाने के कारण। इसी समय 'निराला' इसके महत्वपूर्ण उदाहरण के रूप मे आते है, क्योकि उनका सम्पर्क हमेशा ही जीवित भाषा (बोलचाल) से बना रहा।

छायावाद के तुरत बाद **उत्तर-छायावाद** मे बच्चन, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, अचल, माखनलाल चतुर्वेदी, बाल कृष्ण शर्मा नवीन, भगवती चरण वर्मा आदि मे छायावाद पूर्व की इति वृत्तात्मकता, सीधी साधी भाषा, को अपनाने का आग्रह मिलता है और इसके कारण का विवेचन करते डा0 चतुर्वेदी लिखते है कि, "राष्ट्रीय आदोलन के उन कठिन दिनो मे तात्कालिक अभिव्यक्ति के लिए गुजाइस अधिक थी।[19] लारेस डरेल के शब्दो मे इन रचनाकारो ने सत्य को सम्प्रेषित करने के बजाय उसे कह देना चाहा। यही कारण है कि सीधी सरल भाषा मे गुप्त व प्रेमचद तो आगे बढे, किन्तु यह उनकी सीमा ही बना। एक सीमा के बाद कहने के लिए उनके पास कुछ नही रह जाता जिसके बारे मे आचार्य नद दुलारे बाजपेयी ने 'जयशकर प्रसाद' की भूमिका मे लिखा है, 'जीवन के गहरे व बहुमुखी घात प्रतिघातो और विस्तृत जीवन दशाओ मे पग-पग पर आने वाले उद्वेलनो को चित्रित करना, उन्हे सभालना और अपनी कला मे उन सबको सजीव करना गुप्त व प्रेमचद की साहित्य सीमा के बाहर है।'

आगे **प्रगतिवाद** मे भी भाषा सरल ही रही, कुछ कुछ उत्तर छायावादियो की तरह, किन्तु यह तत्समता से मुक्त तद्‌भवता की ओर झुकी, जिस कारण से लोकोन्मुखी लेकर गतिशील भाव चित्रो को पकडने मे समर्थ हुई। इसके लिए यह अतीतोन्मुखी न होकर वर्तमानोन्मुखी हुई और लोक जीवन के सश्लिष्ट चित्रों को पकडने मे समर्थ हुई। यह बात अवश्य हुयी कि नारो के चक्कर मे पडकर इसने विधान का बहुत ध्यान नही दिया जिसके कारण काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से यह कमजोर भी हुयी। यह बात जरूर थी कि अपने मूल स्वर मे यह कबीर के निकट जा पहुँचती है, जिसका स्वर आगे की प्रतिबद्ध कविता मे पुन दिखायी देता है, जहाँ विधान (विम्बो) का सहारा लेकर कविता आगे बढती है और लोक सौन्दर्य का रूप धारण करती है। जैसे केदार नाथ सिह मे।

प्रयोगवाद ने भाषाई विधान पर बल दिया। अज्ञेय इसके उद्‌गाता बने। बिम्बो व प्रतीको का प्रयोग आरम्भ हुआ। छायावाद की तत्समता से लेकर अशत तद्भवता को भी जगह दी गयी। किन्तु भाषा यहाँ कवि से स्वतत्र न हो सकी। वह कवियो के हाथ की कठपुतली बनकर काव्य चमत्कार करने लगी, जिससे वह लोक जीवन से कट गयी। कही कही लोक भाषा का प्रयोग करके जनता को रिझाने की कोशिश अवश्य ही की गई पर उसका खुलासा हो गया। भाषा अपने मूल आधार से कट गई। 'प्रत्यक्ष' अनुभव जगत की जगह कवियो ने अपना अपना लोक 'निर्मित' कर लिया और सब अपनी तरह के कलाबाज हो गये। **यह बोलचाल की भाषा भी अज्ञेय के हाथों की कठपुतली बन गयी। इसका प्रवाह न रह सका। यह अज्ञेय की बोलचाल की भाषा बनी, न कि जन सामान्य की।** इसी कारण अज्ञेय की इस भाषा मे भी जीवन लयपूर्ण, सामजस्यपरक, व्यवस्थित ही है, न कि सघर्षमय! यहाँ लोक मन के कवियो का खुरदुरापन नही है, बल्कि एक प्रकार की चिकनाई है। इनकी मूल सवेदना 'प्रगीतात्मकता' के लक्षण यहाँ खूब मिलते है। यही कारण है कि 'असाध्यवीणा' जैसी लम्बी कविता भी इस लयपूर्ण भाव से आच्छादित लगती है। इसी आधार पर डा0 नामवर सिह लिखते है 'अज्ञेय की लम्बी कविता 'असाध्य वीणा' अपने आकार की लम्बाई के बावजूद एक प्रगीत है। नि सदेह, उसमे एक छोटी सी कथा भी है और नाटकोचित सवाद भी। किन्तु भावबोध के स्तर पर पूरी कविता अनुचिन्तनात्मक है और सरचना भी वर्तुलाकार है।[20] अज्ञेय के काव्य व्यक्तित्व के बारे मे निर्मल वर्मा की यह टिप्पणी भी महत्वपूर्ण है कि उनके यहाँ 'अर्जित किये हुए सत्य तो मिलते है, स्वयसत्य को तलाशने की अतर्पीडा, पिपासा, सन्देह मन को घुलाती मैल, मैल जो भीतर के सूरज को बार बार झूठो से छिपा लेती है, इन झूठो का कातर स्वर, उस सत्य को मथने वाला क्रूर, अश्ववेधी विश्लेषण नही

मिल पाता। इस विश्लेषण के अभाव मे उनकी पीडा भी एक निजी थाती, एक भोग की वस्तु बनकर रह जाती है।[21]

नयी कविता ने अवश्य ही इन 'बोलचाल' के शब्दो को अपने मध्यवर्गीय जीवन अनुभवो से मुक्त किया और साधारण से परिचित शब्दो मे नये अर्थ भरने की कोशिश की। यह वास्तव मे प्रगतिवाद व प्रतिबद्ध कविता के बीच की कडी है। 'नयी कविता' के परिप्रेक्ष्य मे ये लक्षण अज्ञेय मे मिलते है। रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर व भारत भूषण अग्रवाल मे मिलते है। अज्ञेय की इस प्रवृत्ति को रेखाकित करते डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते है कि 'प्रगतिवाद इसकी पृष्ठभूमि मे है और नयी कविता का यह स्रोत है।[22] यह सब अज्ञेय के काव्य सकलन "अरी ओ करुणा प्रभामय" 1959 मिलता है। इस सग्रह मे 'प्रतीको, विम्बो, अभिप्रायो के चयन व सामान्य शब्द प्रयोग मे उनकी दृष्टि अधिकतर लोक जीवन की ओर रहती है। ठाठफकीरी, मँगनी, हुनरमद, घुडका, नगी डाकिनी, कुलबुलाती, झाँसी, मनिहारी, लकदक, अटी, डाँगर भसाते जैसे प्रयोग मिलते है।[23] 'औद्योगिक बस्ती' शीर्षक कविता का एक अश है

बँधी लीक पर रेले लादे माल

चिहुँकती और रम्भाती, अफराये डाँगर सी

ठिलती चलती जाती है।

इसका विश्लेषण प्रस्तुत करते डा0 चतुर्वेदी लिखते है कि 'यहॉ लदी मालगाडी के चित्र को कवि रँभाती अफराये डाँगर के माध्यम से उभारना चाहता है। इससे पता चल जाता है कि औद्योगिक बस्ती तो है, लेकिन इसकी स्थिति किसी ठेठ देहाती इलाके मे है।[24]

निश्चय ही काव्य भाषा का यह अभिनव प्रयोग प्रगतिवाद को नयी कविता से जोडता है और इतना ही नहीं 'अज्ञेय' मे मिलने वाली इस प्रवृत्ति का पता 'हरी घास पर क्षण

भर' (1949) की कविताओ से भी चल जाता है। किन्तु यह काव्य भाषा अज्ञेय के सस्कार का अनिवार्य अग नही बन पाती।

आगे की **प्रतिबद्ध कविता,** जो साठोत्तरी की लोकधर्मी कविताओ की जननी है, मे यह सस्कार दिखायी पडने लगता है। अब हर कवि को भाषा मे 'अर्थ का विधान' करना होगा, न कि पिटे पिटाये पुरानी भाषा के विविध अर्थो के बीच से किसी का सधान। ऐसा इसलिए कि अब लय, तुक का जमाना तद जाने से भाषा के समानार्थी शब्दो, उनकी पूरी अर्थ छायाओ मे, वे अब अप्रासगिक से हो गये है, क्योकि एक शब्द के ढेर सारे समानार्थी, उस समय तक ही मूल्यवान थे, जब उनकी जरूरत लय-सधान के लिए पडती थी। **अब तो एक शब्द में ही विविध अर्थ भरने का समय है, जबकि पहले विविध अर्थ (छायाओं) के बीच एक शब्द का चुनाव करना पड़ता था। यूँ इस क्रम के उलट जाने से कविता में भाषा विधान की प्रासगिकता भी बढ़ी है।** यहीं पर कवि की प्रतिभा का उत्कर्ष भी दिखायी पडता है। यह साठोत्तरी हिन्दी कविता के लोकधर्मी कवियो के द्वारा सभव हुआ है जिन्होने जहाँ एक ओर भाषा के सामान्य व सर्जनात्मक स्तरो को अन्वेषित किया है, वही काव्य व्यक्तित्व को अधिक समृद्ध व आधुनिक बनाया है।

इस प्रकार हम देखते है कि भारतेन्दुकालीन काव्यभाषा ब्रजभाषा की तन्मयता के प्रभाव से जहाँ मुक्त हो रही थी, वहाँ पर द्विवेदी युग मे शब्दो के व्याकरणिक रूप पर बल दिया जाने लगा था। छायावाद मे शब्द मे अर्थ भरा जाने लगा था, जबकि प्रगतिवाद मे 'शब्द ही अर्थ' बनकर उभर रहे थे। प्रयोगवाद व नयी कविता मे 'शब्द सयोजन' प्रमुख रूप से उभरा, जो बदली हुई मानसिकता का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। मुक्तिबोध का 'सत-चित-वदना' का यह केन्द्रवर्ती रूप है। प्रतिबद्ध कविता मे इसी शब्द सयोजन को आगे विकसित किया गया है जिसमे शब्द-बोलचाल के

अधिक निकट आ सके है। तब जाहिर है, इन बोलचाल के शब्दो मे उनके प्रयोग के स्तर पर, विम्ब विधान के माध्यम से जन मानस की पीडा को अर्थ दिया जाने लगा है। अपने आस्वाद मे ग्रामीण परिवेश का एक दमघोटूँ वातावरण उभर सका है।

यदि इसको सूत्रबद्ध किया जाय तो पता चलता है कि

1- भारतेन्दु व महावीर प्रसाद द्विवेदी मे 'शब्द शुद्धता' पर जोर होता है।

2- छायावाद मे 'शब्दो मे अर्थ' भरा जाता है।

3- प्रगतिवाद मे 'शब्द-विकसन' मिलता है, अर्थात् शब्द को विकसित किया जाता है।

4- प्रयोगवाद मे 'शब्दो को अर्थ' दिया जाता है।

5- नयी कविता मे 'शब्द-सयोजन' होता है।

6- अकविता मे 'शब्द को ठकठकाया' जाता है।

7- साठोत्तरी मे (लोकधर्मी कविताओ मे) 'शब्द प्रसरण' मिलता है

साठोत्तरी का यही 'शब्द प्रसरण' जडो के प्रति कवियो मे ललक उत्पन्न करता है। बाहर से शात दीखने वाले शब्द भीतर ही भीतर अपनी सास्कृतिक, सामाजिक व राजनैतिक अर्थो मे फैलते है। ये अकविता वादियो की तरह 'खडखडाते' नही। लोकधर्मी कविताओ का सौन्दर्य इन्ही जडो का सौन्दर्य है जिससे इसमे गति आती है। यही कारण है कि साठोत्तरी हिन्दी कविता मे काव्य भाषा व बोलचाल की भाषा के बीच अतर कम हुआ है। ऐसा इस कारण से कि शिक्षा के प्रचार प्रसार से अब जहाँ बोलचाल की भाषा मे खडी भाषा हिन्दी का प्रयोग बढा है, वही काव्य भाषा भी 'क्लासिकी चेतना' से हटकर बोलचाल की लोक सवेदना के निकट पहुँची है।

अब अधिकाश कवि काव्यभाषा को अपने परिवेश से लेते है। इसी को डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है कि 'प्राचीन व मध्यकालीन काव्य भाषाओ का आधार रूप बोल चाल की भाषा से दूर हटा हुआ था- धीरे धीरे यह अतर कम हुआ है।[25]

यूँ तो जैसा कि हमने पहले बतलाया है, साठोत्तरी मे हिन्दी कविता मे दो धाराये मिलती है- एक राजनैतिक व्यवस्था के समानातर चलने वाली कविताएँ, जिसके प्रतिनिधि कवि रघुवीर सहाय है, दूसरी लोक जीवन की अर्थगत अभिव्यक्ति करने वाली कविताएँ, जिसके प्रतिनिधि कवि केदार नाथ सिह है। इन दोनो प्रवृत्तियो की भाषा भी अलग अलग है। हमारा काव्य-भाषा विषयक मूल्याकन का क्षेत्र यूँ तो दूसरी प्रवृत्ति का ही है, फिर भी थोडी पहली प्रवृत्ति की भी चर्चा करेगे, जो नयी कविता की कोख से विकसित होकर स्वतत्र भारत की तात्कालिक समस्याओ को व्यक्त करने वाली बेचैनी के साथ आगे बढती है।

वास्तव में साठ के दशक मे रघुवीर सहाय ने काव्य प्रत्यक्ष की इच्छा से विम्ब मुक्त जिस प्रत्यक्षता, नाटकीयता, विडम्बना और बोल चाल की मुद्रा को साधा उसे 'सपाटबयानी' कहा गया। यह एक प्रकार से 'नयी कविता' के विम्बवादी प्रभाव से अलगाने का प्रयास है। सही अर्थो मे काव्य भाषा अब प्रचलित लय, छद, विम्ब आदि से मुक्त होने की ओर अग्रसर रही। इस समय तक भाषा विश्लेषण बेहद महत्वपूर्ण बन जाता है। प्राय हर कवि आलोचक भाषा विश्लेषण के माध्यम से कवि के अनुभव जगत को पकडता है। स्वय 'अज्ञेय' ने लिखा कि 'काव्य के जो भी गुण बताये जाते या बताये जा सकते है, अततोगत्वा 'भाषा' के ही गुण है।[26] 'तारसप्तक' के द्वितीय सस्करण मे लिखते है, 'काव्य सबसे पहले शब्द है। और सबसे अत मे भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि धर्म इसी परिभाषा से नि सृत होते है। शब्द का ज्ञान-शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही कृतिकार को कृति बनाती

है। ध्वनि, लय, छद आदि के सभी प्रश्न इसी मे से निकलते है और इसी मे विलय होते है। इतना ही नही, सारे सामाजिक सदर्भ भी यही से निकलते है : इसी मे युग सम्पृक्ति का और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल मिलता हैं या मिल सकता है।[27] डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी भी कहते है 'कविता उत्कृष्टतम शब्दो का उत्कृष्टतम क्रम है।[28] डा0 नामवर सिह भाषा के महत्व को निचोड रूप से प्रस्तुत करते है कहते कि 'यदि भाषा कवि के अनुभव व ज्ञान का साधन है, तो कविता की भाषा का विश्लेषण करके उसके अनुभव की शक्ति को भी मापा जा सकता है।[29] इसके आगे वे लिखते है कि अब इस सफाई के लिए कोई गुजाइस नही रही कि कवि ने अनुभव तो बहुत किया किन्तु भाषा की असमर्थता के कारण अपनी बात पूरी तरह नही कह पाया।[30]

इसी भाषागत बल के कारण कविता मे भाषा की 'सृजनशीलता' या 'सर्जनात्मकता' की धारणा का प्रादुर्भाव हुआ।[31] वे लिखते है कि 'किसी नये शब्द को खोजने का अर्थ ही है किसी नये अनुभव खण्ड अथवा वास्तविकता के किसी नये पहलू की खोज।'[32] यह नये पहलू की खोज वास्तव मे रघुवीर सहाय मे अधिक दिखायी देती है जिनकी एक कविता 'नया शब्द' इसी को रेखाकित करती है।[33] वास्तव मे यह काव्य भाषा का विम्ब बहुलता से मुक्ति के भी महत्वपूर्ण कारण रहे है जिन्हे डा0 नामवर सिह ने अपने निबध 'काव्य विम्ब व सपाटबयानी' (कविता के नये प्रतिमान) मे गिनाये है। वे लिखते है कि 'इसे विरोधाभास ही कहना चाहिए कि जब से कविता मे विम्बो की प्रवृत्ति बढी, सामाजिक जीवन के सजीव चित्र दुर्लभ हो गये। सुन्दर विम्बों के चयन की ओर कवियो की ऐसी वृत्ति हुयी कि प्रस्तुत गौण हो गया और अप्रस्तुत प्रधान। इस तरह कवि की दृष्टि ही सकुचित नही हुई, कविता का दायरा भी सीमित हो गया- पहले जीवन से खिचकर प्रकृति की ओर, फिर प्रकृति मे भी विशेष प्रकार

के रमणीय दृश्य की ओर- यहॉ तक कि वातावरण का सकेत देने वाले विम्ब भी सिमटकर एक कमरे की वस्तुओ के रूप मे रह गये और बाहरी दुनिया एक खिडकी की तकदीर के सहारे बैठ गयी। कविता को चित्र बनाने का नतीजा क्या होता है, यह बात पिछले पद्रह वर्षो के अनुभव से स्पष्ट हो गयी। यही हाल 'प्रतीक-सकेत' पद्धति का भी हुआ। साकेतिकता भीरुता का बाना ही नही बनी, अज्ञान का कवच भी बन गयी। जहाँ कुछ स्पष्ट न हो, वहाँ सकेत! अधेरे मे जैसे हर किसी को तीर तुक्के चलाने का मौका मिल गया और हर कवि को परम ज्ञानी की तरह पहेली बुझाने की छूट मिल गयी। देखते देखते कविता भी उस दुनिया का आईना बन गयी जिसमे 'सब दूसरो से छिपाते है।' यदि इतने पर भी इस कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया न होती, तो विनाश निश्चित था- विनाश सामाजिकता और मानवीयता का ही नही, बुद्धि, हृदय व सृजनशीलता का भी।'[34]

डा0 नामवर सिह यह भी लिखते है कि सायास विम्ब विधान का परिणाम यह हुआ कि 'आलोचको का ध्यान समूची कविता पर न जाकर कुछ चमकते हुए विम्बो पर ही केन्द्रित हो गया। इसका असर स्वय कवियो पर भी पडा जो विम्ब छोडने पर आमादा हो गये। कही कही एक ही कविता के भीतर दो असम्बद्ध विम्ब दिखायी देने लगे। वे लिखते है कि 'अधिकाश कविताएँ इधर इसी विधि से गढी जा रही है जिनमे बिखरे विम्बो की एक माला तैयार की गयी है, यहाँ तक कि विम्बो की मणियो के बीच कभी कभी आवश्यक सूत्र का भी लोप रहता है।[35] वे आगे अग्रेजी साहित्य के आलोचक डा0 एफ0 आर0 लिविस की कुछ पक्तियाँ 'इमेजरी एण्ड मूवमेट' (स्क्रूटिनी 1945 मे प्रकाशित) लेख से उधृत करते है। उसका कहना है कि 'कविता के अतर्गत जीवतता के चिन्हो की तलाश मे जो आलोचक अपना ध्यान स्थानीय प्रभावो पर केन्द्रित करता है, वह सम्पूर्ण सघटन के विश्लेषण के लिए और चाहे जिन तत्वो

का सहारा ले, 'विम्ब' जैसे अति सुलभ शब्द से सतुष्ट नही रह सकता, क्योकि वह शब्द सहसा एक सरलीकरण को प्रोत्साहित करता है।'

इस प्रकार अपने लेख 'काव्य विम्ब और सपाटबयानी' मे 60 के दशक मे आई सपाटबयानी की तारीफ करते कविता को विम्ब मुक्त मानते है और 1959 के 'तीसरा सप्तक' मे प्रकाशित कवि केदारनाथ सिह के उस 'वक्तव्य' की आलोचना करते है, जिसमे उन्होने यह स्वीकार किया है कि कविता मे मै सबसे अधिक ध्यान देता हूँ विम्ब विधान पर '। ऐसे वक्तव्य मे वे विम्ब के पुनरागमन की बात सोचते है। पर यह भी सही है कि केदारजी जैसे कवियो के यहाँ विम्बो का सर्वथा अभाव न रहते हुए भी सपाटबयानी का वह सम्पूर्ण विडम्बनाबोध है। यह सपाटबयानी विम्बो को अपने मे पचाकर आगे बढती है, जिससे चौकाने की प्रवृति, कुछ एक प्रसगो को छोडकर, नही मिलती। आगे भी यह मिलती है। किसी भी कविता का पूरी तरह विम्ब मुक्त हो पाना तो कठिन है किन्तु यह सच है कि 'छठे दसक के अत व सातवे दशक के आरम्भ मे सामाजिक स्थिति इतनी विषम हो उठी कि उसकी चुनौती के सामने विम्ब विधान कविता के लिए अनावश्यक भार प्रतीत हो लगा। जिस प्रकार सन् 36 तक आते आते स्वय छायावादी कवियो को भी सुन्दर शब्दो व चित्रो से लदी हुई कविता निस्सार लगने लगी, उसी प्रकार सन 60 के आसपास नयी कविता की विम्बधर्मी निरर्थकता का अहसास होने लगा। समस्या परिस्थिति से सीधे साक्षात्कार की थी। प्रश्न हर चीज को उसके सही नाम से पुकारने का था।[36]

ठीक यही स्थिति रघुवीर सहाय व केदार नाथ सिह में मिलती है। इस दृष्टि से रघुवीर सहाय की कविता 'फिल्म के बाद चीख', केदार नाथ सिह की कविता 'हम जो सोचते है' (अभी बिल्कुल अभी) से 'जमीन पक रही है' सग्रह की टूटा हुआ ट्रक, श्री कात वर्मा के 'माया दर्पण की पक्तिया 'मेरे सामने समस्या है/ किसको किस नाम

से पुकारू/ आईने को आईना कहूँ/ या इतिहास" महत्वपूर्ण है जिनमे से हर एक ने सपाट बयानी के मूल्य को पहचाना लेकिन उसे अपनी बुनियादी बिम्ब धर्मिता के प्रतिकूल न रखकर उसे उसके साथ सयोजित किया और अपने मुहावरो को और उनसे उजागर होने वाले काव्य ससार को समृद्ध किया। चित्रमयता को खोये बिना उसे रोजमर्रा की जीवतता दी।[37] इसके कुछ अतिवाद भी अकविता मे दिखायी पडते है, जहॉ भाषा नग्नता के हद तक सपाट हो जाती है लेकिन इसका विकास आगे नही होता। रघुवीर सहाय वाली धारा आगे विनोद कुमार शुक्ल, विष्णु खरे, लीलाधर जगूडी, से होती देवी प्रसाद मिश्र व विमल कुमार तक मे देखी जा सकती है। केदार नाथ सिह वाली भाषा आगे ज्ञानेन्द्रपति व अरूण कमल से होती निलय उपाध्याय तक पहुॅचती है। यही हमारे अध्ययन का विषय भी है।

साठोत्तरी हिन्दी कविता की लोकधर्मी स्वरूप वाली कविताओं मे भाषा लोक जीवन मे रची बसी दिखायी देती है। यही से इन कवियो का मिजाज और नैतिक साहस का मूल्याकन भी होता है। हम जानते है कि **छायावाद के चित्रों (विम्बवत भाषा) से मुक्त होकर प्रगतिवाद ने चरित्रों को जोड़ा। नयी कविता ने इन चरित्रो को ठेलकर कविता को चित्रों से युक्त किया। साठोत्तरी हिन्दी कविता ने 'चरित्रों और चित्रों' दोनो को महत्व दिया लेकिन यहॉ की चरित्रवादी (सपाटबयानी) कविता चित्रवादी (विम्बप्रधान) अभिव्यक्ति को इस तरह से समाहित करती है कि वे अलग से चिपकाये नही लगते।** चरित्रो का उभार एक वृहत्तर परिप्रेक्ष्य मे यहाँ दिखायी देता है, जिसका उत्स स्वय केदारनाथ सिह की कविता मे देखा जा सकता है। वास्तव मे भाषा का यह विडम्बनात्मक सपाटपन इसके उभार के लिए सबसे अनूकूल जान पडा क्योकि यह व्यक्ति की 'समग्रता' को आधार बनाकर आगे बढता है। यह समग्रता वास्तव मे उपेक्षित जनता के पास जाने मे ही

दिखायी देती है, क्योकि उसमे कोई चमकदार विम्ब नही होता। उसका मूल्याकन खण्डो मे नही, समग्रता मे ही सभव है। इसका सकेत, यूँ निराला ने पहले ही दे दिया था।

इस सदर्भ मे डा0 नामवर सिह की एक टिप्पणी बडी महत्वपूर्ण है। वे लिखते है- 'नयी प्रयोगशील कविता के साथ काव्य भाषा के निर्माण' की दिशा मे जो यह मान्यता आई कि कविता की भाषा का आधार बोल चाल की भाषा होनी चाहिए, वह केवल भाषागत स्वाभाविकता अथवा स्थूल प्रकृतिवादी (नेचुरलिस्ट) प्रवृत्ति का ही सूचक नही, बल्कि उसके साथ कवि का एक गम्भीर नैति साहस जुडा हुआ है, जिसके अनुसार अपने आस पास की दुनिया मे हिस्सा लेते हुए ही कविता को इस दुनिया के **अदर** एक दूसरी दुनिया की रचना करना आवश्यक हो जाता है।[38] यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि बोलचाल की भाषा का प्रयोग एक नैतिक साहस की बात है जो 'सही माने मे आज के जीवन की धडकन को व्यक्त करने वाली लय को गहरे स्तर पर पकडना है।[39] इतना ही नही 'एक दुनिया के अदर, दूसरी दुनिया के उद्घाटन' की बात करना भी प्रकारातर से साठोत्तरी हिन्दी कविता की 'भाषाई आतरिकता' का सकेत करना है। यह साठोत्तरी हिन्दी कविता के लोकधर्मी कवियो की निजी विशेषता है।

भाषाई आंतरिकता

भाषा की आतरिकता लोकधर्मी कविताओ को एक अलग स्वरूप प्रदान करती है। यह ध्यान देने की बात है कि जैसे जैसे साठोत्तरी समाज आगे बढता है, चीजे उतनी ही जटिल होकर उलझती व छोटी होती गयी है। वस्तु यथार्थ का यह सकोच ही इस शिल्प को जन्म देता है जिसे भाषाई आतरिकता कहते हैं, क्योकि यह उस मान्यता पर आधारित है कि गति को गति के सापेक्ष्य ही पकडा जा सकता है। जाहिर

सी बात है यह समस्या के मूल मे जाना ही है जहाँ वस्तु का असली स्वरूप विद्यमान है। केदार नाथ सिह से आरम्भ होकर यह ज्ञानेन्द्र व अरुण कमल से होता हुआ अतिम दशक की कविताओ तक चला आता है। यह बाहर से चिकनी परत दीखने वाली वस्तु के भीतर की अनगढता को पकडना है, और इसमे भी उस अनगढता मे कवि जीवन तलाशता है। इसमे कवि लोक विम्बो का निश्चय ही सहारा लेता है, किन्तु उसे आप अलग कर कविता की समग्रता को नही पकड सकते। यह ऐंद्रिकता के बहाने यथार्थ का उद्घाटन है।

भाषा की यह आतरिकता वास्तव मे निरा प्रयोगवादी कवि अज्ञेय तक मे देखी जा सकती है। उनके यहाँ 'मौन' इस आतरिकता का ही विधान करता है। इसे अज्ञेय ने असाध्यवीणा' कविता मे असाधारण ढग से साधा है। इसमे एक 'वीणा' के माध्यम से कई ध्वनियो को सुनने की चेष्टा मिलती है। इस कविता पर डा0 नामवर सिह की टिप्पणी बेहद रोचक है 'असाध्य वीणा जिस वज्र किरीटी तरु के दारु से बनी है, उसकी जन्मभूमि हिमालय की ही उपत्यका है। मौन की इस स्थिर भूमि से ही व्यापक जीवन की हलचल की अनेक ध्वनियाँ नि सृत होती हुई दिखायी देती है। इन ध्वनियो का चयन, कलन, व विवरण अत्यत सावधानी से किया गया है। जीवन की विविधता व व्यापकता का पूरा आभास दिया गया है। वीणा बजती है राज-दरबार मे, किन्तु उससे दरबार के वातावरण की ही रूप-छवियाँ नही 'ध्वनित होती, बल्कि 'बटिया पर चमरौधे की रुँधी चाँप', 'कुलिया की कटी मे मेड से बहते जल की छुल छुल', 'लोहे के सधे हथौडे की सम चोटे' आदि की भी ध्वनियाँ सुनाई पडती है[40]। इस रूप मे वास्तव मे इस कविता मे असाध्यवीणा एक वस्तु के रूप मे न आकर 'सदर्भ' के रूप मे आती है और **यह 'संदर्भ' ही वास्तविक जगत का उद्घाटन करता है। हमारे समाज में जैसे जैसे यह संदर्भ जटिल होता जाता**

है, वैसे वैसे कविता इसी भाषाई आतरिकता की ओर उन्मुख होती जाती है।

कहना न होगा, कि इसकी वास्तविक पहचान यूँ तो केदारजी कविता देने लगती है, लेकिन **अरुण कमल** की 'नये इलाके मे' सकलित 'चेहरा' कविता इस दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण है जिसमे कवि कहता है *'चुम्बन के बीच सहसा/ पसीने के नमक का स्वाद।'* इस कविता मे नयी व्यवस्था का अभिव्यजना कौशल है, जो चिकनाई के बीच भी खुरदुरेपन की तलाश करता है। यह मुक्तिबोध का 'झॉक झाँक देखता हूँ/ हर एक चेहरा' नही है। यह एक चेहरे के भीतर कई चेहरे की मार्मिकता है जहाँ वस्तु को दबाया गया है। यहाँ सोठोत्तरी का 'शब्द' ही महत्वपूर्ण नही है। अब यहाँ तक आते पूरा 'वाक्य' महत्वपूर्ण होता है। यह वाक्यो की नाटकीयता व विडम्बना है। इस कविता को आप अलग खण्डो मे नही पढ सकते। पूरी कविता ध्यान मे रखनी होगी। **तब उसका समग्र प्रभाव समझ सकते है। यह भद्र जन के रुचि के विरुद्ध जनता के श्रम की आवाज है। यह चुम्बन के चुपके पन के विरुद्ध खुलेपन की स्वीकृति है। यह स्वाद का स्वेदजन्य विस्तार है।** पूरी कविता इस प्रकार है-

एक चेहरा कही दबा इस चेहरे मे
किसी प्राचीन साम्राज्य की स्वर्ण मुद्रा
कोई टूटती बिखरती प्रतिध्वनि
या उडते पक्षी की गिरी हुई छाया

अचानक जैसे खोज बत्ती सा घूमता है वह चेहरा
धूल व धूप का खम्भ दूर जा बिखरता
खूब लम्बी परछाइयाँ गाढी गहरी साँसे भरी

जर्जर पखुडी को सूँघ पहचानता हूँ

पुवाल रौदे पाँवो पर पानी पडने की चुनचुनाहट

चुम्बन के बीच सहसा

पसीने के नमक का स्वाद।[41]

प्रकारातर से वह उस यथार्थवादी भाषा का विस्तार है जिसमे भारत भूषण अग्रवाल की पक्ति आती है 'तू सुनता रहा मधुर नूपुर ध्वनि/ यद्यपि बजती थी चप्पल।' लेकिन वह यथार्थ का सरलीकरण करती लगती है। अरुण कमल की यह कविता यथार्थ के भीतर यथार्थ का उद्घाटन करती है, बगैर किसी गर्वोक्ति के। इस आकठ डूबे उपभोक्तावादी समाज मे, जहॉ चुम्बन के प्रति इतना आकर्षण है, उसमे पसीने के स्वाद की बात को उठाना ही एक बडे नैतिक साहस की बात है और इसी कारण वे नागार्जुन, त्रिलोचन की साहसवादी परम्परा मे बेहद महत्वपूर्ण है। **यह वैसे ही है जैसे किसी पॉच सितारा होटल के डाइनिंग रूम की मेज पर बैठे हुए कोई व्यक्ति परोसने वाले के चेहरे को देख रहा हो। यह सामान्य क्रिया व्यापारों के बीच सामान्य बात को सामान्य भाव से पकड़ने की कोशिश है और यही कवि को असामान्य बनाती है।** भाषा की यही आतरिकता 'सुख' कविता मे मिलती है, जिसमे 'शयनकक्ष' के नीचे जामुन का वृक्ष, पुराना कुआँ, ककाल आदि की बात मिलती है। ध्यान देने की बात है कि यहाँ 'वस्तु' (शयनकक्ष) 'सदर्भ' के रूप मे आती है और वह लगातार लोक सदर्भों को उकेरती चलती है। इन सभी मे हमेशा पहले एक चुप्पी मिलती है, जो बाद मे बोलती नजर आती है। यही स्थिति अपेक्षाकृत नये कवि **निलय उपाध्याय में** मिलती है। वहाँ भात पकने की पूरी प्रक्रिया को एक सवेदना के धरातल पर पकडने की कोशिश मिलती है और रात को नींद के बोरियो से तुलना कर रात के भारीपन को दर्शाया गया है।

यह कहना यहाँ पर अप्रासगिक न होगा कि इन सबके प्रेरणा स्रोत **केदारनाथ सिह** ही है जिनमे भाषाई आतरिकता के लक्षण गहरे विद्यमान है। उनकी मूल सवेदना ही यही है- 'पकते हुए दाने के भीतर/ शब्द के होने की पूरी सभावना थी।' यह शब्दो की तलाश केदार जी मे बेहद महत्वपूर्ण है। इस शब्द-शोधन के माध्यम से केदार जी शब्द के नया सदर्भ खोलते है। इसी कविता मे वे लिखते है-

मुझे लगा मुझे एक दाने के अदर

घुस जाना चाहिए

पिसने से पहले मुझे पहुँच जाना चाहिए

आटे के शुरु मे

चक्की की आवाज के पत्थर के नीचे

मुझे होना चाहिए इस समय

जहाँ से

गाने की आवाज आ रही थी।[42]

इन शब्दो के माध्यम से कवि वास्तव मे 'नहाने के बाद देह मे बची उष्मा की तरह' (जो एक स्त्री को जानता है) जीवन को बचाना चाहता है और उसके लिए भाषा मे काफी तोड फोड करता है। इस रूप मे वह दुर्लभ जीवन की लताश का कवि है। कुछ चमकदार उदाहरण निम्नवत है-

क- तुमने जहाँ लिखा है 'प्यार'/ वहाँ लिख दो 'सडक'/ फर्क नही पडता/ मेरे युग का मुहाविरा है/ फर्क नही पडता/ / और जो भाषा मै बोलना चाहता हूँ/ मेरी जिह्वा पर नही/ बल्कि दाँतो की बीच की जगहो मे/ सटी हुई है।[43]

ख- कविता यही करती है/ यही सीधा मगर जोखिम भरा काम/ कि सारे शब्दो

के बाद भी/ आदमी के पास हमेशा बचा रहे/ एक सादा पन्ना।[44]

भाषा की यह आतरिकता कवि मे आगे विकास पाती गयी है और 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ' मे तो नमक, पुनर्जन्म की आवाज, सतरा, कुएँ आदि इस दृष्टि से काफी सुन्दर बन पडी है। इसमे 'नमक' कविता तो अपनी पूरी सरचना मे बेजोड है। अपेक्षाकृत लम्बी होने के बावजूद आप इसे कही से तोड नही सकते।

समग्रता का यही सौन्दर्य **ज्ञानेन्द्रपति** कविताओ मे मिलता है, जिसमे वे प्रत्यक्ष के भीतर प्रवेश करते हुए अदेखे को दिखाते है। 'खजुराहो' (साक्षात्कार जून 98) कविता इसी आशय की महत्तम उपलब्धि है। उनकी भाषा यहाँ 'टाँकी के टकन' की भाषा हो जाती है, जहाँ इन शिल्पी हाथो की मार्मिक पकड है, जो 'उत्कीर्णित वक्ष की सुधर गोलाइयो' मे खो गये है। यूँ एक ही समय मे लिखी अरुण कमल की कविता 'चेहरा' व ज्ञानेन्द्र की 'खजुराहो' मे कैसी समानता है? अरुण 'चुम्बन के बीच पसीने का स्वाद' चखते है, तो ज्ञानेन्द्र 'उत्कीर्णित वक्ष के भीतर उँगलियो के निशान' पाते है। अपनी परिणति मे दोनो ही 'श्रम' के 'क्रम' को रेखाकित करते है। यह सत्य नही है। तथ्य है। सकलन 'शब्द लिखने के लिए ही यह कागज बना है' की कविता 'बनता पुल' भी ऐसी ही कविता है। यूँ यह एक प्रकार का 'आतरिक यथार्थवाद' ही है।

शब्द प्रसरण :

हमने पहले कहा है कि साठोत्तरी की लोकधर्मी कविताओ मे 'शब्द प्रसरण' मिलता है। इसका आशय 'फैलाव' से ही है। अर्थात् अब के कवि मे व्यापकता के साथ गहराई भी मिलती है। प्रगतिशील कवियो की तरह केवल व्यापकता ही नही रहती। यह ध्यान देने की बात है कि प्रगतिवादी कवि शब्द को रखकर विकसित करते थे।

साठोत्तरी के ये कवि शब्द-प्रसरण करते है, जो भीतर व बाहर दोनो की यात्रा करता है। वास्तव मे यह लोक-सम्बन्धो की बढती पकड के कारण ही सभव हो सका है। व्यापकता के साथ गहराई आ ही तभी सकती है जब कवि वास्तविकता मे प्रवेश करता है और यह प्रवेश आगे बढता ही गया है। केदार नाथ सिह मे भाषाई आतरिकता का जो भाव-प्रसरण मिलता है, व **ज्ञानेन्द्र पति** मे शब्द-प्रसरण के रूप मे दिखाई देता है और इस रूप मे ये पहले कवि है जिन्होने शब्द को इतना तोडा है। वास्तव मे शब्द इनके यहाँ 'सस्कार व सदर्भ' दोनो रूपो मे आते है। ऐसी कविताएँ हमे रोकती है। वे कहती है कि दरारो के बीच छिपे जीवन को थोडा ठहरकर देखने समझने की जरूरत है। इसमे व्यतीत व अनागत का क्रम बना रहता है। इसी कारण इनमे तद्भवता के साथ तत्समता के भी रूप मिलते है जिस कारण से इन पर तत्समता का आरोप भी लगाया जाता है। लेकिन ध्यान से देखने पर पता चलता है कि 'शब्द प्रसरण' का यह नायाब नमूना है, जिसमे लोक व शहर के बीच स्थिति उस 'तथ्य' की तलाश है, जो अभी तक अचीन्हा रह गया है। ज्ञानेन्द्रजी का यही शब्द-प्रसरण, वाक्य खण्डो के महत्व को दर्शाता है जिससे यह भी पता चलता है कि कविता मे अब 'वाक्य' की सत्ता का महत्व बढ रहा है। *जो लोग बहुत गति मे होते है, वही ऐसी कविताओ पर दुरूहता का आरोप लगाते है, क्योकि वे अपनी गति के कारण समस्या का सीधा समाधान चाहते है। ज्ञानेन्द्र जी समस्या के समाधान के कवि नही है। वे समस्या का सधान करते है और समाधान आप पर छोडते है।* उनकी यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढती गयी है। सग्रह के बाहर की प्राय सभी कविताओ मे इसे देखा जा सकता है। 'खजुराहो'[45] कविता के आरम्भ मे ही कुछ पक्तियाँ आती है-

खजुराहो के अनन्य प्रतिमा अरण्य मे भटकते

हम विस्मय-विमुग्ध निहारते

देहाकार

अब इसमे आपको एक एक शब्द जैसे प्रतिमा, अरण्य, विमुग्ध, निहारते, रोकते है। 'खजुराहो' के चित्र मे न केवल 'सस्कृति' का अकन है, बल्कि इन अकन करने वालो का भी सदर्भ है "घठायी उँगलियो वाले होकर भी कोमलतम छुवन वाले "। अब जो इसे न समझे और तत्समता का आरोप लगा दे, उसे क्या कहा जाय? वास्तव मे ज्ञानेन्द्र मे उतनी ही तत्समता है जितनी शिष्ट की विषगतियो को उजागर करने के लिए जरूरी होती है। वे 'घठाई इन्ही उँगलियो' से उसे दबाते है। कोचते है। यह ज्ञानेन्द्र का अपना मुहावरा है, जो भाषा के मोर्चे पर लडने से मिला है। इसी कारण ये देर तक ठहरने वाले कवि है। इसमे कोई सदेह नही। इनकी भाषा ही 'गहमागहमी की जगह सहमासहमी'[46] के जीवन को पकडती है, जो हमारे समय का सबसे बडा सच है। आज हर आदमी एक दूसरे से डरा है। अत बाहर से गहमागहमी है, लेकिन भीतर सहमा सहमी है। उनके इसी दृष्टिकोण का प्रतिफलन है कि सक्राति के सूर्य को वे इसी कविता मे 'एक मलिन सामाजिक उपयोगिता' कहते है। यह एक बडे नैतिक साहस की बात है। शब्द प्रसरण के इन लक्षणो को 'वागर्थ' दिसम्बर 96 मे प्रकाशित कविताएँ 'एक मलिन पोटली नही, एक मुट्ठी जिदगी', 'यह खजुही कुतिया', तक मे देखा जा सकता है। वास्तव मे जो कवि वस्तु को जितनी ही निजता से देखता है, वह शब्द को उतना ही तोडकर बोलता है। इसीलिए उनमे जहाँ उपेक्षित वस्तु के प्रति जिज्ञासा है, वही उपेक्षित शब्दो के प्रति गहरी ललक भी है। इसीलिए वे शब्दो को फैलाते है। थोडा खीचकर बोलते है। इस खीचने मे वे दिक-काल से परे जाते है। इसीलिए वे एक कविता मे लिखते है-

ओह! वे आखे कि जिन आखो को दीखता है

गगा-पार, पेडो की पीठ-पीछे खडी धुआँ उगलती वह चिमनी

साम्राजी पूँजीवाद के दैत्य मुँह मे दबा चुरुट है

अप-टू-डेट जो उतरा है, बदले भेष, माया वस्त्र पहने

इदिरा गाधी अतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे पर बिछी लाल कालीन

पर ठाठ से चलता

बिछी लाल कालीन- जो हरे खेत है भारत भू के

फेफडे है भारतीय जनो के।[47]

'शब्द प्रसरण' अरुण कमल की इधर की कविताओ मे भी मिलता है। 'नये इलाके में' मे सकलित 'चेहरा', 'दाना' कविता मे तो गजब की खीचतान है- जहाँ 'शव की गध व अतिम साँस से भरा खाली वायुमण्डल है और फिर भी कोई बाहर गाली बक रहा है। यह 'गध' ही 'अभिसार' कविता मे आती है जहाँ 'प्याज की तेज गध' किसी औरत की गध लगती है'। यह 'गध' अचानक उठकर समाप्त नही होती। यह फैलती है। प्याज से आरम्भ होकर हीग, जीरे, कपूर से होती औरत तक की यात्रा करती है।

लोक शब्दों का प्रचुर प्रयोग-

साठोत्तरी हिन्दी कविता मे शब्द की सत्ता को बेहद महत्वपूर्ण ढग से देखा गया है। इसमे शब्दो को नये अनुभवखण्ड को उद्भाषित करने की दृष्टि से देखने की चेष्टा मिलती है। यहाँ लोक जीवन मे रचे बसे शब्द केवल शब्द मात्र नही, बल्कि उनमे जीवन की गहरी समझ है। जीवनेच्छा है और अछूते प्रसगो को प्रत्यक्ष करने की इच्छा है। शब्द यहाँ अपनी पूरी ऐतिहासिकता व विरासत के साथ विद्यमान है। यूँ तो इसका प्रयोग 'अज्ञेय' जैसे प्रयोगवादी कवि मे भी मिल जाता है और खूब मिलता

है, कितु वहॉ पर यह सायास चेष्टा का परिणाम लगता है। साठोत्तरी कविता मे यह सस्कारो की उपज के रूप मे दिखायी पडता है और जैसे जैसे कविता की यात्रा आगे बढती रही है, वैसे वैसे इन शब्दो के प्रति रुझान भी बढता गया है। केदार नाथ सिह, विजेन्द्र, अरुण कमल, ज्ञानेन्द्र पति से लेकर निलय, एकात व बोधिसत्व की तमाम कविताओ मे देखा जा सकता है। इनमे हर शब्द अपने आप मे एक सस्कार है, जिसके पीछे पूरी सास्कृतिक परम्परा दिखायी देती है। **अरुण कमल** मे तो ये शब्द कही कही अकेले होकर भी पूर्ण दिखायी देते है। इनमे न तो खण्डित भाव है और न ही ये किसी भाव खण्ड के सूचक है। ये अपनी सम्पूर्ण निजता मे विद्यमान है। थकुच (धनतेरस), (सबूत सग्रह मे), उघारना, उकसना, झटास, उकटेरना (भूसी की आग), छपछपाकर (स्नान-पर्व), (सभी 'अपनी केवल धार' सग्रह से) गिजबिज, भहरेगा, हॅकरी (रात), पोरसन, हरगिज, झोलग खाट, घर का बुहारन, उकटेर (शोक), खोखला, चुक्कू मुक्कू (गृह प्रवेश), उलार (जितनी ही है दीप्ति), चॉंडती, अतिम ठोप, ढेले सा भरक रहा है शरीर, अजपाद होते (सभी 'नये इलाके' मे सग्रह से) आदि अनत शब्द है जो लोक जीवन की छूटी हुई विरासत को सभालने, सवारने का कार्य कर रहे है। यह भी ध्यान देने की बात है कि 'अपनी केवल धार' से 'नये इलाके मे' सग्रह तक आते आते इस प्रवृत्ति मे इजाफा ही हुआ है। यह लोक जीवन पर चढ रही सभ्यता की गदीपरतो को उघाडने का उपक्रम ही है। इसे कुछ कविताओ के माध्यम से देखा जा सकता है। 'धनतेरस', ऐसी ही कविता है जिसमे कवि कहता है-

देखो वे कितनी बेरहमी से **थकुच** रहे है

हमारे पुराने बर्तन

और सजा रहे है एक पर एक

अपने नये बर्तन।[48]

यहॉ पर 'थकुच' शब्द का प्रयोग न केवल वर्तमान सभ्यता की विषगतियो को उजागर करता है, बल्कि बदलते स्वरूप को भी पकडने की कोशिश करता है। इसका कोई विकल्प हो ही नही सकता। वास्तव मे इन शब्दो की जकड इस कारण भी महत्वपूर्ण है कि नयेपन के चक्कर मे पुराना लगातार क्षीण होता जा रहा है। कुछ अन्य उदाहरण दृष्टव्य है।

1 'नदी के अग से/ मिट्टी उठाता है मुठ्ठी मे/ और मल मलकर नहाता है। छप छपाकर/ पानी मे डूब डूब कर।[49]

2 'तभी किसी बच्चे ने/ लोहे की सीक से आग उकटेरी।[50]

3 'अभी गाय हँकरी है/ फडफड करता तोता लोहे के पिजरे मे।[51]

4 'बार बार जो बदलती रही रस्ता/ बार बार जो पोंछती रही अपने ही छाप/ जो एक पल कभी बैठी नही थिर/ पा न कभी वो रास्ता अब तक/ जिसे ढूँढती फिरी सारी धरती उकटेर।[52]

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते है। यहाँ पर 'उकटेर' शब्द की सार्थकता देखी जा सकती है। दो भिन्न सदर्भो मे यह शब्द प्रयुक्त होकर कितना सुन्दर बन पडा है। फिर भी उसका अर्थ उलटने पलटने से ही निकलता है।

ज्ञानेन्द्र पति मे ऐसे शब्द प्रयोगो का बाहुल्य है। उनके यहाँ तो शब्द,सस्कृत भाषा जैसे प्रयुक्त होते से लगते है, जिस आधार पर कही कही उन्हे इस आरोप को भी झेलना पडता है लेकिन वे होते धुर ठेठ के है और उनका प्रयोग वे एक सटीक सदर्भ मे करते है। इधर की कविताओ मे इन प्रयोगो की अधिकता दिखायी देती है। वास्तव मे उनके शब्द, प्रसरण के कारण लहराते हुए से जान पडते है। घरउआ, तलहथी, अनझिप, भभ्भड़, पनतिरी, ललछौह, अभूल उधियाते, हथलपक, अनथक,

नेत्रथक, ममतालु, जोहती, खुटियायी, उजमैले आदि प्रकार के शब्द प्रयोग मिलते है। 'सग्रह' मे तो ऐसे शब्द है ही, उसके बाहर प्रकाशित कविताओ के शब्द बेहद महत्वपूर्ण है। बकान का पौधा, दरद, नवतुरिया गाछ, जबर जिद्दी है बकान (सभी वृक्ष विदाई कविता से), उज्जर, समवेत अँजोर, ममतालु आँख, धुरखेल (सभी 'सक्राति बेला' कविता से) जबरजिद्दी, झुरकुट, (एक कर्णप्रिय कीर्तिकथा), खजुही कुतिया, उलीचती, करिखाई इत्यादि शब्दो मे लोक जीवन को बचाने की एक जिद दिखाई पडती है। तब कोई आश्चर्य नही कि शब्द 'जबरजिद्दी' इनकी कविताओ के केन्द्र मे है।

1 जहाँ तक जिया/ यहाँ तक पहुँचा/ बहुत है/ जबहजिद्दी है बकान/ बाजी बीज ही जीता।

2 यह खोटकढनी क्या बताएँ कहाँ तक जाती है/ और यह पपडी पकडनी बहुत नाजुक है, नाजुक/ जबरजिद्दी मैल को भी मलाई सा उतार लाती है।

इस प्रकार जबरजिद्दी जैसे धुर ठेठ मे कवि ने एक आत्म विश्वास व आत्म सयम के भाव का सचार कराया है।

इन दोनो कवियो के वरिष्ठ कवि केदार नाथ सिह और कनिष्ठ कवि बोधिसत्व, एकात व निलय मे इन शब्दो का सार्थक प्रयोग मिलता है। यूँ केदार जी मे सुगबुगाना, किरकिराना, उमगना, पचखियाँ आदि अपेक्षाकृत लोक शिष्ट प्रयोग ही मिलते है, जो बाद के कवियो मे ठेठपन को पूरे आत्म विश्वास से उजागर करते है। **बोधिसत्व** के सग्रह मे भरम, मुलझुल, बिरइयाँ, झुराना, लथेरना (बादल कविता), अकन, अहरा, निचाट घाम (बोलो साई), असूझ (बाबू के लिए), बेराना, पलरी, लेउ, उढार, माँख न मानना, गहदुरिया, उम्मर, नेइ, थहाना, अनकुस, दवगरा (तुम्हारा रूप), ओद, गढही, अन्नोर, थेथर, ओनइ, (यहाँ हूँ), समथर, 'दहजना' (कथा- जनवरी - 1999 मे प्रकाशित कविता 'मेरे बारे में') जैसे बेहद महत्वपूर्ण शब्द है, जिनकी सार्थकता लोक सवेदना को बचाने

मे ही है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य है-

1 बहुत अनकुस लग रहा है/ इसका धडम धडम धड - धडाम/ लगता है/ ये चले जायेगे बस दँवगरा देकर।

2 लगा रहा हूँ अपने खेत मे/ गमकउआ धान/ पूरे ताल पर ओनइ आया है मेघ/ गिर रहा है महीन कना/ महकती हुई फुहार। (यहाँ हूँ)

ऐसे ही शब्द **निलय उपाध्याय** मे भी मिलते है। 'हँकरना' शब्द का प्रयोग अरुण कमल के शब्द 'अभी गाय हँफरी है (नये इलाके मे) की याद दिलाता है हालाँकि अरुण कमल का यह शब्द प्रयोग निलय के बाद का है। निलय लिखते है-

उनके रोने मे

कोई बछडा हँकर रहा था

कोई गाय मचल रही थी (उनका रोना)

तब स्पष्ट ही है कि यह कवि लोक शब्दो के लिए हँकरते है। 'लेवाड', शब्द भी निलय मे नये ढग से आया है। 'पूँछ पटक/ लेवाड ले रही है भैसे।' इसी प्रकार चिहुँकना, (सेहुँड का काटा), भात, डमक-डमक, फफकना इत्यादि शब्द भी मिलते है। 'चिहॅुकना' शब्द तो कई बार आया है। लगता है कवि रह रहकर चिहुँकता है और लोक शब्दो की तलाश मे निकल जाता है।

1 बेबा औरतो की आँखे बरस रही है/ नीद मे चिहुँक रहे है बच्चे।

2 बस्ती मे/ फिर कोई बच्चा चिहुँका होगा। (सेहुँड का काँटा)

ऐसा लगता है कि कवि रह रहकर चौक रहा है। उसे कुछ भय सता रहा है और इसी चिहुँकने से सामान्य होने में जो समय बीतता है, उसी में कविता का जन्म होता है।

लोक चरित्रों का प्रयोग-

साठोत्तरी कविता मे जन जीवन की केन्द्रीयता के कारण लोक चरित्रो का जमकर प्रयोग हुआ है। यहाँ पर चूँकि भाषा विम्बधर्मिता से मुक्त होकर सपाटबयानी से युक्त होकर 'कथ्य' पर बल देती है। अत लोक चरित्रो के विकास के लिए काफी अवसर दिखायी देता है। यह जन जीवन से लिए गये अनाम व्यक्तियो को नाम देने का एक महत्वपूर्ण प्रयास भी है। यूँ यह समूची साठोत्तरी हिन्दी कविता की ही विशेषता है न कि केवल लोकधर्मी कवियो की। इसी कारण हम यह कह सकते है कि जो कवि लोकधर्मी कविताएँ नही भी लिखे है, उनमे भी चारित्रिक लोकधर्मिता तो मिलती ही है। जैसे रघुवीर सहाय मे 'रामलाल', धूमिल मे 'मोचीराम', सौमित्र मोहन मे 'लुकमान अली', लीलाधर जूडी मे 'बलदेव खटिक' महत्वपूर्ण चरित्र है।

लोकधर्मी कविताओ मे केदार नाथ सिह से लेकर नये कवि तक मै इस चरित्र को देखा जा सकता है। केदार जी मे नूर मियॉ, जगरनाथ दुसाध, बसी मल्लाह है, तो विजेन्द्र मे नूर मियॉ, लादू और बैनी बाबू है। राजेश जोशी मे सलीम, मुनीर मियाँ, रमजान मियाँ है तो ज्ञानेन्द्र मे बघवा, बनानी बनर्जी, राम खेलावन है। बोधिसत्व मे सुख्खू मुसहर है, तो निलय मे कईली है।

वास्तव मे ये सारे चरित्र उपेक्षित को अपेक्षित स्तर प्रदान करने के लिए लिये गये है। कही कही ये मात्र परम्परा निर्वाह के लिए डाले गये है, लेकिन ऐसी कविताएँ बहुत प्रभावित नही कर पाती । इधर के चरित्रो मे ज्ञानेन्द्र का 'खूँटकढवा' व हरीश चन्द्र पाण्डे का 'हिजडे' महत्वपूर्ण है। वास्तव मे यह उसे देखना है, जो रोजमर्रा के जीवन मे है, लेकिन जिसे लोग नही देख पा रहे है। इनके माध्यम से कवि एक खास परिवेश को उपस्थित करना चाहता है और साथ ही साथ चरित्रो के भीतर के आत्म-विश्वास को भी नजर अदाज नही करता। यह चरित्रो का लौकिकीकरण ही है।

संदर्भ सूची

1 डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी - 'मध्यकालीन हिन्दी काव्य भाषा' - लोकभारती 1991।

2 वही।

3 वही।

4 वही।

5 डा0 नामवर सिह - इतिहास और आलोचना

6 वही।

7 वही।

8 डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी -उपरिवत।

9 वही।

10 वही।

11 वही।

12 वही।

13 अज्ञेय - 'स्मृति लेख'।

14 डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी - उपरिवत।

15 वही।

16 डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी - भाषा, सवेदना व सर्जन - पृ0 140, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

17 वही।

18 वही।

19 वही।

20 डा0 नामवर सिह, 'कविता के नये प्रतिमान' - पृ0 15।

21 निर्मल वर्मा - कला का जोखिम।

22 डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी - भाषा, सवेदना व सर्जन - पृ0 22।

23 वही।

24 वही।

25 वही।

26 रघुवीर सहाय - 'सीढियो पर धूप मे' की भूमिका।

27 'तार सप्तक' के द्वितीय सस्करण का वक्तव्य।

28 डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी - भाषा, सवेदना व सर्जन।

29 डा0 नामवर सिह - 'कविता के नये प्रतिमान'।

30 वही।

31 वही।

32 वही।

33 वही।

34 डा0 नामवर सिह - 'नयी कविता पर क्षण भर' लेख ज्ञानोदय - 63 मे प्रकाशित।

35 वही।

36. वही।

37 अशोक बाजपेयी - धर्मयुग - 23 जून 1968, 'कविता के नये प्रतिमान' मे उधृत।

38. डा0 नामवर सिंह - 'कविता के नये प्रतिमान'

39. वही।

40. वही।

41. अरुण कमल - 'चेहरा' कविता - 'नये इलाके में' से।

42. केदार नाथ सिंह - 'आवाज' - 'जमीन पक रही है' में संकलित।

43. 'जमीन पक रही है' की कविता - 'फर्क नहीं पड़ता'।

44. 'जमीन पक रही है' की कविता - सादा पन्ना।

45. साक्षात्कार - जून 98।

46. ज्ञानेन्द्र पति - 'संक्रांति बेला में' - साक्षात्कार - सितम्बर 97।

47. ज्ञानेन्द्र पति - 'धुएँ के पेड़ की तरह उगी है' - जन सत्ता 'सबरंग' - 1996।

48. अरुण कमल - 'सबूत' संग्रह से।

49. अरुण कमल - 'स्नानपर्व' - अपनी केवल धार से।

50. अरुण कमल - 'भूसी की आग' - 'अपनी केवल धार' से।

51. अरुण कमल - रात - 'नये इलाके में' संग्रह से।

52. अरुण कमल - शोक - 'नये इलाके में' संग्रह से।

अध्याय - 6

उपसंहार

कला और साहित्य मे जब जब व्यक्तियो द्वारा सरक्षण प्राप्त होता है, तब तब एक ओर जहाँ उसमे बाहरी स्तर पर अतिशय कलात्मकता का विकास होता है, वहीं आतरिक स्तर पर उसमे सकोच होता जाता है। इस प्रकार यह सरक्षण जहॉ कला/साहित्य के लिए अहितकर होता है, वही पर एक optical illusion को भी बढावा देता है। यहॉ यह जानना रोचक है कि व्यक्ति के विकास के लिए कल्याणकारी राज्यो मे (Welfare state system) जहॉ यह उत्साहकारी है, वही साहित्य के लिए यह घातक होता है। कभी-कभी इस दिशा मे राज्यो/सस्थाओ का प्रच्छन्न प्रवेश इस बात की पुष्टि भी करता है, जहॉ राज्य/सस्थाएँ साहित्य हित मे ऐसा करने का बहाना ढूढती है और मौका पाकर 'हस्तक्षेप' करती है। यह अत्यत ही घातक प्रवृत्ति है और इसके अतर्विरोध आरम्भ काल से ही मिलते है। रीतिकाल मे यह सरक्षण राजा/महाराजाओ द्वारा प्रदत्त था, जो आधुनिक काल मे सस्थाओ द्वारा प्रदत्त है। जैसे रीतिकाल का अधिकाश साहित्य मनुष्यता की उदात्त भूमि से कटता हुआ व्यक्ति की एकनिष्ठ भावभूमि पर सकुचित होता गया, वैसे ही आधुनिक काल का अधिकाश साहित्य भी मनुष्यता की उच्च भूमि से हटकर केवल परिवारो/पुरस्कारो के चक्कर मे एक निश्चित कथा/शिल्प मे अटकता हुआ नजर आ रहा है। उसका स्वच्छन्द प्रवाह, 'अहो रुप अहो जय' की आलोचकीय सस्थाओ व सस्थागत आलोचनाओ के चक्कर मे पडकर अवरुद्ध होता सा दिखायी दे रहा है। यह प्रवृत्ति अगली सहस्त्राब्दी मे बढे न, इस पर विचार करने की जरूरत है।

अब चूँकि कोई भी साहित्य जन जीवन की अनुभूतियो से प्रकट होता है। अत उसकी अनुभूति को पकडना उसका चरम लक्ष्य होता है और यह कहना उचित ही है कि जन जीवन की अनुभूतियो के लिए लोक मन का अध्ययन करना बेहद महत्वपूर्ण है। इससे ही जीवन के वैविध्य का पता चलता है। इस अध्ययन मे हमने इसी जीवनगत वैविध्य का सहारा लिया है और एक लम्बी यात्रा की है।

तब यह कहना ठीक ही है कि लोक जीवन के मर्म को पकडने वाले कवियो से ही उस मनुष्यता की रक्षा हो सकेगी, जिसकी आज सबसे अधिक जरूरत है। ये लोक सौन्दर्यपरक रचनाएँ ही वास्तविकता मे जीवन के उस मर्म का उद्घाटन कर सकेगी, जिनमे न केवल सघर्ष की भावना है, वरन् जिसका होना भी उतना ही जरूरी है। यही वह धारा भी है, जिसने साहित्य व समाज को रूढियो से बचाया है। हम जिस किसी भी परम्परा की बात करे। जिस किसी धारा की बात करे वह इन्ही से होकर गुजरती है। इसका कारण शायद यही है कि इनमे ही सबसे अधिक परिवर्तन होता है और इनसे ही परिवर्तन की प्रवृत्तियो का उदय होता है। ऐसा शायद इनकी अपनी जडो से ससक्ति का ही परिणाम रहा है। यह ससक्ति ही हमारे विश्लेषण का उद्देश्य रही है, जहाँ हम हर वस्तु को उसकी समग्रता व ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे देखते है।

इस रूप मे साठोत्तरी हिन्दी कविता का विश्लेषण बेहद रोचक बन पडा है, जहाँ लोक सौन्दर्य की दृष्टि से इनकी परम्परा मे जाना एक नये अनुभव के दौर से गुजरना रहा है। अपभ्रश के धनपाल कृत 'भविसयत्त कहा' से आरम्भ होकर कबीर से होते हुए जब हम आधुनिक काल मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र व निराला तक आते है, तो एक अजीब सी समानता इन सभी मे दिखायी देती है, जिसमे सघर्ष है, परिवर्तन की कामना के साथ परम्परा प्रियता भी है और रूढियो का अतिक्रमण है। यही प्रवृत्ति साठोत्तरी

हिन्दी कविता मे आगे बढती है, जो लोक सौन्दर्य के उभरते जाने का कारण बनती है।

इसी आधार पर हमने आधुनिक काल को विश्लेषित करते लिखा है कि आधुनिक काल की कविता बहुत कुछ के टूटने की कविता है। जब भाषा टूटी, छद टूटा तो भाव भी टूटे। भाव के इन्ही टूटन के साथ नये भाव भी फूटे और कविता व्यापक जन जीवन से जुडी। इस रूप मे टूटना, वास्तव मे एक वृहत्तर सदर्भ से जुडना ही है। भारतेन्दु से आरम्भ होकर यह प्रक्रिया आगे बढती है और साठोत्तरी हिन्दी कविता मे अपना विकास पाती है।

इसी कारण साठोत्तरी हिन्दी कविता तक आते आते सौन्दर्य की प्रचलित अवधारणा टूटी और वह आध्यात्मिक धरातल से लोक जीवन तक उतरा। यह ही सौन्दर्य का लौकिकीकरण है जो लोक सौन्दर्य का कारण बना। यही वजह रही कि इस समय मे सौन्दर्य का वृत्त बडा हुआ और वह 'खुरदुरेपन' का सौन्दर्य बन गया। जैसे जैसे यह खुरदुरापन बढता गया है, वैसे वैसे साठोत्तरी कवियो ने इसकी अभिव्यक्ति दी है। यही कारण है कि अब दुनिया की हर वस्तु काव्य सभावना से युक्त लगती है जो कुछ और नही, कर्म सौन्दर्य ही है, जिसमे हर वस्तु/प्राणी की उपादेयता स्वीकार की जाती है। स्वय प्रकृति सौन्दर्य भी इसी अनगढता का सौन्दर्य बन पडा है।

इस रूप मे इस धारा के कवियो ने न केवल प्राकृतिक सौन्दर्य को बचाया है, बल्कि उस सौन्दर्य का उद्घाटन भी किया है जो खुरदुरी परतो मे छिपा हुआ है। कहना न होगा कि सभ्यता के विकास के साथ साथ जैसे जैसे बाहरी परतो की चिकनाई बढती गयी है, वैसे वैसे इन कवियो के अनुभव जगत का खुरदुरापन भी बढता गया है। साठोत्तरी हिन्दी कविता का सौन्दर्यबोध इसी खुरदुरेपन का सौन्दर्यबोध है। उसके जीवन का सौन्दर्य इसी अनगढता का सौन्दर्य है। जैसे यह अनगढता अनादि और

अबाध है, वैसे ये कविताएँ भी। यही "अबाध गति मुक्त छद" (निराला) की प्राणवत्ता है। यही लोक मन के कवियो के निरतर मुक्त (और इसीलिए कविता मे युक्त) होते जाने का रहस्य है, जो उन्हे महत्व प्रदान करता है।

संदर्भ सूची

इस शोध प्रबन्ध मे मुख्य रूप से जिन पुस्तको की सहायता ली गई है, उनके नाम इस प्रकार है-

(क) पुस्तक नाम -

1 डा0 मैनेजर पाण्डे - 'शब्द और कर्म' - 1981 - धरती प्रकाशन, गगा शहर, बीकानेर।

2 डा0 मैनेजर पाण्डे - 'साहित्य और इतिहास दृष्टि' - पीपुल्स लिटरेसी प्रकाशन।

3 डा0 मैनेजर पाण्डे - 'साहित्य के समाज शास्त्र की भूमिका' - हरियाणा साहित्य एकेडमी, चण्डीगड - 1989।

4 सकल्प का सौन्दर्य शास्त्र - डा0 अजित कुमार और मन्नू भडारी - राधाकृष्ण प्रकाशन - 1997।

5 लोक दृष्टि और हिन्दी साहित्य - चन्द्रबली सिह - 1956 - सत्साहित्य प्रकाशन, लक्ष्मीकुड, वाराणसी।

6 भारत भूषण अग्रवाल - कवि की दृष्टि - द मैकमिलन कम्पनी आफ इडिया लिमिटेड, नयी दिल्ली।

7 डा0 नित्यानद तिवारी - आधुनिक साहित्य और इतिहास बोध - वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

8 डा0 देवी शकर अवस्थी - रचना और आलोचना - 1979 - The macmillan company - New Delhi

9 डा0 राम दरश मिश्र - हिन्दी कविता - आधुनिक आयाम - वाणी प्रकाशन, नयी

दिल्ली।

10 प्रभाकर श्रोत्रिय - रचना एक यातना है - नेशनल पब्लिसिग हाउस, नयी दिल्ली, 1985।

11 डा0 मीरा श्रीवास्तव - कृष्ण काव्य मे सौन्दर्य बोध और रसानुभूति हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग - 1976।

12 डा0 राम विलास शर्मा - प्रगतिशील काव्य धारा और केदार नाथ अग्रवाल - परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद - 1986।

13 डा0 राम विलास शर्मा - निराला की साहित्य साधना - भाग 1, 2 और 3।

14 डा0 शर्मा - महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण।

15 डा0 शर्मा - भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ।

16 डा0 शर्मा - नई कविता और अस्तित्ववाद।

17 डा0 शर्मा - परम्परा का मूल्याकन।

18 डा0 शर्मा - लोक जागरण और हिन्दी साहित्य।

19 डा0 शर्मा - भारतीय साहित्य की भूमिका - राजकमल प्रकाशन, 1996।

20 डा0 नामवर सिह - कविता के नये प्रतिमान - राजकमल प्रकाशन - 1968।

21 डा0 नामवर सिह - छायावाद।

22 डा0 नामवर सिह - आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ।

23 डा0 नामवर सिह - दूसरी परम्परा की खोज।

24 डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी - साहित्य और सवेदना का विकास।

25 डा0 राम स्वरूप चतुर्वेदी - मध्यकालीन हिन्दी काव्य भाषा - लोकभारती प्रकाशन,

इलाहाबाद।

26 डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी - आधुनिक कविता यात्रा - लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद - 1998।

27 डा0 परमानद श्रीवास्तव - शब्द और मनुष्य - राजकमल प्रकाशन - 1988।

28 डा0 परमानद श्रीवास्तव, समकालीन कविता का यथार्थ - हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ।

29 डा0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, स- आठवे दशक की हिन्दी कविता - प्रकाशन सस्थान, नवीन शाहदरा, दिल्ली - 1982।

30 डा0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - साठोत्तर हिन्दी कविता का परिप्रेक्ष्य - स -

31 विजय कुमार - कविता की सगत - आधार प्रकाशन, चण्डीगढ - 1995।

32 डा0 केदार नाथ सिह - मेरे समय के शब्द, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली - 1993।

33 डा0 विजयदेव नारायण साही - वर्धमान और पतनशील - वाणी प्रकाशन - 1991।

34 डा0 साही - छठवाँ दशक - हिन्दुस्तानी एकेडमी - इलाहाबाद - 1987।

35 श्रीनारायण चतुर्वेदी - आधुनिक हिन्दी का अदिकाल, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद - 1973।

36 डा0 सत्येन्द्र - मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन - विनोद पुस्तक मदिर, आगरा - 1966।

37 डा0 परशुराम चतुर्वेदी - भारतीय साहित्य की सास्कृतिक रेखाएँ - साहित्य भवन, इलाहाबाद - 1955।

38 डा0 निर्मला जैन - आधुनिक साहित्य - मूल्य व मूल्याकन - राजकमल प्रकाशन, 1980।

39 डा0 ओम प्रकाश शर्मा - सत साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि - हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद - 1965।

40 डा0 धनजय वर्मा - लोक मगल - परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद - 1986।

41 डा0 शिव बालक राय - काव्य मे सौन्दर्य व उदात्त तत्व - वसुमती प्रकाशन, 38 जीरो रोड, इलाहाबाद - 1968।

42 डा0 प्रेम शकर - भक्ति काव्य की सामाजिक सास्कृतिक चेतना - नेशनल पब्लिशिग हाउस, नयी दिल्ली - 1979।

43 डा0 शिव कुमार मिश्र - भक्तिकाव्य और लोक जीवन- पीपुल्स लिटरेसी प्रकाशन, नयी दिल्ली - 1983।

44 डा0 गोविन्द चन्द्र पाण्डे - मूल्य मीमासा - राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी - चण्डीगढ - 1970।

45 डा0 रमेश कुन्तल मेध - अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा।

46 डा0 नगेन्द्र - भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका - नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली।

47 मलयज - सवाद और एकालाप - राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली - 1984।

48 डा0 जीवन सिह - कविता की लोक प्रकृति - अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद - 1990।

49 डा0 सत्य प्रकाश मिश्र - आलोचक और समीक्षाएँ - विभा प्रकाशन, इलाहाबाद - 1990।

50 डा0 परमानद श्रीवास्तव - नयी कविता का परिप्रेक्ष्य - नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद - 1968।

51 साठोत्तर हिन्दी साहित्य का परिप्रेक्ष्य - सपादक - हिन्दी विभाग, पुणे विद्यापीठ, पुणे नेशनल पब्लिशिग हाउस, नयी दिल्ली - 1987।

52 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

53 आचार्य रामचद्र शुक्ल - रस मीमासा - नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

54 डा0 कमला प्रसाद - स - लोक साहित्य और सस्कृति - साहित्य वाणी प्रकाशन, इलाहाबाद - 1994।

55 कुमार विमल - सौन्दर्य शास्त्र के तत्व - राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली - 1968।

56 डा0 परशुराम चतुर्वेदी - भारतीय साहित्य की सास्कृतिक रेखाएँ - साहित्य भवन, इलाहाबाद - 1955।

57 डा0 हरद्वारी लाल शर्मा - सौन्दर्यशास्त्र -मधु प्रकाशन, ताशकद मार्ग, इलाहाबाद - 1।

58 डा0 सत्य प्रकाश मिश्र - कवि शिक्षा की परम्परा और हिन्दी साहित्य. चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद - 1981।

59. अज्ञेय - कवि दृष्टि - लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

60. डा0 अजय तिवारी - प्रगतिशील कविता के सौन्दर्य मूल्य - 1984 - परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद।

(ख) रचनावली-

1 मुक्तिबोध रचनावली - राजकमल पेपरबैक्स।

2 डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी - रचनावली, राजकमल प्रकाशन।

3 निराला रचनावली - राजकमल प्रकाशन।

4 भारतेन्दु समग्र - स0 - हेमत शर्मा - प्रचारक ग्रथावली परियोजना, पिशाचमोचन, वाराणसी - 1।

(ग) पत्रिकायें-

1 'नयी कविता' अक - 3, 4, 5, 6 - सपादक - डा0 जगदीश गुप्त और डा0 विजयदेव नारायण साही।

2 पूर्वग्रह - शताक - 1990।

3 समास - 4, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली - 1995।

4 पहल - इतिहास अक - 1992, 'नवजागरण और इतिहास चेतना।

5 लोक सस्कृति विशेषाक -सम्मेलन पत्रिका - इलाहाबाद - 1953।

6 लोक सस्कृति अक, हिन्दुस्तानी विशेषाक - इलाहाबाद - 1984।

7 सापेक्ष 38 - लोक सस्कृति अक।

8 तार सप्तक - 1943, दूसरा सप्तक - 1951, तीसरा सप्तक - 1959।

9. वसुधा - कविता विशेषाक - 1996।

10 उद्भावना कविताक - सदी के अत मे कविता - अक 47, 48 - 1998।

(घ) अंग्रेजी पुस्तकें-

1 S Alexander - Beauty and other form of values - Mc Millan Company Ltd , London - 1933

2 O C Ganguly - Indian art and heritage - Oxford Book Co , Calcutta - 1957

3 James H Cousines - The philosophy of beauty - Theosophical publishing house, Adyar, Madras - 1925

4 R Shastri - Indian concept of beautiful

5 Sri Aurobindo - The foundation of Indian culture

6 K S Ramaswamy Shastri - Indian aesthetics - 1928

7 B Das and Mohanty - Literary criticism A reading - 1985, Oxford University press

8 E H Car - What is History